स्वतन्त्रता का सोपान

रचयिता :

स्व० पू० ब्र० सीतलप्रसाद जी जैन

वितरक :

वीर सेवा मन्दिर

२१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

प्रकाशक :
दि० जैन महिला शास्त्र-सभा
दरियागंज, नई दिल्ली-२

मूल्य : लागत चौदह रुपये पचास पैसा

वी० नि० सं० २५१०

प्राप्ति स्थान : -
१. श्रीमती अशर्फी देवी जैन
दि० जैन महिलाश्रम, दरियागंज नई दिल्ली-२
२. श्रीमती सावित्री जैन
दि० जैन चैत्यालय
७/३३ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मुद्रक :—गीता प्रिंटिंग एजेंसी न्यू सीलमपुर, दिल्ली-५३

प्रकाशकीय

जिनवाणी परमोपकार करने वाली हैं। इसके प्रचार-प्रसार से आत्म-लाभ तो होता ही है, साथ ही धर्म प्रभावना को बल भी मिलता है। आज लोगों में स्वाध्याय की रुचि नही के बराबर जैसी रह गई है और जो मूल ग्रंथ हैं वे भी कठिन—दुरूह भाषा में होने से अधिकांश लोगों की समझ से बाहर हैं। दि० जैन महिला शास्त्र-सभा, दरियागंज, नई दिल्ली की स्वाध्याय में रुचि है और उसका ध्यान जिनवाणी प्रचार की ओर रहता है। प्रस्तुत प्रकाशन उसीका परिणाम है।

स्व० पू० ब्र० श्री सीतलप्रसाद जी हमारी समाज के प्रमुख ज्ञानियों में थे। उन्होंने अपने जीवन में अध्यात्म के कई ग्रंथों का सार हिन्दी भाषा के माध्यम से लोगों तक पहुंचाया। स्वतन्त्रता का सोपान ग्रंथ भी उन्हीं ग्रंथों में से एक है। इस ग्रंथ में पाठकों की रुचि और ग्रन्थ-प्राप्ति में दुर्लभता को देखकर सभा का ध्यान इस ओर गया और ग्रन्थ-प्राप्ति सुलभ हुई।

सभा की महिलाओं ने आर्थिक सहयोग किया और प्रकाशन का सभी द्रव्य उन्हीं से मिला। प्रकाशन प्रूफ-संशोधन आदि की आद्योपान्त समस्त व्यवस्था 'वीर सेवा मंदिर' ने की। वहां के महासचिव श्री सुभाष जैन के सहयोग से ग्रंथ का जैसा सुन्दर बाह्य-रूप

बन सका, वह भी पाठकों के समक्ष है। सभा सभी की आभारी है। ग्रंथ के सदुपयोग और प्रकाशन-परम्परा चालू रखने की दृष्टि से ग्रंथ का मूल्य लागत मात्र रखा गया है। आशा है गुणग्राही इससे लाभान्वित होंगे।

दि० जैन महिला शास्त्र-सभा
दरियागंज, नई दिल्ली-२

दिनांक १ अक्तूबर १९८४

आद्य-मिताक्षर

जैन-दर्शन आत्मा की स्वतंत्र-सत्ता को स्वीकार करता है। स्वभावत: हर आत्मा अपने में पूर्ण और चैतन्यात्मक अनन्त ज्ञानादि अनन्त धर्मों से पूर्ण है। परन्तु अनादि ससारी होने के कारण कर्मों से लिप्त होने से अशुद्ध दशा को प्राप्त हो रहा है। यदि पुरुषार्थ करे और अपने स्वभाव में आ जाय तो यही आत्मा परमात्मा-दशा को प्राप्त कर अनन्तकाल मोक्ष-सुख का आस्वादन करता है। मुक्त-दशा प्राप्त करने के बाद पुन: जन्म-मरण नहीं करता।

आम लोगो की धारणा है कि हर जीव किसी एक अन्य बड़ी शक्ति के आधीन है और वह शक्ति ईश्वर है, वही सबको अपने आधीन किए हुए है और उसकी प्रेरणा से ही जीव अपने कर्मों के फलों को भोगते हैं। परन्तु जैन-दर्शन ऐसा नहीं मानता। इस दर्शन में ईश्वर या परमात्मा कोई भिन्न एक व्यक्ति विशेष नही है, अपितु शक्ति की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा ईश्वर है। जब कोई आत्मा कर्मों के बन्धनों को काटने में उद्यत होता है तब वह महात्मा होता है और जब कर्मों के बन्धन से मुक्त होता है तब परमात्मा हो जाता है। ऐसे अनन्त आत्मा हैं जो परमात्मा हो चुके हैं।

परमात्मा बनने के लिए स्व-योग्यता का सही उपयोग आवश्यक है। जब यह संसारी जीव स्व-पर भेद-विज्ञान कर अपने को पर से पृथक् अनुभव करता है और निवृत्ति-मार्ग को अपनाता है, तब इसे आत्मा के रस का आस्वाद आता है और उस आस्वाद के प्राप्त करने के निरन्तर अभ्यास में सतत उद्यमी होता है। यह जप, तप, यम-नियम, व्रत और स्वाध्याय में लीन रहता है, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह, जय और चारित्र की ओर बढ़ता है, बाईस परी-

कष्टों के सहने का अभ्यास करता है, भारी से भारी उपसर्गों से भी विचलित नहीं होता। अनशनादि बाह्य और प्रायश्चित्तादि अन्तरंग तपों को तपता है इस प्रकार के सतत प्रयत्न से इसके कर्म-बन्धन सहज ही कट जाते हैं और यह परमात्म पद को पाता है।

इस बात को भली भाँति समझ लेना चाहिए कि जैन-धर्म में यदि कहीं प्रवृत्ति मार्ग का उपदेश है तो वह भी निवृत्ति के लिए ही है। श्रावक को देवपूजा, गुरु की उपासना आदि दैनिक षट्-कर्मों के लिए जो विधान है वह सब भी निवृत्ति के लिये ही है। उक्त क्रियाओ के करने से अशुभ की निवृत्ति होती है और शुभ में प्रवृत्ति का मार्ग सरल होता है। चिरन्तन आत्माभ्यास से शुभ स्वय छूट जाता है। यही कारण है कि हमारे तीर्थंकर महापुरुषों ने पहिले महाव्रत आदि धारण किए और वे आत्मतल्लीनता द्वारा केवलज्ञान व मुक्ति को प्राप्त कर सके।

हमे उन कर्मो को भी समझ लेना चाहिए जिनसे हमे छुटकारा पाना है। कर्मों में मुख्य स्थान मोहनीय कर्म का है, जिसके कारण समस्त विडम्बना घटित हो रही है। मोहनीयकर्म दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के भेद से दो प्रकार का है। जिसके उदय मे मिथ्यात्व होता है और जो सम्यग्दर्शन को नही होने देता वह दर्शन-मोहनीय है और जिसके कारण चारित्र पालन न हो सके वह चारित्र मोहनीय है।

जीव के शुद्ध होने का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से होता है अतः सर्वप्रथम इसे प्राप्त करना चाहिये।

शास्त्रो मे कहा है कि जिस जीव को तत्त्वो अथवा देव-आगम गुरु का श्रद्धान होता है वह सर्वप्रकार से निःशंक, और वांछा-रहित होता है। वह वस्तु के स्वरूप का विचारक होने से मुनि के मलिनतन के प्रति और रोगी आदि के प्रति ग्लानि नही करता, देव, शास्त्र-गुरु के स्वरूप के ज्ञान के सम्बन्ध में मूढ़ नही होता। कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु

का उपासक नहीं होता, स्व-गुण व पर अवगुणों को ढांकता है, धर्म से डिगते हुए को धर्म में स्थिर करता है, धर्मियों से वात्सल्य रखता है और जिन-धर्म की सभी भांति प्रभावना करता है।

सम्यग्दृष्टी जीव और मिथ्यादृष्टी जीव में मुख्य अन्तर यही है कि सम्यग्दृष्टि अन्तर्मुखी और मिथ्यादृष्टी बहिर्मुखी होता है। आत्मा की ओर लक्ष्य रखना सम्यग्दर्शन और बाह्य पदार्थों की ओर लक्ष्य रखना मिथ्यादर्शन का चिह्न है तथा आत्मा की ओर लक्ष्य रहने में जीव स्वतन्त्र है और पर की ओर लक्ष्य रखने में परतन्त्र है। ज्ञानीजीव स्व में आता है और स्व में आने के लिए पर की अपेक्षा नहीं होती इसके लिए जीव स्वतन्त्र है।

प्रस्तुत कृति में स्व० ब्र० श्री सीतलप्रसाद जी ने कषाय, योग, मार्गणा, गुणस्थान, आस्रव, बन्ध आदि अनेकों प्रसंगों के माध्यमसे जीव की स्वतन्त्र-दशा को दर्शाया है। उन्होंने यह भी बताया है कि किस-किस प्रसंग में जीव की कैसी कैसी स्थिति होती है : आदि।

इस प्रकार के ग्रन्थों के पढ़ने और मनन करने से जीव सरलता से आत्मबोध की दिशा में जा सकते हैं। अतः ऐसे ग्रन्थों का प्रचार-प्रसार परमोपयोगी है। दि० जैन महिला-शास्त्र सभा दरियागंज नई दिल्ली ने इस दुर्लभ ग्रंथ का पुनः प्रकाशन कराकर जिनवाणी की प्रभावना का उद्यम किया है, यह प्रशंसनीय है। ग्रन्थ का जितना उपयोग होगा उतना ही प्रचार और आत्म-कल्याण होगा। हमारी भावना है कि जिज्ञासु इससे पूर्ण लाभ प्राप्त करेंगे।

पद्मचन्द्र शास्त्री

वीर सेवा मन्दिर
२१, दरियागंज, नई दिल्ली
दिनांक १।१०।१९८४

।। श्री वीतरागाय नमः ।।

स्व०-ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी कृत

स्वतंत्रता का सोपान

——: ० :——

१. स्वतंत्रता की पूजा

धन्य है स्वतंत्रता ! तू जिसके घर में वास करती है वह परम सुखी व निराकुल हो जाता है। तेरी महिमा अपार है। जिस उपवन में वृक्षों को फूल फलादि से हराभरा होने के लिए, उनको अपनी स्वाभाविक उन्नति करने के लिए, उनको अपने स्वतंत्र भाव का भोग करने के लिए कोई विघ्न बाधा नही है वहो स्वतन्त्रता का निवास है। जिस धर्म की उन्नति करने के लिए, धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए, धार्मिक रीति के अनुसार धर्म का लाभ उठाने के लिए, धर्म में दीक्षित हो हर एक को अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार प्रगति करने के लिए कोई रुकावट नहीं है, कोई बंधन नहीं है वही स्वतंत्रता देवी का राज्य है। जिस समाज को धर्मानुकूल चलकर अपने दोषो को हटाने में, सद्गुणों की प्राप्ति करने में, निर्भय हो धर्मशास्त्रानुसार अपना ढांचा बनाने में, सर्व प्रकार आर्थिक, शारीरिक, औद्योगिक, नैतिक, धार्मिक व राजनैतिक उन्नति करने में कोई बाधा नही है, जहां रूढ़ि राक्षसी का व अविद्या पिशाचिनी का संचार नहीं, जहां एकता महादेवी का सहयोग है वहीं स्वतंत्रता का शुभ धाम है।

जिस देश के नवासियों को अपनी हर प्रकार की उन्नति करने

में, सांप्रदायिक ज्ञान सम्पन्न होने मे, व्यापार व उद्योग वृद्धि करने में, दरिद्रता के निवारण में, स्वप्रतिष्ठा को अन्य देशो के सामने स्थापित रखने में, सर्व नागरिक हकों के भोग करने में, अपनी राज्यपद्धति को समयानुसार उन्नतिकारक नियमो के साथ परिवर्तन करने में कोई विघ्न बाधा नही है वही स्वतत्रता का राज्य है।

जिस आत्मा में अपने आत्मीक गुणों के विकास करने में—उनका सच्चा स्वाद लेने मे—उनकी स्वाभाविक अवस्था के विकास करने मे कोई पर वस्तु के द्वारा विघ्न बाधा नही है वही स्वतत्रता का सौन्दर्य है। स्वतत्रता आभूषण है, परतत्रता बेड़ी है। स्वतत्रता प्रकाश है, परतत्रता अधकार है। स्वतत्रता मुक्तिधाम है, परतत्रता नरकवास है। स्वतंत्रता अमृत सागर है, परतत्रता विष समुद्र है। स्वतत्रता उत्तमाग है, परतत्रता पादतल है। स्वतत्रता पवित्रता है, परतंत्रता मलीनता है। स्वतत्रता स्वभाव है, परतत्रता विभाव है। स्वतत्रता मोक्ष धाम है, परतत्रता ससार है। स्वतत्रता विकास क्षेत्र है, परतंत्रता कारावास है। स्वतत्रता आनन्दरूप है, परतंत्रता दुःखरूप है। स्वतंत्रता निराकुल है, परतत्रता आकुलतारूप है। स्वतत्रता आत्मविभूति है, परतत्रता दीनता है।

जहाँ पर का स्वागत है, पर का मोह है, पर से राग है, पर से सहयोग हैं, परमुखापेक्षीपना है, परनिर्भरता है, स्वशक्ति विस्मरण है, स्व-विकास मे प्रमाद है, स्व-साहस की कमी है, स्व-वीर्य का अप्रकाश है वही परतंत्रता का बधन है।

परतत्रता से क्लेश है, परतत्रता से भवभ्रमण है। जहां पर से वैराग्य है, पर का मोह नही है, न पर से राग है, न पर से द्वेष है, न पर का आलम्बन है, न पर से प्रयोजन है, न पराधीन सुख कामना है, न परके ऊपर निर्भरता है, किंतु जहां स्वभाव ही का स्वागत है, स्वभाव का ही प्रेम है, स्वभाव मे ही श्रद्धा है, स्वभाव में ही ज्ञान है,

स्वभाव ही में चर्या है, स्वभाव का ही स्वाद है, स्वभाव ही में रमण है, स्वभाव का ही आनन्द है, स्वभाव का ही भोग है, स्वभाव के भोग में पूर्णतया स्वतंत्रता है, कोई पर कृत बाधा नहीं है, वही आत्मा की स्वतन्त्रता है। स्वतंत्रता मेरी प्यारी अर्धांगिनी है, मैं सर्व पर से नाता तोड़ एक स्वतंत्रता देवी की ही पूजा करके स्वात्मानंद में रमण करूंगा और परम संतोष पाऊंगा।

---

२. स्वतंत्रता परम तत्त्व है

स्वतंत्रता प्रत्येक जीव का निज स्वभाव है। इस स्वतन्त्रता का स्वामी होकर भी यह जीव संसार अवस्था मे क्यो परतन्त्र हो रहा है, इसका कारण इसी का मोह है। जैसे बन्दर चने के लोभ से चने से भरे हुए घडे मे मुट्ठी डालता है, मुट्ठी में चने भर करके बाहर निकालना चाहता है तब हाथ बाहर निकलता नहीं। वह अज्ञान से समझ लेता है कि चनों ने हाथ पकड लिया। इस मिथ्याज्ञान से कष्ट पाता है। यदि वह चने का लोभ छोड़ दे, मुट्ठी को खाली कर लेवे तो वह हाथ निकाल कर सुखी हो जावे। इसी तरह इस संसारी जीव ने अपने से भिन्न जो जो पर वस्तु हैं उनसे ऐसा मोह कर रखा है कि उनकी संगति व राग कभी छोड़ता नही। शरीर के मोह में व शरीर सम्बंधी स्त्री, पुत्रादि व मित्रो के मोह में व धन सम्पत्ति के लोभ में रात-दिन फँसा रहता है। जिनसे इनकी वृद्धि होती है उनसे राग करता है, जिनसे कुछ हानि की संभावना होती है उनसे द्वेष करता है।

इस तरह राग-द्वेष मोह के वश होकर आप ही परतन्त्र हो रहा है। परतंत्र होकर रात-दिन चितातुर रहता है। तृष्णा की दाह में जलता है, बार-बार जन्म मरण के कष्ट सहता है। इन्द्रियों के विषयों के सुख की तीव्र लालसा से भारी-भारी आपत्तियों को भी सहता है।

कर्मों की जंजीरों से जकड़ा हुआ, यह प्राणी अनेक जन्मों में भ्रमण करके कष्ट पाता है।

यदि यह अपने बल को सम्हाले, अपने स्वभाव को देखे, अपने गुणों की श्रद्धा करे, अपने भीतर छिपे हुए ईश्वरत्व को, सिद्धत्व को, परमात्मत्व को पहिचाने, अपने भीतर आनन्द का समुद्र है ऐसी श्रद्धा करे, अपने को अमूर्तीक कर्म-पुद्गलो से व नोकर्म शरीरादि से भिन्न अवलोकन करे, तथा यह भी जाने कि जितने विभाव भाव राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, शोक, भय, जुगुप्सा, रति, हास्य, कामभाव आदि होते हैं, ये सब भी कर्म पुद्गल का रंग है। मैं आत्मा हूँ, मेरे ये अपने स्वभाव नही। यह भी जाने मेरी सत्ता मेरे पास है। मेरे आत्मा का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे पास है। मेरे आत्मा के सिवाय अन्य सर्व आत्माओं का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा सर्व ही अणु व स्कंध पुद्गलों का या धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय का, कालाणुओं का तथा आकाश का, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे आत्मा में नही है। मैं निराला हूं। मैं अपनी अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि सम्पत्ति का स्वय भोक्ता हू। इस ज्ञान तथा श्रद्धा से विभूषित होकर जब कोई आप से ही आपको अपने मे अपने ही लिए अपने से भाव ज्ञान लेकर अनुभव करता है, आप में तल्लीन होता है, तब स्वतंत्रता का भाव झलक जाता है। यह अपने को सर्व परतन्त्रता रहित, सर्व परालम्बन रहित, सर्व आकुलताओ से रहित जानता है, वेदता है तब यह सिद्ध भावना के समान परमानद का लाभ करता है। मैं सदा ही स्वतंत्र हूं, मुक्त हू, सदा सुखी हू। इस भाव से परिपूर्ण होकर जिस अपूर्व तृप्ति को पाता है उसका मन से विचार नही हो सकता है। वचन से उच्चार नही हो सकता है। काय से प्रकाश नही हो सकता है। स्वतन्त्रता परमतत्व है। मैं इसी तत्व को ग्रहण कर किसी अनिर्वचनीय गुफा में बैठकर विश्राम करता हू।

---

३. स्वतंत्रता का पुजारी

स्वतंत्रता वस्तु के स्वभाव के अविरोध विकास या प्रकाश को कहते हैं। स्वभाव का प्रकाश हो सकता है, परन्तु विरोधक कारणों से नहीं होता है। उन कारणों को मिटाना ही स्वतंत्रता का प्राप्त करना है। भारतवासी जिन विरोधक कारणों से यथेष्ट उन्नति नहीं कर सकते हैं, उनका दूर करना जैसे भारतीय स्वतंत्रता का लाभ प्राप्त करना है वैसे आत्मा के विकास के बाधक ज्ञानावरणादि आठ कर्मों को दूर करना आत्मीक स्वतंत्रता को प्राप्त करना है।

स्वतंत्रता के बिना विभाव दशा में प्राणी को स्वात्मनिधि का भंडार अपने पास होते हुए भी उसके यथेष्ट भोग से वंचित रहना पड़ता है। आत्मस्वातंत्र्य के लाभ का उपाय पर से समताभाव पूर्वक असहयोग है। द्वेषभाव को किंचित् भी न करते हुए परम वैराग्य को रखते हुए सर्व पर पदार्थों की तरफ राग-द्वेष छोड़ते हुए केवल अपने ही स्वतत्र शुद्ध स्वभाव का ज्ञान श्रद्धानपूर्वक अनुभव करते हुए या उसका स्वाद लेते हुए वर्तना ही स्वतंत्रता का उपाय है। बंध का नाश आत्म पुरुषार्थ से ही होता है। एक पुरुष जंजीरो से जकड़ा बंधा है, यदि वह श्वास के निरोध का अभ्यास करे तो अपने को ढीला करके बंधनों को हटा सकता है। पुरुषार्थ आत्मीक शक्ति के उपयोग को कहते हैं। मैं स्वतंत्र स्वभावी हूं, मेरा कोई कभी बिगाड़ नहीं कर सकता है ऐसा दृढ़ श्रद्धान व ज्ञान व इसी के अनुकूल स्व-स्वभाव का ध्यान ही या स्वात्मानुभव ही आत्मस्वातंत्र्य का उपाय है।

सुखशांति का सागर ही यह आत्मा है। इसके स्वभाव में कोई प्रकार की आकुलता नहीं है। न कोई क्रोध मान माया लोभ के विचार हैं, न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा या कामभाव के संस्कार हैं। न यहां अज्ञान है न वीर्य का ह्रास है। यहां तो पूर्ण ईश्वरत्व है या पूर्ण परमात्मत्व है। आत्मा का आत्मा में ही अहंकार, आत्मा का

आत्मीक गुणो में ही ममकार तथा पर सम्बन्धी भावों में अहकार, व ममकार का अभाव। यही स्वसत्ता का विलास आत्मविकास का साधन है।

भले ही शरीर बना रहे। आठों कर्मों का उदय होता रहे। बाहरी पदार्थों का सयोग भी रहता रहे। ज्ञानी को अपने स्वभाव का ज्ञान श्रद्धान व ध्यान करना कर्त्तव्य है। जो सुवर्ण कीच में पड़ा हुआ भी सुवर्ण की कांति को नही मिटा सकता उसी सुवर्ण का वर्णन प्रशंसा रूप होता है। गृहस्थ हो या साधु, जो सम्यग्ज्ञानी अपने शुद्धात्मभाव कों स्थिर रखकर शुद्धात्म के भीतर रमण करके उसी रमणता के द्वारा सुख शाति का अमृत रस पान करता है वही स्वतत्रता देवी का पुजारी होकर स्वतत्रता देवी को प्राप्त करके मुक्ति का साम्राज्य पा लेता है।

---

४. स्वतंत्रता मेरी नगरी है

एक ज्ञानी आत्मा अपने को औदारिक तैजस तथा कार्माण शरीर के बधनरूपी पिजरे में बन्द देखकर बहुत खेदखिन्न होता है। जैसे चतुर पक्षी पिजरे मे व जाल मे फँसा हुआ पंखो को रखते हुए भी उड नही सकता, उत्तम उत्तम उपवनों के भीतर नाना प्रकार ताजे फल खाने का व मिष्ट वापिकाओ के जल पीने का सुख नही भोग सकता। इसी तरह यह आत्मा कर्म के जाल में फँसा हुआ अपने शुद्ध व स्वाधीन स्वभाव का आनन्द भोग नही कर सकता। कर्मों के उदय से पराधीन होकर इसे शरीर व शरीर के सम्बन्ध मे राग द्वेष करना पड़ता है। इष्ट की प्राप्ति में हर्ष व अनिष्ट की प्राप्ति मे द्वेष करना पड़ता है। इस राग द्वेष के कारण यह प्राणी कर्म बांधकर नाना प्रकार सासारिक, मानसिक व शारीरिक कष्ट पाता है। इस अवस्था से छुटकारा पाने का उपाय एक मात्र स्वावलम्बन है। जो चैतन्य होकर

अपनी अनंतशक्ति का विश्वास लाता है वही बन्धन से मुक्त हो सकता है। मैं द्रव्य हूं, सत् पदार्थ हूं, सामान्य और विशेष गुणों का समुदाय हूं, गुणों के भीतर स्वाभाविक परिणमन सहित हूं।

अतएव निरन्तर उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तीन स्वभाव का धारी हू, मैं चेतन्य स्वरूप हू, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल से भिन्न हू, तथा मेरा आकार अमूर्तीक है व असख्यात प्रदेशी है, इससे कभी कम व अधिक नही होता हू। मैं अनत ज्ञान दर्शन की शक्ति रखता हू। जो कुछ भी जानने देखने योग्य हो सबको देख व जान सकता हूं। अनत वीर्य का धारी हू, अनत सहजानन्द सुख का स्वामी हू। मेरा सर्वस्व सब मेरे पास है। भले हो व्यवहार नय से देखते हुए कर्मों का संयोग सम्बन्ध रहा हो तथापि मैं बिलकुल कर्मों से अबद्ध व अस्पृश्य हूं। मेरा कोई भी सम्बन्ध किसी भी परद्रव्य से कदापि नही है।

इस तरह जो श्रद्धान करता है, जानता है व उसी स्वरूप मे तन्मय होता है वही निश्चय मोक्षमार्गरूपी छेदक को पाकर कर्मों की पाश को छेद डालता है। यह प्रज्ञाछैनी जिससे आत्मा पर से छूटकर आप से आप मे रमण करता है, एक निश्चय धर्म है जहा द्रव्यस्वरूप के आश्रय ही निज तत्त्व मे सलग्नता है। न कभी बन्ध था, न अब है, न कभी होगा। त्रिकाल अबाधित एक स्वरूप निश्चल वीतराग अभेद स्वरूप में ऐसा गुप्त होगा कि मन, वचन, काय के सर्व विकल्पों का छूट जाना यही एक अनुभवगोचर भाव कर्म छेदक है। इसी को शुद्धोपयोग की एक पर्याय कहते है।

मैं अब सर्व शुभ अशुभ विकल्प जालो को त्यागकर एक निष्तुष शुद्ध चावल की तरह अपने एक केवल शुद्ध स्वरूप को अनुभव करता हूं। यही स्वतंत्रतारूपो मार्ग पूर्ण स्वतन्त्रता होने का उपाय है। जो अपने पूर्ण बल के साथ अपने स्वरूप में ठहरता है, उससे पर का संबंध

स्वतः ही छट जाता है। स्वतंत्रता मेरी ही निज नगरी है। उसी में बिश्राम करता हूं।

---

५. सहज सुखों का घर

स्वतन्त्रता आत्मा का स्वतन्त्र हक है। स्वतन्त्रता आत्मा का निज स्वभाव हैं। स्वतन्त्रता से पूर्णपने आत्मा की शक्तियाँ अपना-२ काम करती हैं। स्वतन्त्रता बधनो के त्याग से होती है। बंधनों को काटना उचित है। बन्धनों में अपने को पटकने वाला ही यही आत्मा है। जब यह राग-द्वेष, मोह से मैला होता है यह अपने मे कर्मबन्ध कर लेता है। जब यह वीतराग भाव से शुद्ध होता है तब यह कर्मबन्ध काट कर स्वतन्त्र हो जाता है। वीतराग भाव में रहने का उपाय पर से असहयोग व आत्मा के साथ पूर्ण सहयोग है। एकदम अपने आत्मा की सम्पत्ति के सिवाय पर सम्पत्ति से पूर्ण वैराग्य की आवश्यकता है। तथा निज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि सम्पत्ति से पूर्ण अनुराग की आवश्यकता है। जो जिसका प्रेमी होता है वह उसको अवश्य प्राप्त कर लेता है।

स्वभाव का प्रेम करना ही सम्यग्दर्शन है। स्वभाव का जानना सम्यग्ज्ञान है। स्वभाव मे लीन होना सम्यक्चारित्र है। स्वभाव मे रमण की आवश्यकता है। स्वभाव में रमण का उपाय स्व-स्वभाव में ही स्व-स्वभाव रूप देखना है। जब हेय की अपेक्षा से स्व-पदार्थ को देखा जाता है तो यही भासता है कि उस पदार्थ में पर वस्तु का संयोग न कभी था न है, न कभी होगा। वह सदा ही अबन्ध-अस्पृश्य है, एक रूप है, अभेद है, निश्चल हे, पर सयोग से रहित है। पर से शून्य व निज सम्पत्ति से अशून्य है। मन व इन्द्रियों से अगोचर है। परन्तु अपने अतीन्द्रिय स्वभाव से अनुभव करने योग्य है। सहज ज्ञान दर्शन का सागर है। सहज वीर्य तथा सहज सुखों का घर है। इसमें ज्ञाता-ज्ञेय, ध्याता-ध्येय, कर्त्ता, कर्म, क्रिया, गुण, गुणी, एक-अनेक, नित्य-अनित्य,

अस्ति-नास्ति, शुद्ध-अशुद्ध, प्रमत्त-अप्रमत्त, बन्ध-मोक्ष, साधन-साध्य आदि कोई विकल्प नहीं है। यह क्या है सो भी कहा नहीं जाता। विचारों में भी ठीक-ठीक आता नहीं है। मन व वचन, क्रम, क्रम से पदार्थ के गुणों को जानते हैं। वह निर्वाण नाम आत्मा एक समय में सर्व जानने योग्य को जानता है। उसमें न पुण्य है न पाप है। इस रूप ही मैं हू। यही स्व-संवेदन ज्ञान स्वतन्त्रता स्वरूप है। इसी में जो रमण करता है वह अवश्य शीघ्र ही पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है तथा पूर्ण अखण्ड आत्मीक आनन्द का निरन्तर भोग करता है।

---

६. स्वतन्त्रता का भक्त

आज मैं सर्व परतन्त्रता त्याग कर केवल स्वतन्त्रता का उपासक होता हू। स्वतन्त्रता में शान्ति है, आनन्द है, समभाव है। स्वभाव में रमण है, सयोग वियोग का संकट नहीं है, जन्म मरण का झगडा नही है। न चिन्ता है, न अभिमान है, न राग है न द्वेष है। न किसी स्वार्थ को सिद्ध करना है, न लोभ है, न माया है। बिना किसी बाधा के अपनी आत्मीक सम्पत्ति का भोग है। इस स्वतन्त्रता की उपासना हर एक को मगलकारी है।

जो कर्मों के अधीन है, पुण्य के उदय के अधीन है, राग द्वेष मोह भावो के अधीन है वह पराधीन है, वे ही स्वेच्छाचार से स्व-कार्य करने को असमर्थ हैं। पराधीनता को स्वाधीन बनाने का उपाय इसी स्वतन्त्रता की उपासना है।

उपासना करने की क्या रीति है, इस पर विचार करने से विदित होता है कि अपने स्वतन्त्र स्वभाव को श्रद्धान व ज्ञान में लेकर उसी में रमण और पर रमण से विरक्ति है। स्व-स्वरूप बड़ा ही सुन्दर है, बड़ा ही उत्तम है, पूर्ण ज्ञान व दर्शन का समुद्र है, पूर्ण आनन्द का सागर है, परम निश्चल है, ध्रुव है व परम समभाव रूप है। इसके

स्वभाव में संसार का कोई भ्रम जाल नहीं है। सिद्ध भगवान का धारी यह आत्मा है।

ऐसा ध्यान में लेकर सर्व पर-द्रव्य, पर क्षेत्र, पर काल व पर भाव से सम्बन्ध तोड़ना उचित है। बार-बार इस स्वतन्त्र स्वभाव का विचारना, इसी का प्रेमी हो जाना, इसी में आनन्द मानना परतन्त्रता हटाने का मंत्र है।

अथवा निश्चय से यही विचार परतन्त्रतानाशक है कि मैं जो कुछ हू सो हू। मेरे मे न तो परतन्त्रता है, न स्वतन्त्रता है, न ज्ञान है, न अज्ञान है, न भद है, न अभेद है, न मलीनता है न निर्मलता है, न कोई द्रव्य है न गुण है, न पर्याय है, न मेरा कभी जन्म है, न कभी नाश है।

मैं पूर्ण निर्विकल्प हू, अगम अलख हू, वचन, मन, काय से अगोचर हू, परम शान्त स्वरूप हू, नाम निक्षेपादि से रहित हू, शब्दातीत हू। अछेद्य, अभेद्य, आत्मीक दुर्ग मे विराजित हू। यों तो मेरे समान सर्व जगत की आत्मायें हैं, परन्तु मैं अपने में, वे अपने में राज्य करते है। मेरा उनसे कोई सम्बन्ध नही है। मौन रहकर भीतर-ही-भीतर मैं एक स्वानुभव का गद्दा बिछाता हू। उसी पर लेटकर व करवटे लेकर मैं परम सुखी हो रहा हू। चेतना ही मेरा लक्षण है, चेतना ही मेरा भोजन है, चेतना ही मेरा वस्त्र है, चेतना ही मेरा शयनागार है, चेतना ही मेरा सर्व है, चेतना ही मेरा निर्मल दर्पण है, जिससे सर्व लोकालोक झलकते है। मैं ज्ञान चेतना का ही स्वाद लेता हुआ परम तृप्त हूं। मैने कर्म चेतना तथा कर्म-फल-चेतना को सदा के लिए त्याग दिया है। मै स्वतन्त्रता का भक्त रह कर जब तक स्वतन्त्र नही होता तब तक निर्विकल्प स्वाधीन भाव मे रहूगा।

---

७. स्वतन्त्रता का उपाय

स्वतन्त्रता कैसी प्यारी वस्तु है! इसका नाम लेने पर चित्त प्रसन्न हो जाता है। "पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं" यह कहावत बिल्कुल

ठीक है। यदि किसी वृक्ष के चारों ओर ऐसे बन्धन हो, जिनसे पवन स्वतन्त्रता से न आवे तो वह पनप नहीं सकता, न सुन्दर पुष्प व फल पैदा कर सकता है। बन्धन बाधक है। आत्मीय स्वतन्त्रता ही पवित्र वस्तु है। तीर्थकरो ने व अनेक महात्माओ ने इस स्वतन्त्रता प्राप्त करने का यत्न किया और स्वतन्त्रता प्राप्त ही कर डाली। जिस उपाय से स्वतन्त्र जीवो ने स्वतन्त्रता प्राप्त की है, उसी उपाय की स्वीकारता हर एक स्वतन्त्रता के पुजारी को करना चाहिए।

स्वतन्त्र स्वभाव का श्रद्धान ऐसा ज्ञान तथा उसी का आचरण ही स्वतन्त्रता प्राप्ति का साधन है। जो कोई तत्त्व ज्ञानी यह पूर्ण श्रद्धान रखता है कि मैं स्वभाव से न कभो बन्धन मे था, न बन्धन में हू, न बन्धन मे रह सकता हू। मेरा स्वभाव पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण दर्शनमय, पूर्ण वीर्यमय, पूर्ण आनन्दमय, पूर्ण वीतराग, पूर्ण निर्विकार, पूर्ण अमूर्तिक है। मैं स्वभाव से स्वतन्त्र हूं। मुझे किसी भी पर पदार्थ से मोह नही करना चाहिए। राग व द्वेष नही करना चाहिये। पूर्ण वीतरागी होकर, पूर्ण विरक्त होकर, पूर्ण निज वस्तु की वस्तुता को ग्रहण करना चाहिये। यही मेरा धर्म है। ऐसा विश्वास ही सम्यग्दर्शन है। ऐसा ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। इस श्रद्धान व ज्ञान से विभूषित होकर जो इसे आत्मज्ञान से मनन करता है, आत्मज्ञान का दृढ़ता से पालक होता है वह स्वतन्त्र हो जायेगा, इसमे कोई सन्देह नहीं होना चाहिए। निःसन्देहता ही साधक है, स्वरूप का रमण ही स्व-रूप विकास का कारण है।

अतएव सर्व पर से सहयोग छोड़कर अपने ही स्वभाव से पूर्ण सहयोग करना चाहिए। जहां बन्धन से राग छोड़ा वही बन्धन छूट जायगा। बन्धन का होना हमारा ही अज्ञानजनित राग है। अज्ञान को त्याग कर सम्यग्ज्ञानी होकर हमको अपने आत्मा के उपवन में ही क्रीड़ा करनी चाहिए। इसी के गुण रूपी वृक्षों को बार-बार निरख कर आनन्द प्राप्त करना चाहिए। स्वतन्त्रता में स्वतन्त्र हो विचरना

अपने अनन्त बल का दृढ़ विश्वास रखना ही स्वतन्त्रता लाभ का उपाय है। आत्म स्वतन्त्रता ही मुक्ति है।

---

८. परमानन्द का स्वामी

यह प्राणी अनादि काल से अनन्त शक्तिधारी कर्म-पुद्गलों के सयोग से ऐसा घिरा हुआ है जिससे वह अपनी स्वतन्त्रता को भूलकर कर्म पुद्गल के रंग में ही रंग रहा है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म शुक्ललेश्या के कारण कभी अशुभ कभी शुभ भावों में जकड़ा हुआ पुनः पुनः कर्म पुद्गलों का संचय कर अपने बंध को गाढ़ करता चला आया है। गुलामी की जजीरों से बधा हुआ तथा सरसो मात्र सुख व पर्वत समान दुख उठता हुआ गुलामी में ही तृप्त हो रहा है। अपनी स्वाधीन अनन्त परमानन्द की वृत्ति को बिलकुल भूल रहा है।

एक दयावान श्री गुरु इस भ्रम पूर्ण प्राणी को देखकर दयार्द्र-चित्त हो जाते हैं और कहते हैं कि हे भाई ! तू क्यों पुद्गल की कैद मे पड़ा है। अपनी ईश्वर स्वरूप शक्ति का तुझे भान नही है। तू तो स्व-भाव से परमात्मा है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य का धनी है। तू पुदगल मूर्तीक से विलक्षण बिलकुल अमूर्तीक है। तूं अपने ही स्वभाव मे परिणमन करने वाला है। इस-लिए तू स्वभाव परिणति का ही कर्ता है तथा स्वाभाविक सुख का ही भोक्ता है। तू यदि अपने द्रव्य स्वभाव को सम्हाले, उसकी दृढ़ श्रद्धा लावे, उसी का प्रेमी हो जावे, उसी में रमण करने का उत्साह प्रकट करे, तथा पुद्गल से उदास हो जावे, तो सर्व प्रकार के बाहरी शरीर से धन से, नगर से, प्रासाद से, बाह्याभूषण से निर्ममत्व हो जावे, ज्ञाना-वरणादि आठो कर्मों से विरक्त हो जावे तथा इन कर्मों के उदय से जो अज्ञान व क्रोध, मान, माया, लोभादि विभाव होते हैं उनके साथ अपना नाता तोड़ दे। अपने को सर्व प्रकार द्रव्य कर्म, भाव कर्म तथा नोकर्म से जुदा जाने। ऐसी सम्यक्रुचि, ऐसा सम्यग्ज्ञान व ऐसा ही

सम्यक्चारित्र यही अभेद व निश्चय रत्नत्रयमई नौका है। इस पर तू आरूढ़ हो जावे तो शीघ्र ही इस असार आकुलतापूर्ण भवसागर से पार हो जावे और जैसा अपना निज स्वभाव है वह प्रकट हो जावे शुभ अशुभ दोनों ही भाव बंधकारक हैं। एक शुद्धोपयोग ही वीतराग-भाव है जो बंध का छेदक है। इस शुद्ध भाव का ही अपने को स्वामी मानकर जो इस शुद्ध भाव के भीतर रमण करता है वह कर्मों की पर-तन्त्रता को काटकर स्वतन्त्र हो जाता है। मैं स्वतन्त्र ही हूं, न कभी परतन्त्र था न कभी परतन्त्र होऊंगा। यह विशाल दृष्टि जब आ जाती है तब अपने स्वरूप में ही चर्या होने लगती है और इसी का अभ्यास स्वानुभव की शक्ति का प्रकाश कर देता है। स्वानुभव ही स्वतन्त्रता का उपाय है। अतएव मैं अब सर्व संकल्प विकल्प छोड़कर एक अपूर्व स्वानुभव में ही रमण करता हुआ परमानन्द का स्वाद लेता हूं।

---

६. स्वतन्त्रता की जय

स्वतन्त्रता की महिमा वचन अगोचर है, स्वतन्त्रता आत्मा की स्वाभाविक सम्पत्ति है। आत्मा का प्रकाश स्वतन्त्रता ही में है। सदा अनुभव पाना स्वतन्त्रता में ही हो सकता है। अनादि कालीन कर्मबंध की पराधीनता किस तरह दूर की जावे इसका विचार करने से प्रकट होता है कि इस परतन्त्रता का कारण इस अज्ञानी जीव का मोह भाव है। यह आप ही पर्याय में रति कर रहा है। इसी से पर पुद्गल इसे बंध में डाले हुए हैं। यदि यह अपना नाता पुद्गल से बिल्कुल हटा ले, पुद्गल के द्रव्य, गुण पर्याय से, पूर्णता से उदास हो जावे, पुद्गल के साथ अपना सहयोग छोड़ देवे और निज आत्मा के स्वा-भाविक द्रव्य, गुण, पर्यायों की तरफ झुक जावे, आपसे ही आपका गाढ़ प्रेमी हो जावे, तो शीघ्र ही परतन्त्रताकी बेड़ी कट जावे। जिस-२ महात्मा ने स्वात्माश्रय को अपना घर बनाया, स्वात्माधीन आनन्द का ही भोजनपान स्वीकार किया, विषय-सुख से पूर्ण उदासीनता प्राप्त

की, जगत की नारियों से वैराग्यवान हो, मुक्ति नारी की आसक्ति उत्पन्न की, स्वात्मा का ही वस्त्र पहरा, अन्य जड़ वस्तु का त्याग किया। स्वात्मा के ही संथारे पर आसन जमाया। और सब कष्टादि के आसनों को छोड दिया, उसने ही स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। जब तक पर से शून्य किन्तु स्वात्म भाव से पूर्ण निर्मल क्षीर समुद्र में अवगाहन नहीं होता है तब तक कर्म मैल का छूटना दुर्निवार है।

उचित यही है कि आत्मा की स्वच्छ परिणति रूपी धारा में ही स्नान किया जावे। उसी के द्वारा कर्म-मल छुड़ाया जावे, उसी ही धारा से स्वानुभव रूपी जल का पान किया जावे। इस जल से ही आत्मा को परम पुष्टि प्राप्त हो जाती है। फिर अन्य पौद्गलिक आहार की जरूरत नही रहती है। जिसने स्वात्माश्रयी चरित्र का आश्रय लिया, व उसी मे निरन्तर विहार करना स्वीकार किया, राग-द्वेष, मोह मे चलने से परम विरक्ति प्राप्त की, वही सत महात्मा शीघ्र ही स्वतन्त्र हो जाता है और तब फिर आत्मानन्द का अनुभव भोग-निरन्तर करता रहता है। स्वतन्त्रता की जय हो!

---

१०. स्वतन्त्रता की पूजा

एक ज्ञानी भव्य जीव सर्व-सकल्प विकल्पो को छोड़कर एकांत में बैठकर स्वतन्त्रता का आराधन करता है। सर्व पदार्थों से राग द्वेष छोड़कर समता भाव का जल उपयोग मे भरता है और उस देवी का अभिषेक करता है। परम पवित्र साम्य जल की धारा से जल-पूजा उत्तम क्षमा रूप शातिमई चदन से चदन पूजा, मनोहर अक्षय आत्मीक गुणो के मनन रूपी अक्षतो से अक्षत पूजा, ब्रह्मचर्यमई परम शोभनीक पुष्पों से पुष्प पूजा, परमतृप्ति कारक आत्मानुभव रूपी भोजनों से नैवेद्य पूजा, स्व-सवेदन ज्ञान की जाज्वल्यमान ज्योति से दीपक पूजा, आत्मध्यान की अग्नि मे कर्म–होमरूपी धूप खेवन से धूप पूजा, स्वात्मोपलब्धि रूपी फलो से फल पूजा करके परम संतोष मान रहा है।

स्वतंत्रता देवी के अद्भूत गुणों की जयमाला पढ़ता है। धन्य है स्वतंत्रता, जहाँ कोई बंधन नहीं है, न वहां भावकर्म, क्रोध, मान, माया, लोभ है, न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा या कोई काम विकार है, न वहां कोई अज्ञान है, न भ्रम है, न संशय है, न आलस्य है, न आर्तध्यान है, न रौद्रध्यान है, न कोई विषय की व चाह की दाह है, न वहां औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्माण पुद्गल वर्गणाओं के बन्धन हैं। इस स्वतंत्रता की ऐसी अपूर्व महिमा है कि पुद्गलों का सम्मेलन होते हुए भी वे किंचित् भी विकार व आवरण व निरोध, स्वतंत्रता के स्वतंत्र कार्य में नही कर सकते हैं। स्वतंत्रता परम ज्ञान दर्शन रूप हैं। इसके भीतर बिना किसी क्रम से सर्व विश्व के सर्व पदार्थ अपने अनंत गुणपर्यायों के साथ एकदम झलक रहे हैं। यह स्वतंत्रता देवी परम शांत स्वरूप है, यह परमानंद-स्वरूप है, यह परम अमूर्तीक है, यह अनंत वीर्य को धरने वाली है, इसका स्वभाव कमल समान प्रफुल्लित है, सूर्य समान तेजस्वी है, चन्द्रमा समान आनन्दामृत को बरसाने वाला है, स्फटिक समान निर्मल है, यह परम दातार है। जो इस स्वतत्रता का आराधन करता है, उसको यह बिना कोई सकल्प विकल्प उठाए हुए ही सच्चा आनन्द प्रदान करती है। उसकी अनादि की तृष्णा की दाह शमन कर देती है। उसका उपयोग पराधीनता से हटाकर स्वाधीन कर देती है। धन्य है स्वतत्रता ! मैं तो रात-दिन इसी का उपासक बनूंगा। इसी की चरण रज को मस्तक पर लगाऊँगा। यह आराधक को अपने समान कर लेती है। यह बड़ी उदार हैं। मैं भी इसकी आराधना से स्वतत्र हो जाऊँगा। इस भावना से मैं स्वतत्रता की भक्ति में तन्मय होता हुआ यकायक निर्विकल्प होकर परम सुख का स्वाद पाता हुआ परम तृप्त हो रहा हूं।

---

११. जीवन्मुक्त

एक ज्ञानी आत्मा अपने को जब देखता है तब कर्म पुद्गलों से व शरीरादि से व रागद्वेषादि भावों से घिरा हुआ पाता है। इस परतंत्रता में अपने स्वभाव का योग नही देखकर आकुलित होता है और स्वतंत्रता पाने को उत्सुक हो जाता है। स्वतंत्रता आत्मा का स्वभाव है। स्वतंत्रता बिना आत्मा को परमानंद सतत लाभ नही हो सकता है। इसके लिए क्या यत्न करना चाहिए यह विचार आते ही यह श्री गुरु की शिक्षा को याद करता है कि स्वतंत्रता का श्रद्धान, ज्ञान आचरण ही स्वतंत्रता लाभ का उपाय है। परतंत्रताकारियों के साथ असहयोग करना, उनसे उदास हो जाना, उनकी संगति को बाधाकारी समझकर उनसे प्रेम का हटा लेना ही एक मात्र उपाय है।

मैं आत्मा हूं, परमात्मा हू, ईश्वर हू, अनन्त ज्ञानी हू, अनन्त विज्ञानी हूं, अनन्त वीर्यवान हूं, अनन्त सुखी हू, शुद्ध अमूर्तीक हूं, निर्लेप हूं, निरंजन हूँ, सिद्ध भगवान के समान हूं, मेरा द्रव्य स्वरूप सदा से ऐसा था, ऐसा है व ऐसा रहेगा। यही दृढ कार्य स्वतंत्रता-प्राप्ति का साधन है। मैं इस गाढ़ श्रद्धा के साथ अपने ही शुद्धात्मा के स्वभावरूपी आसन पर बैठता हू। आत्मा को परभावों से सकोच करके उसी का पद्मासन बनाता हूं। इस पद्मासन में सिद्ध होकर शुद्ध सरल भावरूपी ऋजुता को धारण कर स्वात्मस्वरूप के ही सन्मुख अपनी ज्ञानचक्षुओ को रखता हूं। एक मात्र अपने ही शुद्ध स्वभाव को देखता हू। उसी शुद्ध स्वभाव के समुद्र में अवगाहन करता हूँ। उस शुद्धात्मानुभव रूप जल के पान से ऐसा आत्मीक बल बढ़ा लेता हूँ कि मेरे उस बल के सामने सर्व ही परतंत्रताकारक पदार्थ या भाव कंपित होकर भाग जाने लगते हैं। जैसे-जैसे मैं अतिशय दृढ़ता के साथ स्वरूपावगाहन करके स्वानुभवरूप परमामृत पान करता हूं, मेरा आत्मबल अधिक-अधिक बढ़ता जाता है। एक समय आता है तब मैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय व मोहनीय चारों घातिया कर्मों का क्षय करके

परमात्मा अरहंत जीवन्मुक्त हो जाता हूं, अनंतवीर्य को प्रगट कर लेता हूं। फिर तो कोई भी विभाव सताते नहीं। मैं स्वभाव का उपभोग करता हुआ परम सुखी रहता हूं। मेरा स्वभाव अनंत काल तक बना रहता है। मैं सदा के लिये स्वतंत्र हो जाता हूं। स्वतंत्र निज स्वभाव का ही आराधन, उसी का ध्यान, उसी का स्वाद-ग्रहण वह साधन है जिससे निश्चयपूर्वक यह संसारी सर्व परतंत्रमय उपाधियों से छूटकर निरुपाधि मोक्ष पद का स्वामी हो जाता है। और तब अनन्तकाल के लिये परमानंद का स्वाद लेता हुआ परम तृप्त रहता है।

---

१२. स्वतंत्रता सर्वस्व

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता का प्रेमी होकर स्वतंत्रता के ही आवास मे रहता है। स्वतंत्रता के ही जल से स्नान करता है। स्व-तंत्रता के ही वस्त्र पहनता है। स्वतंत्रता की पुष्पमाला से ही पूजन करता है। स्वतंत्रता का आहारपान करता है। स्वतंत्रता के मद में पूरित होकर स्वतंत्रता की शय्या पर स्वतंत्रता की चादर ओढ़कर शयन करता है। स्वतंत्रता की अशरफियों को उपार्जन करता है। स्वतंत्रता की मनोहर वाटिका में विहार करता है। स्वतंत्रता की परमप्रिय महिला से प्रेम रखता हुआ उसी में आसक्त रहता है। स्वतंत्रता नारी के उपभोग से स्वतंत्रता पुत्री को उत्पन्न करता है। उसको ही पालन पोषण कर परम सुख का अनुभव करता है। ऐसा स्वतंत्रता प्रेमी गृहस्थ एकाकी होने पर भी कुटुम्ब के सुख को अनुभव करता है। कभी साधु होकर स्वतंत्रता में रमण करता है। कभी पुनः गृहस्थ हो स्वतंत्रता में कल्लोल करता है। स्वतंत्रता के साथ अद्‌भुत क्रीड़ा करता हुआ किसी भी भाव या परद्रव्य के आधीन नहीं रहता है। उसे न इन्द्रियों के विषयभोगों की पराधीनता है, न क्रोध

मान माया लोभ के अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन के सोलह भेदों में से किसी में पराधीनता है, न हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, व किसी काम-विकार की पराधीनता है, न मन से विचारने की, न वचन से कहने की, न काय से क्रिया करने की पराधीनता है, न गमन की, न आगमन की, न उठने की, न बैठने की, न जपकी, न तपकी, न व्रत की, न उपवास की, न ध्यान की, न समाधि की, न दान की न पदाधिकार की, किसी भी कर्म चेतनामय या कर्मफल चेतनामयभाव की पराधीनता भी नही है। यह ज्ञानी एक ज्ञान चेतनामय स्वतंत्रता के ही रस मे रसिक हो निरन्तर आनन्दामृत का पान करता रहता है।

ऐसा स्वतंत्र व्यक्ति ही मोक्षमार्गी है। यही जैनी है। यही सम्यग्दृष्टी है। यही श्रावक है, यही साधु है, यही उपशम श्रेणीवान है, यही क्षपकश्रेणिधारी है, यही सयोगकेवली है, यही अयोगकेवली है, यही सिद्ध भगवान है।

धन्य है स्वतंत्रता, तेरी भक्ति आत्मा को सदा अजर अमर रखती है। तू ही सर्व सुख की प्रदाता है। सर्व तृष्णामयी दाह को शमन कराने वाली है। सर्व काल्पनिक सुखदुख की वासना को हटाने वाली है। निर्विकल्प अतीन्द्रिय सुख सागर मे स्नान कराने वाली है। धन्य है तू, मैं तेरी ही उपासना करता हुआ सदा स्वतंत्र रहूंगा।

---

१३. अतीन्द्रिय अनन्त

एक ज्ञानी, सूर्य के समान प्रकाशित होकर सूर्य समान स्वाधीनता से विहार करता है। अपनी ज्ञान ज्योति से विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों को यथार्थ रूप से जैसा उनके द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप है, वैसा जानता है। जैसे सूर्य से शुभ व अशुभ, सुन्दर व असुन्दर, महान् व

लघु पदार्थों को, धनिक व निर्धनों को, विद्वान व मूर्खों को, धर्मकृत्य करने वालों को व अधर्मकृत्य करने वालों को अपने प्रकाश से झलकाता हुआ भी किसी से रागद्वेष नहीं करता है, बिलकुल निर्विकार रहता है वैसे ही यह ज्ञानी आत्मा सर्व के स्वरूप को श्रुतज्ञान के बल से यथार्थ जानते हुए किसी से किंचित् भी रागद्वेष नहीं करता है। अपने स्वभाव में प्रकाश करता हुआ पराधीनता के संकटों से छूटा रहता है।

वास्तव में जहां वस्तु के परिणमन में बाधा उपस्थित हो, स्वच्छंद परिणमन न हो, वहां पराधीनता होती है पराधीनता किसी भी द्रव्य के विकास मे विरोधक है। स्वाधीन स्वभाव में रमण करने वाला सदा ही सन्तोषी है व सुखी है। पुद्गल सापेक्ष दृष्टि से देखते हुए संसारी प्राणी बन्धन में हैं, पराधीन हैं। स्वभाव के शुद्ध परिणमन से रहित दिखते हैं। परन्तु जब इन्हीं जीवों को पुद्गल बन्ध रहित एक शुद्ध निश्चय की दृष्टि से देखा जाता है तब सर्व ही आत्म ए स्वाधीन, अपने शुद्ध स्वभाव में ही परिणमन करती हुई दिखती हैं। सर्व ही परम सुखी, परम शुद्ध, परमात्मावत् ज्ञानचेतना भोगी दिखलाई पड़ती हैं।

संसारी पराधीन प्राणी को स्वाधीन होने का उपाय अपनी स्वतंत्रता का पूर्ण निश्चय तथा ज्ञान है। जो इस सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर लेता है जिसे इसी का गाढ़ प्रेम हो जाता है, वह बारबार स्वतंत्र स्वभाव का मनन, चिंतवन तथा ध्यान करता है। जिसके अभ्यास से स्वात्मानुभवी अग्नि जला पाता है। उस अग्नि की ज्वाला से पराधीनता के कारणभूत कर्म जलने लगते हैं। आत्मा की भूमिका कर्मों की रज से स्वच्छ होती जाती है। वैराग्य की पवन उन रजों को उड़ा देती है। इस तरह की स्वानुभूति का अभ्यास ही वह साधन है, जिससे परतंत्रता का नाश होता है और स्वतंत्रता का उत्पाद होता है।

मैं इस समय स्वतंत्रता तथा परतंत्रता दोनों ही के विकल्पों का त्याग करता हूं तथा एक ऐसी गुफा में विश्राम करता हू जहां कोई विचार, कोई वितक, कोई ज्ञान के विकल्प नही हैं। उस निर्विकल्प समाधिरूपी गुफा में बैठकर अपनो स्वतंत्रता का आप भोक्ता होकर जिस अतीद्रिय आनन्द को पाता हू वह मात्र स्वानुभवगम्य है।

---

१४. स्वतंत्रता–समुद्र

एक ज्ञानी आत्मा सर्व सकल्प विकल्प जो संसारवर्द्धक हैं उनसे उपयोग को हटाकर स्वतत्रताप्रेरक विचारों की तरफ बढ़ता है। उसके सामने एक महासमुद्र आजाता है जिसकी शोभा देखने के लिये उमंगायमान हो जाता है। यह सागर अथाह ज्ञान-जल से परिपूर्ण है। इसकी निर्मलता मे सर्व अनन्त ज्ञेय एक साथ झलकते है। अनन्त द्रव्य अपनो अनन्त त्रिकालवर्ती, सभवित पर्यायो के समूह हैं, गुण-पर्यायवान द्रव्य हैं। ज्ञान से, इसका अमिट सम्बन्ध है। ज्ञान बिना ज्ञेय नही, ज्ञेय बिना ज्ञान नही। इस समुद्र के दर्शन से सर्व विश्व दिख जाता है तब किसी अन्य ज्ञेय के दर्शन की चिन्ता नहीं रहती है। यह समुद्र परम शीतल है। इसमे क्रोध की किंचित भी गर्मी नही है। कोई भी ताप मन का नही है। कोई भी लोभ या तृष्णा की दाह नहीं है। वीतरागता की शीतलता परमशाति प्रदायक है। इस समुद्र मे परमानन्दमई रत्न भरे है, जिन रत्नो का लाभ बहुत सतोषप्रद है। इस समुद्र की कोई उपमा नही हो सकती है। यह अद्‌भुत समुद्र मैं ही हूं, मेरे से भिन्न नहीं है, मैं स्वसमुद्र मे नित्य स्नान करता हू, इसका शांत सुखप्रद ज्ञानरूपी जल पान करता हू, यह परमामृत है, जो पीता है वह सदा अमर रहता है।

स्वतंत्रता में बाधक जितना विकार है–जितना अन्तराय है वह सब समुद्र में मज्जन से धोया जाता है, स्वतंत्र स्वाभाविक आत्म-ज्योतिका प्रकाश झलक जाता है।

स्वतंत्रता ही हरएक आत्मा का स्वभाव है। पुद्गल कर्म बाधक है। उनका वियोग सुखकर है। बाधक शत्रु का संयोग एक क्षण भी हितकर नहीं है। इसी श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, इसी ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं, इसी भाव में रमण करने को सम्यक्चारित्र कहते हैं, यही स्वतंत्र होने का अमोघ उपाय है।

स्वतंत्रता की हवा का आश्वासन करने वालों को परतंत्रता की गंध नही सुहाती है। वह स्वतंत्रता की सुगंध में मगन होकर परम-सुखी रहता है।

मैं स्वतंत्रता का दर्शन करता हुआ अपने को सर्व विश्व का ईश्वर समझता हू। न मुझसे कोई बड़ा है जिसकी शरण ग्रहण करूं। न कोई मुझसे छोटा है जिसे मैं शरण मे रक्खूं। मुझे तो सर्व ही ज्ञानी आत्माए एक समान दीखती हैं। किससे राग करूं, किससे द्वेष करूं, किसकी सेवा करूं, किससे सेवा लूं। सर्व ही परम स्वतंत्र होकर अपने अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में मगन हैं। समभाव ही एक दृश्य है जिसमें निर्विकारता है। समभाव ही धर्म है। उसीका धारक मैं धर्मी हूं। मैं अपने धर्म में ही चलकर अपने धर्मात्मामयी पद को सार्थक कर रहा हूं। परमानन्द का विलास कर रहा हू।

---

१५. अपूर्व ज्ञानशक्तिधारी

बंधन बाधक है, स्वतंत्रता का निरोधक है, अतएव बंधन से मुक्त होना आवश्यक है। स्वतंत्रता आत्मा का धर्म है, स्वतंत्रता प्राप्ति का उपाय भी आत्मा का धर्म है। स्वतंत्रता आत्मा का निजी स्वभाव है, स्वतंत्रता ही सच्ची सुखशांति का धारावाही स्रोत है।

स्वतंत्रता का लाभ और स्वतंत्रता मेरे भीतर ही है। वह भीतर ही खोज करने से प्राप्त होगी। इस तरह के श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण से ही यह होती है तब परतंत्रता का बहिष्कार होता है।

आत्मा का जो कुछ द्रव्य-स्वभाव है उसे पूर्णपने जानकर उस पर दृढ़ श्रद्धावान होने की आवश्यकता है। आत्मा आत्मा है अनात्मा नही है, आत्मा सत् पदार्थ है, स्वय सिद्ध है, अनादि अनत है, अमूर्तीक है तथा साकार है, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य वीतरागता, सम्यग्दर्शन आदि विशेष मुख्य गुणो का सागर है। यह अरूप है आत्माओं के सदृश होने पर भी उनसे भिन्न है। आत्मा का स्वभाव परमात्मा का स्वभाव एक है। मैं ही परमात्मा हूं, यही स्वानुभव स्वतंत्रता के पाने का बीज है।

स्वतत्रता के बाछक को उचित है कि सर्व व्यवहार से परागमुख हो जावे। और एक अन्तर्मुहूर्त के लिये भी केवल एक अपने ही आत्मा के स्वरूप की भावना मे सलग्न हो जावे। शुद्ध स्वरूपोऽह इस छः अक्षरी मत्र की भावना के द्वारा अपने स्वरूप की भावना करे। मन, बचन, काय से होने वाली अनेक अवस्थाओ के विचारो से पूर्ण उदासीनता वर्ती जावे। मैं मन नही, वचन नही, काय नही, मैं पुण्य नही, पाप नही, मै गुण व गुणो के भेदो से भी दूर हूं। मैं अभेद एक अखण्ड द्रव्य हू। मै न कर्मों से बन्धा हू न स्पर्शित हू। मैं अनादि से अनन्त काल तक एक रूप ही रहने वाला हू। परिणमन होते हुए भी अपने ध्रुवभाव को बनाये रखता हू। मैं सदा निश्चल हू, अपने प्रदेशो मे स्थिर हू, गुण पर्याय का समुदाय होने पर भी मैं एक अमिट अखण्ड अभेद द्रव्य हू। मेरा संयोग किसी से नही है। मैं असंग हूं, मेरे में ज्ञान की अपूर्व शक्ति है, जो एक काल सर्व विश्व को अपने में रख सकती है। ज्ञातव्य को जानने के लिये ज्ञान अपूर्व शक्ति रखता है। जैसे एक प्रदेश पन मे अनन्त परमाणु के सूक्ष्म स्कध समा सकते हैं तो भी अपनी अपनी सत्ता से भिन्न हैं वैसे ही एक ज्ञानमई आत्मा के एक प्रदेश मे सर्व ज्ञेय-जानने योग्य विषय समा सकते हैं। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव गोचर है। एक विद्वान वैद्य अपने ज्ञान में हजारों औषधियों का एक साथ ज्ञान रखता है, एक वकील सैकड़ों कानूनों का एक साथ

ज्ञान रखता है, एक विज्ञान ज्ञाता एक साथ हजारों विज्ञान के प्रयोगों को जानता है। नय द्वारा विचार व वचन द्वारा प्रकाश क्रम से होता है। मैं ऐसी ही अद्भुत अपूर्व ज्ञान शक्ति को रखने वाला हूं। इस तरह जो कोई केवल एक आत्मा को आत्मा रूप ही आत्मा के द्वारा भाता है-उसी के रस का रसिक हो जाता है, वह स्वतंत्रता के भाव से स्वतत्र सुख का अनुभव करता हुआ परम संतोषी बना रहता है।

---

१६. अवक्तव्य स्वतंत्रता

स्वतत्रता कहां है ? अपने ही पास है। जैसे किसी के हाथ में सुवर्णमुद्रिका हो और वह विस्मृत हो जावे व उसे यह समझ कर कि वह गिर गई है, दूर दूर ढूंढ़ता फिरे व स्मरण आते ही अपने हाथ में ही मुद्रिका को देख कर प्रसन्न हो जावे, इसी तरह स्वतंत्रता अपने ही आत्मा में है। हम अनादि काल से उसे भूले हुए हैं। श्रीगुरु के प्रसाद से खबर हो गई है कि आत्मिक स्वतत्रता अपने ही पास है। परतत्रता के कारणो से, असहयोग करने ही से वह स्वय प्रकाशवान होने लगती है।

पर द्रव्य से रागद्वेष, मोह करना ही परतंत्रता की शृङ्खलाएं है। इन रागद्वेष मोह को दूर करके वीतराग स्वभाव में कल्लोल करने की आवश्यकता है। जैन सिद्धान्त प्रतिपादित निश्चयनयकी दृष्टि को अब खोलना चाहियें। व्यवहार की अशुद्ध दृष्टि बन्द करनी चाहिये।

शुद्ध दृष्टि से देखने से यह जगत क्रिया रहित, शब्द रहित, परिणमन रहित, एक समान, द्रव्य स्वरूप बिलकुल सम दिखलाई पड़ता है। जितने पुद्गल हैं वे सब परमाणु रूप स्वभाव में हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश भी अपने अपने स्वभाव में होते हैं। तथा सर्व जीव भी एकाकार शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा,

अमूर्तिक निर्विकार, परमानन्दमय व परम वीतराग दिखलाई पड़ते हैं।

इस दृष्टि को बारबार अभ्यास मे लाने से अपना स्वभाव सदा स्वतंत्र एकरूप परम परमात्मा रूप दिखता है। समभाव का प्रकाश छा जाता है। जैसे सरोवर निर्मल हो, स्थिर हो तब उसके भीतर पड़े हुए पदार्थ ठीक ठीक झलकते हैं, वैसे निर्मल व स्थिर आत्मा के उपयोग मे आप व पर सर्व ज्ञेय या जानने योग्य पदार्थ ठीक ठीक झलकते हैं।

निश्चय दृष्टि के धारावाही देखते हुए मैं एक ऐसे स्थल पर पहुंच जाता हू जहाँ दृष्टा व दृष्य का भेद मिट जाता है, ज्ञाता ज्ञेय का विकल्प दूर हो जाता है, स्वानुभव की दशा प्रगट हो जाती है, निजानन्द में विश्रांति होती है, परमामृत का पान होता है, साक्षात स्वतंत्रता का उपयोग हो जाता है। इस स्वानुभव में परम अद्वैतभाव आजाता है, द्वैत अद्वैत का भी विकल्प मिट जाता है। जब उपयोग किसी पदार्थ के स्वाद ग्रहण करने में तन्मय होता है तब उसकी स्वसवेदन शक्ति यही काम करती है। जहा आपसे ही आपका ही वेदन हो वहां ही उपयोग की थिरता होती है। मैं इसी स्वानुभव द्वारा अवक्तव्य स्वतंत्रता का आनन्द लेता हुआ परम तृप्त हो रहा हूं।

---

१७. परमानंद विलासी

स्वतंत्रता हरएक आत्मा का स्वभाव है। इसे कहीं से प्राप्त नहीं करना है। जो ज्ञानी है वे सदा स्वतत्र है। हमे पर्यायार्थिक दृष्टि या व्यवहारनय का सर्व प्रपंचजाल बुद्धि से दूर करना होगा। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष का विकल्प मिटाना होगा। रागद्वेष मोह के कारणो को दूर फेकना होगा। आकुलता के कारणों को परे रखना होगा।

परमार्थ दृष्टि जयवन्त हो। इस दृष्टि के द्वारा देखने से परम कल्याण है। सर्व विश्व के पदार्थ इस दृष्टि से अपने अपने स्वभाव में दिखलाई पड़ते हैं। सर्व द्रव्य अपने अपने मूल स्वभाव में रहते हुए अपनी परम सुन्दरता का प्रकाश कर रहे हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल तथा पुद्गल इन पांच अजीव द्रव्यों की सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। इनके रहते हुए भी परमार्थ दृष्टि देखती है कि सर्व धर्म भिन्न भिन्न सत्ता रखते हुए भी समान हैं, सर्व ही असंख्यात प्रदेश धारी हैं, सर्व ही ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र आदि अपने सर्व गुणों से पूर्ण हैं, सर्व ही परम समभाव में तल्लीन हैं, सर्व ही स्वतंत्र हैं। बिना किसी बाधक कर्म के प्रभाव को पाए हुए सर्व ही अपने स्वभावों में उसी तरह कल्लोल करते हुए आनंदित है जैसे क्षीरसमुद्र अपनी शुद्ध कल्लोलो को रखते हुए निर्मल व निर्विकार रहता हुआ परम शोभा को विस्तारता है। सर्व आत्माएं परम सुखी हैं। मैं भी परम सुखी हू। मेरे साथ भी किसी पर वस्तु का सम्बन्ध नहीं है। अपने को परमात्मा स्वरूप अनुभव करते हुए ही स्वतंत्रता का भान होता है। परतंत्रता की वासना भी नही रहती है।

जहां स्वरूप में ही वास है, स्वरूप में ही स्थिति है वहां किसी परद्रव्य की, पर गुण की, पर पर्याय की शक्ति नहीं है जो कोई प्रकार विकार उत्पन्न कर सके। जिसने मन वचन काय को गोपकर गुप्ति का दृढ़ किला बना लिया है व जो इस किले के भीतर परम संवर के साथ उपस्थित है, वहां क्रोध, मान, माया, लोभादि के आस्रव प्रवेश नही पा सकते हैं। एक परमाणु भी उसके आत्मप्रदेशों में नहीं ठहर सकता है।

वास्तव में परम सुख के अर्थी को बाहरी पदार्थों का आलम्बन छोड़कर निरालम्बनमई निज आत्मा के ही भीतर विश्राम करना होगा, वहीं रमण करना होगा। स्वरूप में तन्मय होना ही स्वतंत्र

होना है। इस आत्मीक बल के होते ही परतंत्रता के कारणभूत सब द्रव्य व भाव पलायन कर जाते हैं। अतएव मैं सर्व अन्य कार्यों से उदासीन होकर एक अपने आत्मीक अनुभवरूपी कार्य में सलग्न होता हुआ परमानन्द का विलास पाकर परम हर्ष का अनुभव कर रहा हूं।

---

१८. स्वतंत्रता के चरणों में

स्वतत्रता कहा है ? जो कोई खोजने निकलता है उसे यह स्वतत्रता अपने ही पास दिखती है। स्वतत्रता अपने ही आत्मा का स्वभाव है। तो भी रागद्वेष मोहादि भावो के द्वारा प्रचलित अनेक संकल्प विकल्पो के घोर आवरणो के भीतर यह प्रच्छादित हो रही है। इसको इसी जीवन मे अनुभव प्राप्त करने के लिये व परतंत्रता के कारणो को विध्वस करने के लिये यह आवश्यक है कि ऐसे एकान्त स्थान की शरण ली जावे जहा पर पांचो इन्द्रियो को लुभानेवाले साधन न हो, न जहा कोलाहल हो। जहा मन ऐसी स्थिति में हो कि उसको विश्राति लेने के लिये कोई बाहरी आकर्षण न हो। वह घूम-फिर कर अपने ही आत्मा की तरफ आ सके, जैसे समुद्र के भीतर उड़ने वाले पक्षी को सिवाय एक जहाज के और आलम्बन नही मिलता है, जहा वह विश्राति भजे।

सर्व बाहरी आकर्षणो से रहित होकर भीतर के शत्रुओ को पराजित करना चाहिये। बलात्कार अपने उपयोग को सर्व भूत, भावी, वर्तमान मन, वचन, काय की क्रियाओ से, उनके द्वारा बंध होने वाले कर्मो से, कर्मों के नाना प्रकार के बाहरी व भीतरी फलों से हटाना चाहिये। इसके सिवाय सर्व अन्य पर द्रव्यो से भी उन्मुख होकर एक अपने आत्मा के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मे अनुरक्त होना चाहिये। मैं ही ध्याता, मैं ही ध्येय, मैं ही ध्यान, इस तीन प्रकार के भावों के एकीकरण भाव मे अद्वैत भाव मे अपने उपयोग को संयोजित करना

चाहिये। जहां आत्मा आत्मा में ठहरा, स्वानुभव का प्रकाश हुआ, वहीं स्वतंत्रता का साक्षात् दर्शन हो जाता है। इस दर्शन को ही देव-दर्शन कहते हैं, गुरुसमागम कहते हैं, धर्मसेवा कहते हैं, स्वाध्याय कहते हैं, मोक्षरूप रुचि कहते हैं, मोक्ष का ज्ञान कहते हैं व मोक्ष का चारित्र कहते हैं।

स्वानुभव को पाना ही स्वतंत्रता के पाने का मार्ग है। स्वतंत्रता के अनुभव से ही सच्चा आनन्द है, जो आनन्द इन्द्रियों की पराधीनता से रहित है, जो आनन्द आत्मा का स्वभाव है। इस आनन्द को ही ध्यान की अग्नि का तेज कहते हैं। इसी के द्वारा कर्मफल भस्म होता है और आत्मा प्रकाशता चला जाता है। मैं अब सर्व अन्य कर्मों से विमुख होकर एक अपने ही काम में लगता हूं। निश्चिन्त होकर एकांतसेवी हो परम निरंजन आत्मा रूपी देव का आराधन करके स्वतंत्रता देवी के चरणों में पहुंच जाता हूं और उसी के चरणों में सिर झुकाकर भक्ति में आसक्त होता हुआ परम संतोषपूर्ण आनन्द ले लेता हूं।

---

१६. स्वानुभव वचन-अगोचर है

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता का प्रेमी होकर यह विचार करता है कि स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो। स्वतंत्रता ही सुख का अमूल्य साधन है। परतंत्रता दुःख का प्रवाह बढ़ाने वाली है। अनादि काल से इस संसारी जीव के साथ पुण्य व पाप कर्मों का सम्बन्ध है। इनमें घातीय कर्मों के आवरण से आत्मा की स्वतंत्रता छिपी हुई है। जैसे सूर्य के ऊपर मेघों का पटल आ जावे तो उसका प्रकाश छिप जाता है वैसे आकाश का प्रकाश छिपा हुआ है। तथापि यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जावे तो मेघों के भीतर जैसे का तैसा प्रकाश कर रहा है। उसकी गति व स्वभाव प्रकाश में कोई बाधा नहीं है। उसी तरह से यदि आत्मा को सूक्ष्म

निश्चय दृष्टि से देखा जावे तो वह स्वतंत्र ही है। स्वभाव ही में है। वह अपने पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य व वीतराग भाव में कल्लोल कर रहा है। अपने आत्मा को व जगत की सर्व आत्माओं को एक समान शुद्ध देखना, जानना, रागद्वेष को निर्मूल कर देना है। साम्य-भाव प्रकाश कर देना है।

साम्यभाव ही वह उपाय है जिससे कार्य की परतंत्रता कटती है व आत्म-स्वतन्त्रता निकट आती है।

समभाव मे ही सम्यक्त्व है, समभाव में ही ज्ञान है, समभाव ही में चारित्र है, समभाव ही में तप है, समभाव ही मे मोक्षमार्ग है, सम-भाव परम मंगलकारी उपाय है।

निश्चयनयके द्वारा देखने से समभावो का विचार आता है। इस तरह समभाव के वातावरण को पाकर मैं निश्चयनयके विचार को भी बन्द करता हू और सर्व नयो के पक्षो से अतीत होकर एक अपने ही आत्मीक द्रव्य में आप से ही तन्मय होता हू। आपको ही देखता हू, आपको ही जानता हूं, आपको ही आचरण करता हूं, आपमे ही रमण करता हू। इस धारावाही ज्ञान के द्वारा मैं स्वानुभव को जगा लेता हू। स्वानुभव को पाना ही आत्म स्वातन्त्र्य का उपभोग है, जहाँ पर-मानन्द का स्वाद आता है।

स्वानुभव-वेदी के भीतर सर्व विचारधारा का बहाव रुक जाता है। वह तो इस तरह आपसे आपमे घुल जाता है जैसे लवण की डली पानी में घुल कर एक हो जाती है। यही विकल्प रहित निराकुल दशा है। यही सिद्धगति को जाने का सोपान है।

मैं अब संसार के पतन के मार्ग से उठकर सिद्ध सोपान पर आरूढ़ होता हूं। स्वानुभव की ही चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक ग्यारह सीढ़ियां हैं। जो प्रथम सीढ़ी पर पग रखता है और निश्चलता से जमा कर रहता है वह आगे आगे की सीढ़ी पर पग रखता हुआ बढ़ता हुआ चला जाता है। और एक दिन स्वानुभव की

पूर्णता को पाकर सिद्धगति में पहुंच कर अनन्तकाल के लिये विश्राम करता है। मैंने आज स्वानुभव को पाकर जो आनन्द प्राप्त किया है वह वचन अगोचर है।

---

२०. स्वतंत्रता मोक्ष का मार्ग है

स्वतंत्रता की पूजा करना परमपवित्र कर्तव्य है। स्वतंत्रता-का वास हर एक आत्मा के प्रदेशों में है। इस स्वतंत्रता की पूजा करना परमानंद का कारण है। स्वतंत्रता के सहवास में आत्मीक शक्तियों का विकास होता है। परतंत्र जीवन नरक के समान है।

अनादिकाल से पुद्गल की अनन्त शक्ति ने आत्मा की शक्ति को कोलित कर रक्खा है। इस कारण यह आत्मा पुद्गल के फंद में पड़ा हुआ रात दिन इंद्रिय विषयों के लिये आकुलित रहता है। मोहनीय कर्म के कारण मोही होता हुआ अहंकार व ममकार में फंसा रहता है। अपने स्वरूप को भूले हुए ही परतंत्रता की बेड़ी में जकड़ा हुआ है।

यदि वह अपने द्रव्य स्वरूप को पहचाने, अपनी अनन्त शक्ति को जाने, अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमय स्वभाव की श्रद्धा लावे, अपने को सिद्ध परमात्मा से किसी तरह कम न समझे, अपने को परमैश्वर्य-धारी वीर आत्मा माने और परतंत्रता के कारण इन आठ कर्मों से उदासीनता लावे, इन कर्मों के बन्धनों को काटने योग्य समझे, दृढ़ सम्यक्त्वी होकर स्वानुभव की अग्नि जलावे, तो कर्मों के बंधों को भस्म करता हुआ चला जावे।

भेदविज्ञान के प्रताप से स्वानुभव स्वयं उमड़ कर आता है। स्वानुभव अपने स्वरूप के वेदन को कहते हैं। जब यह उपयोग सर्व पर से उदास होकर अपने ही स्वभाव में आसक्त होकर आपसे आपमें रमण करता है तब ही स्वानुभव का उदय हो जाता है।

स्वानुभव प्राप्त करना स्वतंत्रता की पूजा है, स्वतंत्रता के किले में वास करना है। स्वतंत्रता की निर्मल सुगन्ध का लेना है।

स्वानुभव के प्रताप से सर्व परतन्त्रता के कारण कर्मों का अंत होता है और वह आत्मा सदा के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है।

इसी उपाय से अनन्त आत्माओं ने स्वतन्त्रता लाभ की है। जो पर के मोही रहकर भी पर के बंधन से छूटना चाहते हैं, परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़े रह कर ही स्वतन्त्र होना चाहते हैं, सो ऐसा कभी हो नहीं सकता।

परतंत्रता के कारणों के साथ पूर्ण असहयोग करना और स्वतंत्रता के साथ पूर्ण प्रेम करना ही स्वतन्त्रता प्राप्ति का साधन है।

मैं अब सर्व परतंत्रकारी भावों से वैराग्यवान होकर अपने ही स्वतन्त्र ज्ञानानन्दमय स्वभाव में विश्रान्ति लेता हूं और अपने ही शुद्ध भाव को अपने ही भीतर रमाता हूं। यही उपाय सदा परमानद का दाता व मोक्ष का मार्ग है।

---

२१. मेरा सच्चा प्रभु

एक ज्ञानी महात्मा एकान्त मे बैठ कर अपनी स्वतंत्रता का स्मरण कर रहा है। परतन्त्रता के कारणो को दूर करने का विचार कर रहा है।

इसको भासता है कि यह परतंत्रता उसी की ही बनाई हुई वस्तु है। उसी ने ही जगत के पर पदार्थों से मोह किया, रागद्वेष किया। तब ही पुण्य व पाप कर्मों का बधन हो गया। उन बधनो से जकड़ कर उसके आत्मा का स्वभाव आच्छादित होता रहा। उसका विकास रुकता रहा। वह कर्म जनित भावो मे आपापन मानता रहा। जो अपना नही है उसको अपनाता रहा। इस अज्ञानमय अहंकार तथा ममकार के कारण यह अपने स्वभाव को बिल्कुल भूलता रहा। तब पर पुद्गल का स्वागत करता रहा। तब पर पुद्गल का सहयोग सदा ही मिलता रहा। कभी भी आपको आप जाना नही। आपका श्रद्धान किया नही। आप से आपका स्वाद लिया नहीं। इसीसे परतंत्रता की

बेड़ो में जकड़ा हुआ देव, मानव, तिर्यञ्च तथा नरकगति में पड़कर कर्मों का भोग करता हुआ आकुलित रहा, कभी भी निराकुल आध्यात्मिक आनंद का स्वाद पाया नहीं। अपूर्व व अनुपम सम्पत्ति अपने ही आत्मा मे भरी है उसका कभी खयाल नहीं किया। सुख शांति के लिए रात दिन लालायित रहा। यह कभी नहीं जाना कि वह अपने ही भीतर है। जैसे कोई जन अपनी मुट्ठी में सुवर्ण दबा होने पर भी भूल जावे और उसे यह समझकर कि कही गिर गया है तीन लोक में ढूंढ़ता फिरे तब भी उसे मिल नही सकता यही दशा मुझ परतन्त्र आत्मा की हुई है। अपनी सुखशांति अपने ही पास है तो भी मैं बिल्कुल भूला हुआ रहता चला आया।

श्री जिनेन्द्र के चरण कमल प्रताप से श्रीगुरु की वाणी का लाभ हुआ। श्रीगुरु ने पता बता दिया है, मुझे मेरा भण्डार सुझा दिया है, मुझे सुख शांति के लाभ का उपाय जंचा दिया है। मेरी आंखे खुल गई हैं। अनादिकाल से जो ज्ञान की आंखे बंद थी वह श्रीगुरु के उपदेश रूपी अंजन के प्रताप से उघड़ गई है। जो जगत रागद्वेष मोहवर्द्धक दीखता था वही जगत द्रव्यार्थिकनय से देखते हुये समरूप दिखाई पड़ रहा है।

मुझे अब पर पुद्गल से रागद्वेष, मोह दूर करना है। वीतराग भावों में कल्लोल करना है। अपने ही आत्मा के ज्ञानानंदमय स्वभाव में श्रद्धान रखना है। अपनी ही अमूर्तीक तेजस्वी सूरत की झांकी करनी है। वही मेरा सच्चा प्रभू है, वही मेरा सच्चा मित्र है, वही मेरा सच्चा पथप्रदर्शक है। वही ध्येय है, मैं ध्याता हूं। वही ज्ञेय है मैं ज्ञाता हूं। वही पूज्य है मैं पूजक हूं वही दृश्य है मैं दृष्टा हूं। वही आराध्य है मैं आराधक हूं। इतने दरजे तक पहुंच कर आप में तो बिलकुल आप में ही एकतानता से विश्राम करता हूं। ध्येय ध्याता पूज्य पूजक की तरंगों से मुक्त होता हूं। समुद्र की भांति निश्चल

होकर पूर्ण स्वतंत्रता का स्वाद लेता हुआ अद्‌भुत आनंद प्राप्त करता हूं। वह आनन्द मन वच काय से अगोचर है। केवल अनुभवगम्य है।

---

२२. स्वानुभव

एक ज्ञानी आत्मा निश्चिन्त होकर स्वतंत्रता का मनन करता है तब यह जानता है कि हरएक आत्मा में एक सामान्य अगुरुलघु गुण है जिसके कारण हरएक आत्मद्रव्य, जिन अपने अनंतगुण व अनंत पर्यायों का स्वामी है, उन अनतगुण व पर्यायों का सदा स्वामी बना रहता है। एक भी गुण उसमे अधिक जुड़ता नही, एक भी गुण उसमें से निकल जाता नही, जगत मे किसी की सामर्थ्य नहीं है जो द्रव्य की इस स्वाभाविक स्वतत्रता को हरण कर सके। इसीलिए हरएक आत्मा अपने द्रव्यमई स्वभाव से परम स्वतत्र है, किसी के आधीन नहीं है जो द्रव्य की इस स्वाभाविक स्वतत्रता को हरण कर सके। इसीलिए आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, आनन्द आदि गुणो के भीतर कल्लोल कर रहा है, परमानद का अनुभव कर रहा है।

जहा कोई भी बाधक कारण नही होता है वही पूर्ण स्वतंत्रता का साम्राज्य रहता है।

जो किसी भी प्रकार की पर को शृङ्खला में बद्ध हो जाता है वह पराधीनता का महान कष्ट सहन करता है। संसारी जीव कर्मों की शृङ्खला से बद्ध होते हुए व अपनी शक्तियो का विकास न पाते हुए रागद्वेष मोह के विकारों से विकृत हो रहे है इसलिए कर्मबन्ध की संतति चलती रहती है। कर्मचेतना व कर्मफलचेतना का अनुभव आता रहता है। कभी भी ज्ञानचेतना का अनुभव नहीं आता।

अन्तरात्मा सम्यक्त्वी जीव इस पराधीनता के भीतर रहते हुए भी शुद्ध निश्चयनय के प्रताप से अपने स्वरूप को पर से भिन्न अनुभव कर लेता है। वह ज्ञानी जानता है कि भिन्न २ द्रव्यों के सम्बन्ध होने पर

भी तथा परस्पर एक दूसरे में विभावता उत्पन्न करने पर भी एक द्रव्य कभी भी दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता है। वह द्रव्य अपनी द्रव्य शक्ति से सदा ही स्वतंत्र व पूर्ण बना रहता है। इस द्रव्य शक्ति का श्रद्धान ज्ञान तथा अनुभव करना ही वह उपाय है, जिससे परतंत्र व्यक्ति कर्मों के बन्धन से धीरे २ छूटकर स्वतंत्रता का प्रकाश कर लेता है।

स्वानुभव ही स्वतंत्रता पाने का मार्ग है। स्वानुभव ही वह उपाय है जिससे आत्मानंद का स्वाद आता है। स्वानुभव के ही प्रताप से इन कल्पकाल के ऋषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने अपनी-अपनी स्वतंत्रता प्राप्त की है। मैं भी इस भवबंधन में जकड़ा हुआ होकर उससे छूटने के लिए स्वानुभव की शरण लेता हूं। मुझे निश्चय है कि स्वानुभव के प्रताप से ही मैं अपनी स्वतंत्रता को पाकर परमानंदित रहता हुआ सदा ही मुक्त व स्वतंत्र रहूंगा।

---

२३. आत्मानुभूतियां

एक ज्ञानी आत्मा सर्व संकल्प विकल्पों से शून्य होकर एकान्त में बैठकर अपने आत्मा की स्वतंत्रता पर विचार करता है। वह मन जो सर्व प्रकार का तर्क वितर्क करता है, जिसके द्वारा आत्मा व अनात्मा का भेद ज्ञान मनन किया जाता है, कभी दृढ़ संकल्प करता है, कभी संकल्पों को शिथिल कर देता है वह मन मैं नहीं हूं। मैं मन से परे एक अनुभवगम्य द्रव्य हूं। मेरी भूमिका को कोई भी पर द्रव्य आत्मा हो या अनात्मा, परमाणु हो या स्कंध, द्रव्यकर्म हो भावकर्म या नोकर्म हो, स्पर्शित नहीं कर सकता है। मैं सबसे निराला हूं। अनुपम वेमिसाल हूं! मैं सदा ही स्वतंत्र हूं। स्वतंत्रता से ही अपने अनंत गुणों में परिणमन करता रहता हूं। इस मेरी स्वतंत्रता को कोई हरण नहीं कर सकता। कोई कम या अधिक नहीं कर सकता है। इस स्वतंत्रता के वास को जो यह मानता है और जो इसी निज स्वरूप का दर्शन करता है वही स्वतंत्र हो जाता है।

जो जैसी भावना भावै वह वैसा हो जावे। स्वतंत्र स्वरूप की भावना स्वतंत्र करने वाली होती है। व्यवहार नयके द्वारा जितना भी संसार का नाटक दिख रहा है उस सबको असत्य व मायाजाल जान-कर व्यवहार की ओर से मुख को मोड लेना चाहिये। स्वप्न में भी व्यवहार पर लक्ष्य न देना चाहिये।

मात्र एक निश्चय नय का ही आश्रय करना चाहिये। निश्चय-नय परम शरण है, परम उपकारी है, परम मगल स्वरूप है। शुद्धा-त्मा को प्रत्यक्ष दिखलाने वाली है। राग द्वेष मोह की जड़ को काटने वाली है। परमानन्द का स्वाद दिखलाने वाली है। कर्मों के बन्ध को काटने वाली है। आपको आपसा ही बताने वाली है। पर आत्माओं को भी आपसा झलकाने वाली है। सर्व विश्व मे शांतरस का प्रवाह बहाने वाली है। आनन्दामृत का समुद्र झलकाने वाली है। स्वतन्त्रता का साक्षात् दर्शन कराने वाली है। मैं इसलिए निश्चयनय का आश्रय लेता हूं।

अपने को एकाकी परमानन्द स्वरूप अनुभव करता हू। जब स्वानुभव में जम जाता हू, तब निश्चयनय के सहारे को भी छोड़ देता हूं। जब छत पर पहुंच गये तब जीने की सीढियों का क्या काम ?

जब अपना प्रभु अपने को मिल गया तब निश्चयनय का विचार या व्यवहारनय का विचार दोनो भी अकार्यकारी हैं। मेरा स्वरूप तो नय, प्रमाण, निक्षेपादि विकल्पो से शून्य है। तथापि अनंत स्वाभाविक गुणों का स्वामी होने से अशून्य है। मैं अपने ही अलौ-किक अमूर्तिक गृह में विश्रांति लेता हू और परम रुचि से अपनी आत्मानुभूति त्रिया का दर्शन करके परम संतोषी हो जाता हूं।

---

२४. मानव धर्म

एक ज्ञानी आत्मा "परतंत्रता के फंदे में पड़ा हुआ विचारता है कि इस फंदे से कैसे छुट्टी पाऊं। तुर्त उसका विवेक ज्ञान उसे यह बुद्धि देता है कि परतंत्रता को देखना ही परतंत्रता का स्वागत करना है। परतंत्रता का नाश तब ही होगा जब परतंत्रता के ऊपर दृष्टिपात न करके केवल स्वतंत्रता पर दृष्टि रखकर स्वतंत्रता का ही मनन किया जायगा। परतंत्रता से उदासी तथा स्वतंत्रता से मित्रता, परसे असहयोग व स्वय से सहयोग ही स्वतंत्रता का साधन है। मैं केवल एक आत्मा द्रव्य हू। अनात्मा का मेरे साथ कोई सम्बन्ध नही है। आत्मा मे आत्मापने का अस्तित्व है। अनात्मापने का नास्तित्व है। आत्मा आत्मा ही है, अन्य कुछ नही है। न इसमें कोई विकार था, न है न हो सकता है। न इसमे मिथ्यात्व था न है न हो सकता है। न इसमे अज्ञान था न है न हो सकता है। न इसमें असंयम था न है न हो सकता है। न इसमें कषाय भाव था न है न हो सकता है। न इसमे चचलता थी न है न हो सकती है। यह तो परम शुद्ध द्रव्य है। अपने ही सामान्य तथा विशेष गुणों का अटूट व अमिट भण्डार है। परम ज्ञानी है, परम वीर्यवान है, परम सम्यक्त्वी है, परम वीतराग है, परमानदमई है, परम आत्मीक रसभोगी है, परम कृतकृत्य है। न कर्ता है न भोक्ता है। न वहा उत्पाद है न वहां नाश है। वहां तो टंकोत्कीर्ण स्वसमाधिमय स्वस्वरूपावलंबी है। कोई भी सांसारिक व वैभाविक परिणमन का वह स्थान नहीं है। सर्व प्रकार की कल्पनाओं से अतीत है। मन में जिसका स्वरूप विचारा नहीं जा सकता, वचन जिसे प्रगट नहीं कर सकते। काय की चेष्टा से भी वह जानने में नहीं आता। ऐसा कोई अपूर्व आत्मा मैं हूं। मैं पूर्ण स्वतंत्र हूं। केवल स्वानुभव-गम्य हूं। पर से अव्यक्त हू। आपसे आपको व्यक्त हूं। ऐसे स्वतत्र स्वरूप पर लक्ष्य रखना, परतत्रता से पूर्ण उपेक्षित होजाना, यही स्वतंत्र होने का अमोघ मत्र है। इस अमोघ मंत्र के प्रयोग में कष्ट

नहीं, आकुलता नहीं, परिश्रम नहीं, परावलम्बन नहीं, पर से कोई याचना नहीं।

अपने ही आत्मा के निर्मल प्रदेशरूपी घर मे विश्राम करना स्वतंत्रता का उपभोग करना है। अनन्तानन्त सिद्ध स्वतंत्रता भोगी हैं। अनेक अरहत स्वतंत्रता भोगी हैं। सर्व ही आचार्य, उपाध्याय, व साधु स्वतंत्रता भोगी है. सर्व ही श्रावक स्वतत्रता भोगी हैं। सर्व ही सम्यग्दृष्टी स्वतत्रता भोगी हैं। स्वतत्रता ही जिनधर्म है। जो स्वतंत्र है वही जैनी है, जो स्वतत्र है वही सम्यग्दृष्टी है, जो स्वतंत्र है वही आर्य है, जो स्वतंत्र है वही महाजन है, जो स्वतत्र है वही क्षत्रिय है, जो स्वतंत्र है वही ब्राह्मण है, जो स्वतत्र है वही मानव है स्वतत्रता ही मानव का धर्म है। मैं इस धर्म को धारण कर उत्तम अतीन्द्रिय सुख का भोग कर रहा हूं।

---

२५. आत्मा पर आरोप !

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार की चर्चाओं से उदासीन होकर एकांत में जाता है और थिरतापूर्वक आत्म-स्वातंत्र्य का स्वरूप विचार करता है।

आत्मा का स्वतत्र स्वभाव सर्व विचारों से रहित है, निर्मल स्फटिक के समान है, पवित्र काल के समान है, स्वच्छ वस्त्र के समान है, कुन्दन सुवर्ण के समान है, शुद्ध चा ल.के समान है। सूर्य के समान स्व पर प्रकाशक है। चन्द्रमा के समान शांत आत्मानन्द अमृत का बरसाने वाला है। कमल के समान सदा प्रफुल्लित है। उस आत्मा के शुद्ध स्वभाव में कोई भी बाधक कारण नहीं है। किसी भी कर्म के परमाणु की शक्ति नहीं है, जो उसके स्वरूप में प्रवेश कर सके व कोई विकार उत्पन्न कर सके।

आत्मा का स्वभाव परम स्वतंत्र है। उसमें परतंत्रता की कल्पना करना आत्मा के स्वभाव की निन्दा करना है। संसार आत्मा के है यह कहना आत्मा का बड़ा भारी अपवाद है।

आत्मा रागी है, द्वेषी है, क्रोधी है, मानी है, मायावी है, लोभी है, भयवान है, जुगुप्सावान है, रतिरूप है, अरतिरूप है, शकारूप है, कामी है, इच्छावान है, अज्ञानी है, अल्पवीर्यवान है, नारकी है, देव है, पशु है, मनुष्य है, एकेंद्रिय है, द्वेन्द्रिय है, तेइन्द्रिय है, चतुरिंद्रिय पंचेन्द्रिय है, बालक है, वृद्ध है, युवान है, बन्ध मे है, बन्ध को काट रहा है, बन्ध को काट चुका है, आत्मा आस्रववान है, आत्मा मिथ्यात्वी है, आत्मा अविरत है, आत्मा कषायवान है, आत्मा चंचल है, आत्मा संवर कर रहा है, आत्मा धर्मध्यान साध रहा है, आत्मा शुक्ल ध्यान कर रहा है, आत्मा तापसी है, आत्मा उपवास करता है, आत्मा ऊनोदर करता है, आत्मा रस त्यागी है, आत्मा प्रायश्चित्त लेता है, आत्मा विनयवान है, आत्मा वैय्यावृत्य करता है, आत्मा कायोत्सर्ग में है, इत्यादि सर्व ही आरोप आत्मा के स्वतंत्र स्वभाव मे बाधा उत्पन्न करने वाले है। कर्मों की संगति से जो जो अवस्था विशेष होती है उसको आत्मा की कहना व्यवहार है, उपचार है–यथार्थ नही, भूतार्थ नहीं।

जो भव्यात्मा सर्व व्यवहार की मलीन दृष्टि को दूर करके केवल निश्चय की शुद्ध दृष्टि को रखता हुआ देखता है, उसे हर एक आत्मा परम स्वतंत्र झलकता है। यही स्वतंत्र झलकाव, स्वात्मानुभव का कारण है। स्वात्मानुभव ही साधक के लिये साध्य प्राप्ति का उपाय है। मैं अंतरंग में सर्व तरह से निश्चिन्त होकर एक अपने ही स्वतंत्र आत्म–स्वभाव का मनन करता हुआ आत्मानन्द का स्वाद लेता हुआ परम तृप्त हो रहा हूं।

---

२६. आत्मा और कर्म

एक ज्ञानी आत्मा परम संतोष के साथ अपने भीतर स्वतन्त्रता का स्मरण करके परम आनन्दित हो जाता है। स्वतन्त्रता अपने ही आत्मा का एक गुण है। वह कभी गुणी आत्मा से अलग नही हो सकता है।

स्वतन्त्रता का ध्यान ही स्वतन्त्र होने का उपाय है। आत्मा के साथ कर्मो का कोई सम्बन्ध नही है। कर्म सब जड़ है। आत्मा चैतन्य धातुमय मूर्तिधारी है। कर्म क्षणभगुर है। आत्मा स्वभाव से अविनाशी है। कर्म विभाव भावों के उत्पादक है। आत्मा स्वयं शुद्ध स्वभाव-धारी है। कर्म सासारिक दुःखसुख के मूल बीज है। आत्मा स्वयं आनद स्वरूप है। इस तरह जो आत्मा को आत्मारूप जानकर आत्मा को अपनाता है वह सदा ही आनन्द मे कल्लोल करता है। कर्म पुद्‌गल परमाणुओ के समूहरूप है, अनेक रूप है। आत्मा कर्म पटल रहित बिल्कुल शुद्ध सूर्य समान प्रकाशमान है। कर्मो का स्वभाव मेरे आत्मा के स्वभाव से सर्वथा भिन्न है।

यद्यपि अनादिकाल से कर्मों के तीव्र उदय ने ही आत्मा की शक्तियो को कील रखा है तो भी कर्मो का कोई सम्बन्ध इस आत्मा से नही है—मैं निराला हू। त्रिकाल मे भी आत्मा का कोई सम्बन्ध इन कर्मों के साथ नही है। कर्मरहित आत्मा ही को सिद्ध भगवान कहते हैं। तो क्या मैं वास्तव मे शुद्ध हू ? निःसन्देह मैं परम शुद्ध हूं।

इस सम्यक् प्रतीति को लिये हुए जो कोई साधक आत्मा की सिद्धि के लिए कटिबद्ध हो जाता है वह केवल एक निज आत्मा का ही मनन करता है। इसी वस्तु के विचार से यह भव्य जीव अपने भीतर मोक्षमार्ग का झलकाव पा लेता है।' सर्व विश्व निराला है, मैं निराला हूं, मैं यद्यपि विश्व ही में हू तथापि निर्लेप हू। इस अपनी स्वानुभूति के प्रताप से स्वानुभूतिमय मोक्ष का विश्वास कर लेना ही मुमुक्षु जीव का कर्तव्य है।

ज्ञानी एक अपने ही आत्म द्रव्य को पुद्गल के समूह में से उसी तरह खींच लेता है जिस तरह न्यारिया रज समूह से सुवर्ण को खींच लेता है। मधुमक्षिकाएं पुष्पों से मधुरस को भी इसी तरह खींच लेती हैं कि पुष्पों को कुछ बाधा नही होती है। अपने आत्मा के यथार्थ स्वभाव के दर्शन करना ही परम हितकर है।

स्वतंत्रता के सशक्त बुद्धिधारी महात्मागण जिस तरह हो सके उस तरह केवल अपने एक आत्माराम के ही दर्शन करते हैं, पर से विमुख हो आत्मा के भीतर ही सन्मुखता रखते है, स्वतन्त्रता के बाधक कर्मों का क्षय करते चले जाते है। एक दिन पूर्ण स्वतन्त्र हो अनन्तकाल के लिये कृतकृत्य हो जाते हैं।

ए स्वतन्त्रता ! तेरी सदा जय हो। जो तुझे प्रतिष्ठापूर्वक बिठाता है वेह अवश्य परतन्त्रता से छूट कर शीघ्र ही स्वतन्त्र हो जाता है।

---

२७. शुद्ध दृष्टि

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपचजालो से रहित होकर एकान्त सेवी हो अपने ही स्वतन्त्र स्वभाव का मनन करता है, तब उसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभावमय पाता है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल परभावो से शून्य देखता है तब वहां परतन्त्रता का कोई कारण दृष्टि-गोचर नही होता है। जब निज आत्मद्रव्य के साथ परद्रव्य का संयोग कल्पा जाता है तब ही दृष्टा को दृष्टि मे परतन्त्रता का विकार देखने में आता है। यह दृष्टि सदा परतन्त्र रखने वाली है। द्रव्य-शुद्धदृष्टि के द्वारा निज द्रव्य का अवलोकन ही वह उपाय है जिसके द्वारा यह आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र भोगी होता है। जहाँ स्वद्रव्य का दर्शन है वहीं मोक्षमार्ग है। वहीं आत्मीक स्वभाव की श्रद्धारूप सम्यक्त्व है, वहीं आत्मा का यथार्थ ज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान है, वहीं आत्मा मे रमणरूप है, वही निश्चय रत्नत्रय की एकता है।

जिस दृष्टि में न बंध है, न मोक्ष है, न आस्रव है, न संवर है, न संसार है, न असंसार है, न भ्रमण है, न अभ्रमण है, न प्रमत्तदशा है, न अप्रमत्तदशा है, न मिथ्यात्व है, न सम्यक्त्व है, न अज्ञान है, न ज्ञान है, न कषाय है, न अकषाय है, न अव्रत है, न व्रत है, न योग है, न अयोग है, न सुख है, न दु ख है, न राग है, न वैराग्य है, न द्वेष है, न अद्वेष है, न मोक्ष है, न निर्मोह है, न पूज्य है, न पूजक है, न ध्येय है, न ध्याता है, न ज्ञय है, न ज्ञाता है, न शुद्ध है, न अशुद्ध है, न एक है, न अनेक है, न ध्रुव है, न अध्रुव है, न अस्ति है, न नास्ति है, न वक्तव्य है, न अवक्तव्य है, न मनुष्य है, न पशु है, न देव है, न नारक है, न स्त्री है, न नपुसक है, न पुरुष है, न ग्रामीण है, न नागरिक है, न बालक है, न युवा है, न वृद्ध है, न जन्म है, न मरण है, न कर्ता है, न भोक्ता है, न किसी का संयोग है, न वियोग है, उस शुद्ध दृष्टि की जय हो जिसके प्रताप से हर स्थान व हर पद मे स्वतन्त्रता के ही दर्शन होते हैं, जिस दृष्टि से सर्व तरफ शुद्ध ज्ञानरूपी आत्मा ही नजर आती है। इस दृष्टि के बल से सर्व विश्व एक शुद्ध आत्मारूपी ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है, भले ही पुद्गलादि द्रव्य रहो यह दृष्टि उस परकी तरफ उपेक्षित रहती है। केवल एक स्व-शुद्ध द्रव्य की ओर व उसी तरह पर शुद्ध द्रव्य की ओर सन्मुख रहती है। तब परम शातिमय अध्यात्मसागर बन जाता है। यह ज्ञानी स्वतन्त्रतापूर्वक इसी के सागर में मगन रहता हुआ जो अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करता है वह वचन अगोचर है। मात्र एक अनुभवन करने के योग्य है।

---

२८. मोहनीय नशा

एक ज्ञानी आत्मा एकांतसेवी होकर स्वतन्त्रता की तरफ जब झाँकता है तब उसको अपने पास घर किये हुए परतन्त्रता की फांसी को

देखकर बहुत बड़ा खेद होता है। वह विचारता है कि कहां मैं परब्रह्म स्वरूप अनन्त शक्तिधारी, परमानन्दमय, अनन्त बली, सर्वज्ञ व सर्वदर्शी, परम अमूर्तीक, परम वीतराग, परम कृतकृत्य व संतोषी और कहां यह दशा जो मैं अज्ञान में व क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय में व सांसारिक दुःख व सुख में व नाना प्रकार के मन के विचारों में उलझा हुआ शरीर के ही ममत्व में पड़ा हुआ हूं और रातदिन इन्द्रियों की वासना को तृप्त करने के प्रयत्न में उलझा हूं। खेद है कि मैं मोहनीय कर्मों के नशों को पीकर बेहोश हो रहा हू। अपनी ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य की परम महती सम्पत्ति भूलकर दीन हीन इन्द्रिय सुख की कामना मे क्षोभित हो रहा हू। मेरी अवस्था दया के योग्य है। मैंने ही अपनी अविद्या से मिथ्या परिणति से अपने को संसार दशाधारी मान कर उसकी संसार मुक्त स्वाभाविक दशा का स्मरण ही छोड़ दिया है।

अब मैं क्या करूं? कैसे मैं कार्माण शरीर की पराधीनता को मिटाऊं? यह कार्माण शरीर ही अन्य शरीरों का व सांसारिक अवस्थाओं का मूल कारण है। वास्तव में मेरी ही आसक्ति ने मेरे पास कर्मों का बन्धन बना रक्खा है। इस कर्मबन्ध के दूर करने का यही उपाय है कि इस कर्मबन्ध से उदासीन हो जाऊं, उसका स्वागत करना छोड़ दूं। जब कभी पुण्य कर्म के उदय से साताकारी वस्तुएं मिलें तब भी मैं उदासीन रहूं व जब कभी असाता वेदनीय के उदय से असाताकारी वस्तुएं मिले तब भी उदासीन रहूं। और संतोष से दुःखों को झेल लूं। यह समझूं कि ये सब दुःख मेरे ही कर्मों का फल है, मेरा ही लाया हुआ है।

इस तरह कर्मों के साथ जो अब तक प्रीति थी उसे मैं छोड़ दूं व उनको एकत्र करने वाले शुभ व अशुभ भावों से भी मैं राग छोड़ूं। व शुभ अशुभ कार्यों से भी वैराग्यवान हो जाऊं। एक अपने आत्मा के स्वभाव का रुचिवान हो जाऊं, प्रेमी हो जाऊं, उसी में आसक्ति

जमाऊं व रातदिन उसी का ही मनन करू, उसी के साथ पाठ करूं, उसी की संगति में शांति को प्राप्त करू, परमानन्द का लाभ करूं। मुझे विश्वास है कि स्वतन्त्रता का पुजारी अवश्य स्वतन्त्र हो जाता है।

मैं जब सर्व पर से नाता तोड़, एक अपने ही शुद्ध स्वभाव से हित जोड़ इसी स्वभाव के भीतर भरे हुए आनन्द सागर में ही स्नान करूंगा और उसी आनन्दामृत का ही भोजन करके अमर हो जाऊंगा।

---

२६. परतन्त्रता का स्वांग

एक ज्ञानी आत्मा अपने भीतर परतत्रता के रगो को देख कर विचार करता है कि वे सब रग मुझसे भिन्न पुद्गल द्रव्य का विकार है। मैं श्वेत वस्त्र के समान स्वच्छ हू, परम शुद्ध हू, अविनाशी सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हू, परमानन्द रूप हू, परम निर्विकार हूं। मुझे ही परमात्मा, ईश्वर, परमब्रह्म, सिद्ध, निरन्जन, परमदेव, देवाधिदेव, महादेव, परम विशुद्ध, परम शकर, परम शून्य, शुद्ध द्रव्य कहते हैं। मेरा स्वभाव सदा ही स्वतन्त्र है। मेरे मे पर का संयोग है। परकृत विकार है। कर्म का मेल है। वह भाव भी आना शोभता नही है।

मैं केवल एक अकेला आपके ही एकत्व स्वभाव मे कल्लोल करने वाला हू। मेरी अशुद्ध दृष्टि ने मुझे ससारी दिखाया है। रागद्वेष का व ज्ञानावरणादि कर्म का कर्ता, सुख दुख का व कर्म फल का भोक्ता झलकाया है। न मै ससारी हू, न मुझे ससारी से सिद्ध होना है। मेरी मलीन दृष्टि ने ही परतन्त्रता का स्वाग बनाया है।

इस अशुद्ध दृष्टि को धिक्कार हो। इस ही से सर्व प्रकार की आकुलता, क्लेश व क्षोभ होता है। मैं शुद्ध दृष्टि से ही देखूगा। उस दृष्टि मे कभी विकार नही, रागद्वेष नही, किन्तु परम समभाव का

परम शांत समुद्र दिख जाता है। उसमें मज्जन करने से सदा ही परमानन्द का स्वाद आता है।

शुद्ध दृष्टि झलकाती है कि यह लोक छः मूल द्रव्यों का समुदाय है। सर्व द्रव्य अपनी मूल सत्ता में व शुद्ध स्वभाव में विराजमान हैं। तब सर्व ही द्रव्य एक दूसरे से भिन्न-भिन्न परम निर्विकार दिख पड़ते हैं। जैसे–सदा ही निर्विकार व शुद्ध रहने वाले धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश द्रव्य, अपनी अपनी एक अखंड सत्ता को रखते हुए दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही असख्यात कालाणु रत्नो की राशि के समान पृथक-पृथक निर्विकार झलकते हैं।

इसी तरह अनन्तानन्त पुद्गल द्रव्य के परमाणु अपने मूल स्वभाव मे प्रकाशित होते हैं। इन सर्व पाच द्रव्यों को व अपने को जानने वाला चेतनामई द्रव्य आत्मा है। अनन्तानन्त आत्माएं भी अपने मूल स्वभाव से परम शुद्ध झलकते है। आप भी शुद्ध, दृष्टा भी शुद्ध, देखने योग्य पदार्थ भी शुद्ध, विकार का कोई कारण ही नही है। इस शुद्ध दृष्टि से देखते हुए समभाव रूपी अमूल्य चारित्र का प्रकाश होता है। इसी चारित्र की चर्या को स्वात्म प्रकाश कहते हैं। जो इस प्रकाश मे चमकते है वे ही परम सुखी, परम सतोषी व परम पुरुष महात्मा है।

---

३०. सच्चा सम्यग्दृष्टि

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विषयो से व कषायों से मुंह मोड़, सर्व पौद्गलिक विकारों से उदासीन हो सर्व परद्रव्य, परभाव, परक्षेत्र, परकाल से नाता तोड़ एक अपने ही निजद्रव्य, निजभाव, निजक्षेत्र, निजकाल पर आरूढ़ हो जाता है और तब देखता है कि वह पूर्णतया स्वतन्त्र है। उसमें कोई भी परतन्त्रता नहीं है। वह सूर्य समान स्वपर प्रकाशक होकर प्रकाशवान है। कमल समान परमशीतलता व सुन्दरता

से प्रफुल्लित है। क्षीर समुद्र समान परम गम्भीर है व रत्नत्रयों से परिपूर्ण है व शातामृत आत्मानुभवी जल से भरा–रागद्वेषादि कल्लोलों से रहित है। चन्द्रमा समान परम शीतल है। पवन के समान असंग है। पृथ्वी के समान क्षमावान है। अग्नि के समान कर्म ईंधन का दाहक है। वही परमेश्वर है, परब्रह्म है, परमात्मा है, परम अमूर्तीक है, परम शुद्ध है, अकर्ता है, अभोक्ता है, जन्म जरा मरण से रहित है, शोकादि दुःखो से शून्य है, इन्द्रियो की तृष्णा से बाहर है, मन की चिन्ता से परे है, ज्ञानावरणादि कर्मों के सयोग से शून्य है। रागद्वेषादि असख्यात लोकप्रमाण कषाय भावो से रहित है। दर्शन व्रत सामायिकादि ग्यारह श्रावक की प्रतिमाओ से बाहर है। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ, स्नातक इन पाच प्रकार साधु वर्गों से परे है। एकेन्द्रियादि १४ जीव समासो से दूर है। मिथ्यात्व आदि १४ गुणस्थानो से उत्तीर्ण है। गति इन्द्रिय आदि १४ मार्गणाओ के भेदो से भिन्न है। वह एक है, निस्पृह है, केवल है, सिद्ध है, शुद्ध है, निर्विकार है।

इस तरह आपको वचनातीत, मनातीत देखते हुए वह ज्ञानी एक ऐसी दशा में पहुंच जाता है जिसे स्वानुभव कहते हैं। यहीं सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की एकता प्राप्त होती है, यहीं परमानन्द का स्वाद अनुभव मे आता है, यहा जैन धर्म का साक्षात् दर्शन होता है, यही मोक्ष की भी झाकी मिल जाती है। जो इस स्वाधीनता को प्राप्त करता है वही परम स्वतत्र भोगी रहकर जीवन को सफल करता है। गृही हो वा साधु हो, वही सन्त है, महात्मा है, वही सच्चा जिनभक्त सम्यग्दृष्टी है।

---

३१. स्वात्मानन्द की प्राप्ति

एक ज्ञानी आत्मा सर्व चिताओ को दूर रख कर अशरण भावना भाता है। विचारता है कि मेरे जीव का शरण दूसरा कोई नहीं है।

किसी अन्य में शक्ति नहीं है जो आत्मा को स्वतन्त्रता प्रदान कर सके, जो आत्मा को ज्ञान-भण्डार दे सके, जो आत्मा को अनन्त बल प्रदान कर सके, जो आत्मा को नित्य आनन्द का लाभ कर सके, जो आत्मा को भव-भ्रमण से मुक्त कर सके, जो आत्मा की जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, वियोग के कष्टों से मुक्त कर सके। न कोई आत्मा किसी भी आत्मा को कुछ दे सकता है, न पुद्‌गल से आत्मा को कोई गुण प्राप्त हो सकता है। वास्तव में आपका शरण आप ही है, आपका रक्षक आप ही है, आप ही दातार है आप ही पात्र है, आप ही गुरु है, आप ही शिष्य है, आप ही नेता है, आप ही आज्ञाकारी है, आप से ही आपको परम लाभ हो सकता है। इसलिये ज्ञानी आत्मा सर्व पर पदार्थों की शरण को त्याग कर एक निजत्व की ही शरण ग्रहण करते हैं। निज द्रव्य को अपना द्रव्य, निज गुण को अपना गुण, निज पर्याय को अपनी पर्याय समझते हैं। निज सत्व को अपना सत्व जानते हैं। अनादि काल से इस मोही जीव ने परका शरण ग्रहण किया, पर की चाकरी करी, परकी आशा करी, परन्तु इस परावलम्बन से कभी भी परतन्त्रता का लाभ नहीं हुआ।

जो स्वतन्त्रता चाहता है उसे अपने आत्मीक बल पर भरोसा करके खडा हो जाना चाहिये। पर का किंचित भी आलम्बन न रखना चाहिये। अपने ही आत्मा के असंख्यात प्रदेश रूपी भूमि पर खड़े होना चाहिये, अपनी ही सत्ता पर अपना वास-स्थान बनाना चाहिये, चारों तरफ शुद्ध भाव के दृढ़ कपाट लगा देना चाहिये, जिसमे एक परमाणु मात्र के भी आने को अवकाश न मिले। त्रिगुप्तिमय दुर्ग में बैठ जाना चाहिये, अपने ही सत्तारूपी घर में विवेक के द्वारा आत्मानुभूति की अग्नि जलानी चाहिये, उसी आग पर आत्मबल के बासन में ध्यान के चावलों को पका कर मनोहर भात बनाना चाहिये। वैराग्य के मिष्ट रस में स्नान कर उस सुन्दर भात को खाकर आत्मानन्द का लाभ करना चाहिये। इस परम गरिष्ट भोजन को खाकर योगनिद्रा लेनी

चाहिये। अप्रमाद की शैया पर शयन करना चाहिये। योगनिद्रा के भीतर आत्मीक विभूति के मनोहर स्वप्न देखने चाहिये। कभी निद्रा से जग कर स्वाध्याय के स्वच्छ जल से स्नान कर ताजा होना चाहिये। इस भात के खाने से विकार नही होता है। फिर भी उसी तरह से मिष्ट भात बना कर खाना चाहिये, आत्मानन्द पाना चाहिये व योगनिद्रा मे शयन करना चाहिये। इस तरह जो पूर्णरूप से स्वावलम्बी हो जाता है, अपनी पुष्टि के लिये भी पर की आशा नही करता है, वह भी शनैः-शनैः बल बढा कर अधिक कारणो को मेट कर स्वतंत्र हो जाता है तब सदा के लिये स्वात्मानन्दामृत का पान किया करता है और परम तृप्त रहता है।

---

३२. शुद्ध-दृष्टि

क्या स्वतन्त्रता चली गई है? क्या मैं वास्तव में परतन्त्र हू? नही-नही यह मेरा मिथ्या श्रद्धान है। यह मेरा मिथ्या ज्ञान है कि मेरी स्वतन्त्रता चली गई है या मैं वास्तव में परतन्त्र हो गया हूं। जब तक मेरा यह भ्रम स्थित है तब ही तक मैं परतन्त्र सा हो रहा हू। जिस समय मैं इस भ्रम को निकाल दूंगा और प्रतीति पर आरूढ हो जाऊंगा कि मैं स्वतन्त्र हूं, परतन्त्र नही हूं, मैं स्वभाव से सिद्ध समान शुद्ध हू, मुक्त हू, स्वाधीन हू, परमानन्दो हू, अनन्तज्ञान दर्शनधारी हूं, अनन्त वीर्यवान हू, निर्विकार हू, निश्चल हूं, परम वीतरागी हूं, इस प्रतीति के आते ही मैं अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता को अनुभव करने लग जाऊंगा। स्वतन्त्रता आत्मा का निज स्वभाव है। स्वभाव का कभी अभाव नही होता है। स्वभाव का स्वभावी के साथ तादात्म्य संबन्ध रहता है। यह कभी मिट नही सकता है। शुद्ध पदार्थ को देखने की दृष्टि शुद्ध कहलाती है। पर्याय को अशुद्ध देखने की दृष्टि अशुद्ध कहलाती है।

पानी मैला है ऐसा भान अशुद्ध दृष्टि से होता है। जब उसी पानी को शुद्ध दृष्टि से देखा जाता है तब वह पानी पानी रूप शुद्ध व निर्मल दिखलाई पड़ता है। इसी तरह कर्ममल सहित संसारी जीव अशुद्ध दृष्टि से अशुद्ध दिखलाई पड़ते हैं। यदि उन्ही को शुद्ध दृष्टि से देखा जावे तो वे सब शुद्ध ही दिखलाई पड़ेंगे।

ज्ञानी को उचित है कि वह शुद्ध दृष्टि रखे, द्रव्य दृष्टि रखे, शुद्ध नयकी तरफ झुकाव रखे और इस दृष्टि से जगत को देखने का अभ्यास करे। तब उसको सर्व ही द्रव्य अपने-अपने स्व-स्वभाव में परम मनोहर निज परिणति मे मगन दिखलाई पड़ेगे। सर्व ही आत्माएं भेदभाव रहित एकसमान शुद्ध झलक जायंगी। इस शुद्ध झलकाव में नीच ऊँच, शत्रु मित्र, स्वामी सेवक, पिता पुत्र, पतित अपतित, शुद्ध व अशुद्ध, बद्ध व मुक्त का कोई भेद नही रह जाता है। सब जीवों मे समताभाव जागृत हो जाता है। साम्यभाव रूपी चारित्र की शोभा छा जाती है। रागद्वेष मोह की कालिमा नही रहती है।

स्वतन्त्रता का अनुभव करने से हर एक आत्मज्ञानी व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र व परम सुखी देख सकता है। यही अनुभव सम्यक्त्व है, यही सम्यग्ज्ञान है, व यही सम्यक्चारित्र है, यही मोक्ष-मार्ग है।

जो स्वतन्त्रता के प्रेमी हैं व भक्त हैं वे शीघ्र ही पर सयोग से छूट कर साक्षात् स्वतन्त्र हो सकते हैं। यह कथन भी मात्र व्यवहार है। हम न कभी परतन्त्र थे न परतन्त्र है न कभी परतन्त्र होंगे, यही श्रद्धान व ज्ञान व यही चर्या अभेद रत्नत्रय स्वरूप परम मंगलदाई है, परमानन्द देने वाली है। न मुझ में बन्ध है न मुक्ति है। मैं इस कल्पना से रहित एक निर्विकल्प स्वानुभवगम्य पदार्थ हूं। यही भाव स्वतन्त्रता को दर्शाने वाला है और परम तृप्ति को अर्पण कराने वाला है। जो इस भाव के क्षीरसमुद्र में स्नान करते हैं वे सदा पवित्र व स्वतंत्र हैं।

---

३३. स्वतन्त्रता की महिमा

प्यारी स्वतन्त्रता ! तेरा दर्शन कहां हो व कैसे हो ऐसा भाव मन में जब आता है तब ही विवेक ज्ञान यह बता देता है कि स्वतंत्रता अपने ही आत्मा के पास है। स्वतन्त्रता आत्मा का स्वभाव है। जब काय स्थिर की जावे, बचन का प्रयोग बन्द कर किया जावे, मन का चिन्तवन रोक लिया जावे तब जो कुछ भीतर अनुभव में आयगा वही स्वतन्त्रता का दर्शन है। आत्मा का संयोग न तो रागद्वेषादि भावकर्मों से है न ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से है न शरीरादि नोकर्मों से है। जैसे पानी से मिट्टी भिन्न है, जल से कमल भिन्न है, अग्नि से पानी भिन्न है, शिवाल से सरोवर भिन्न है, खारेपन से पानी भिन्न है, सुवर्ण से रजत भिन्न है, भूसी से तेल भिन्न है, दूध से जल भिन्न है, वस्त्र से शरीर भिन्न है, दर्पण से झलकने वाला पदार्थ भिन्न है, चादनी से भूमि भिन्न है, खड्ग से म्यान भिन्न है, इसी तरह सर्व ही रागादि विकारों से व पौद्गलिक पर्यायों से व आकाश, काल, धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय द्रव्यों से व सर्व अन्य आत्मा से अपना आत्मा भिन्न है।

इस भेद विज्ञान के बार-बार अभ्यास करने से स्वात्मरुचि बढ़ती जाती है, पर रुचि हटती जाती है। सम्यग्दर्शन की ज्योति जब प्रगट हो जाती है तब आत्मानुभव जग जाता है। स्वस्वरूप का अनुपम स्वाद आ जाता है। अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ हो जाता है। स्व-संवेदनज्ञान हो जाता है। स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हो जाता है। मोक्षप्राप्ति का उदय हो जाता है। जहा स्वतन्त्रता का अनुभव है वही मोक्षमार्ग है। वही साक्षात् मोक्ष है।

सर्व सिद्ध भगवान प्यारी स्वतन्त्रता का आलिंगन करते हुए शोभायमान हैं। विदेह में बीस वर्तमान तीर्थंकर स्वतन्त्रता के उद्यान में रमण कर रहे हैं। सम्यग्दृष्टि अविरति देशविरति श्रावक, प्रमत्त व अप्रमत्त, संयमी व अपूर्वकरणादि गुणस्थान धारी उपशम व क्षपक-

श्रेणी आरूढ़ यति स्वतन्त्रता के प्रेम में मगन रहते हैं, पराधीनता का अंश मात्र भी नहीं चाहते हैं।

स्वतन्त्रता की महिमा अगाध है। जो देश स्वतन्त्र है वह सुखी है। जो जाति रूढ़ि के बंधनों से मुक्त होकर स्वतन्त्रता भोगती है वह सुखी है। जो व्यक्ति भेदविज्ञान की कला को सीख कर स्वतन्त्रता को अपने भीतर जागृत करके उसे ही प्रियतमा बना कर निरंतर उसे ही आलिंगन करता है, वह स्वात्मरस पान करता हुआ परमानन्द में मगन रहता है।

---

३४. स्वतन्त्रता अटूट ज्ञान भण्डार है

एक ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि मैं क्यों राग द्वेष, मोह में फसा हू। क्यों अज्ञान मेरे भीतर अपना राज्य कर रहा है। क्यों मेरे साथ कार्माण, तैजस व औदारिक शरीर हैं। क्यों मैं विक्षिप्त, शंकित, भयभीत व सासारिक सुख मिलने पर संतुष्ट व दुःख मिलने पर दुखित हो जाता हूं। क्यो मैं किसी को मित्र व किसी को शत्रु की बुद्धि से देखता हू। इस सबका कारण मेरे ही भीतर यह भ्रांति है कि मैं अशुद्ध हूं, कर्मों के बंध में हूं, परतत्र हूं। इस भ्राँति ने, इस मिथ्यात्व ने मुझे परतंत्र बना रक्खा है। आज मैं इस भ्रांति को छोड़ता हूं। निश्चयनय की दृष्टि से अपने आपको देखता हूं तब मैं अपने को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र पाता हूं।

मेरा कोई भी सम्बन्ध किन्ही शरीरों से नहीं है, किन्हीं रागादि अशुद्ध भ वों से नहीं है, किन्ही जगत की चेतन व अचेतन वस्तुओं से नहीं है। मैं पूर्ण शुद्ध, ज्ञान दर्शन स्वरूपी, अमूर्तीक, वीतराग, परमानन्दमय एक आत्मद्रव्य हूं। मैं अपने सर्व गुणों का अब स्वामी हूं। मैं अपनी सर्व शुद्ध स्वाभाविक परिणतियों का आप ही अधिकारी हूं, मैं सर्व परसे नाता नहीं रखता हूं। मेरा सहयोग केवल मेरे से ही है।

जब मैं इस स्वतन्त्र स्वभाव का मनन करके स्वभाव में ही तन्मय होता हूं तब वहां स्वतंत्रता रूपी परम प्रियतमा का दर्शन पाकर परमानंदित हो जाता हूं परम तृप्त हो जाता हू। सिद्ध के समान अपने को अनुभव करता हू। यही सार तत्व है। यही मोक्षमार्ग है, यही कर्म ईंधन दग्ध-कारक अग्नि है, यहीं अमृतमई स्वाद के धारी शुद्धोपयोगरूपी फलों के उपजने का स्थान है, यही अपना घर है, यहीं अपना क्रीड़ावन है। यहीं परम संवर है। यही परम निर्जरा का भाव है, यही सच्ची उत्तम क्षमा है। यही सच्चा मार्दव धर्म है, यहीं अद्भुत सरलता है, यहीं सत्य धर्म है, यही परम शुचिता है, यही परम उपेक्षा सयम है। यही आकिंचन्य भाव है, यही उत्तम ब्रह्मचर्य है। यही धर्म है, यही परम समाधिभाव है, यही निराकुलता है, यही सम्यग्ज्ञान है, यही स्वचारित्र है, यही स्वात्मरमण है, यही ज्ञानचेतना है, यही गुप्त अटूट ज्ञान-भण्डार है। स्वतंत्रता मे ही परम सुख है।

---

३५. आत्मदर्शन ही स्वतंत्रता है

एक ज्ञानी सम्यग्दृष्टी भलेप्रकार से विश्व के सर्व पदार्थों का परीक्षण करके इस बात का पक्का निश्चय कर लेता है कि जीव और पुद्गल इन दोनों द्रव्यों का संयोग ही आत्मा की परतन्त्रता का कारण है। उनका वियोग होने से ही आत्मा सदा के लिए स्वतन्त्र हो जाता है। इसका उपाय भी स्वतंत्रता का अनुभव है। यद्यपि व्यवहार की सयुक्त दृष्टि से देखते हुए परतन्त्रता दिखलाई पडती। इसी तरह जिस तरह गाय के गले में बधी हुई रस्सी को गाय के साथ देखते हुए गाय बंधन में दिखती है। जब यह देखा जाता है कि बंधन रस्सी का रस्सी से है गाय तो अलग है तब गाय बन्धन मुक्त ही दिखती है। वह गाय भी जब तक इस भय में है कि मैं बधी हू तब तक बन्ध में रहती हुई पड़ी रहती है। जब कभी उसे यह ज्ञान हो कि बन्धन बन्धन में है,

मेरे में नहीं है, मैं तो बंधन से अलग हूं, ऐसा श्रद्धान में लाकर यदि थोड़ासा भी पुरुषार्थ कर तो बन्धन से मुक्त हो सकता है। इसी तरह यह जीव जहां तक अपने को बंधा देख रहा है वहां तक यह अपने को परतंत्र ही अनुभव करता है। यदि यह बंध को बंध में देखे व अपने स्वभाव पर दृष्टिपात करके अपने को बंध के स्वभाव से रहित सिद्ध-सम जाने, माने व अनुभव करे तो इसे अपनी स्वतंत्रता का साक्षात् अनुभव हो जावे। स्वतंत्र होने का उपाय मैं स्वयं स्वतंत्र हू ऐसा अनुभव है। यही अनुभव वीतराग विज्ञानमई धर्म है। यही अनुभव अभेद रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है। सर्व जगत की विभूति से, इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदो से, पचेन्द्रियों के नाना प्रकार के मनोज्ञ विषयों से, मन में होने वाले नाना प्रकार के भूत, भावी व वर्तमान के विचारों से उदासीनता रखकर केवल निजात्म रुचिवान होकर निजात्मा के ही भीतर रमण करना आत्मस्वतंत्रता का उपाय है। आप ही साधन है, आप ही साध्य है। आत्मदर्शन ही स्वतंत्रता है। अपूर्ण दर्शन मार्ग है। पूर्ण दर्शन निर्दिष्ट स्थान है।

स्वतन्त्रता के कथन में, स्वतंत्रता के विचार में, स्वतन्त्रता के अनुभव मे आनन्द ही आनन्द है। किसी प्रकार का खेद व कष्ट नहीं है। निराकुलता का साम्राज्य है। आकुलता के कारण राग, द्वेष, मोह विभाव है। उनकी उत्पत्ति व्यवहार दृष्टि के द्वारा जगत को देखने से होती है निश्चय दृष्टि द्वारा जगत को देखते हुए सर्व पुद्गलादि अजीव अपने स्वरूप मे व सर्व जीव अपने शुद्ध एक सदृश स्वरूप में दिखलाई पडते है तब परम समता का उदय हो जाता है। साम्यभाव के होते हुए राग, द्वेष, मोह का स्थान कहाँ रह सकता है? धन्य है साम्यभाव जिसके प्रताप से स्वतन्त्रता का दर्शन होता है। मैं अब निश्चयनय की शरण लेकर समभाव से जगत को देखने का अभ्यास करता हू। यही स्वतंत्रता का सतत उपभोग प्राप्त करने का साधन है। मैं स्वतन्त्र हूं ऐसा ही अनुभव स्वतन्त्रता का उपाय है।

---

३६. स्वतंत्रता सर्वांग व्यापक है

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकारी भावों से दूर रहकर स्वतंत्रता की खोज करता है। जैसे किसी की मुट्ठी मे सुवर्ण की मुद्रिका हो, भूलकर वह कहीं गिर पड़ी है, ऐसे भ्रम मे पडकर सर्व जगत को ढूंढे तो उसे सुवर्ण मुद्रिका का लाभ नही होगा। जब वह अपनी ही मुट्ठी में देखेगा तब उने सुवर्ण मुद्रिका का लाभ हो जायगा। वैसे ही जो कोई स्वतंत्रता को, जो अपने ही आत्मा के पास है, भूलकर उसे तीन लोक में ढूढेगा उसे स्वतंत्रता का लाभ नही होगा। जब वह अपने ही भीतर देखेगा तो उसे स्वतंत्रता मिल जायगी।

स्वतत्रता आत्मा के भीतर सर्वांग व्यापक है। हमारा उपयोग जिस समय पर पदार्थों के रागद्वेष से छूट जायगा और आप से ही आप मे, अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव में विश्राम करेगा तब ही स्वतंत्रता का लाभ हो जायगा।

स्वततत्रा का दर्शन, ज्ञान व लाभ होना ही आत्मा का परम हित है। जिन किन्ही संसारी जीवो ने अपनी भूली हुई स्वतत्रता को पाया है, उन्होने अपने हो पास पाया है। स्वतंत्रता का लाभ होते ही वे बंधनमुक्त हो गये है। संसार परतंत्रता का नाटक है। जब तक यह जीव अपने मूल स्वभाव को भूले हुए है और कर्म के द्वारा उत्पन्न होने वाली अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग अवस्थाओं को अपनी मान लेता है व उनके फद मे पड़ा हुआ मन, वचन, काय से वर्तन करता है, तब तक परतत्रता के कारण बन्धन मे पडा हुआ दिन-रात आकुलित होता है। इष्ट वियोग व अनिष्ट सयोग का सन्ताप सहता है। अहंकार व मम-कार के फदे मे पडा हुआ संसार की चार हो गतियो मे भ्रमण करता रहता है। संसार, शरीर, भोगों में मोही होता हुआ बार-बार शरीर धारण करता है। तृष्णा से आकुल व्याकुल होता है। तृष्णा को कभी शमन न कर पाते हुए दाह मे जलता हुआ प्राण त्यागता है, भवभव में दुखित ही होता है।

परतंत्र जीवन बड़ा ही संकटाकीर्ण होता है। अपनी ही भूल से यह जीव संसार में दुःखी है।

जैसे बन्दर चनों के घड़े में मुट्ठी डालकर चनों को मुट्ठी में भरकर घड़े के छोटे मुख से मुट्ठी को न निकाल सकने के कारण यह भ्रमभाव पैदा कर लेता है कि घड़े ने उसे पकड़ लिया, वह बहुत आकुलित होता है, अपने अज्ञान से आप क्लेश पाता है। यदि मुट्ठी से चने छोड़ दे तो शीघ्र हाथ को निकाल कर सुखी हो जावे।

इसी तरह यह अज्ञानी जीव इस भ्रम मे है कि कर्मों ने उसे पागल कर दिया है। स्त्री पुत्रो ने अपने बन्ध में फंसा लिया है। बस, यही भ्रम संसार के दुःखों का कारण है। यदि यह इस भ्रम को छोड़ दे, अपने आत्मा को सर्व से भिन्न जाने व किसी से राग, द्वेष, मोह न करे तो यह भ्रम से रहित हो तुर्त स्वतंत्रता को प्राप्त कर ले। भ्रम-रहित प्राणी को स्वतंत्रता का पद-पद पर दर्शन होता है। यह स्वतंत्रता के द्वारा आत्मीक रस का स्वाद पाकर परम सुखी रहता है।

---

३७. स्वात्मरमणरूप सागर का स्नान

एक ज्ञानी आत्मा एकांत मे बैठकर स्वतंत्रता का स्मरण करता है। क्योंकि वह कर्मबन्ध की परतंत्रता में महान दुःखी व आकुलित हैं। वास्तव में कर्मों की पराधीनता असहनीय है। सर्व ही कल्याण चाहते हैं, परन्तु नहीं होता। सर्व ही निरोगता चाहते हैं पर नहीं होती। सर्व ही जरा मे ग्रसित होना नहीं चाहते हैं परन्तु जरा आ ही जाती है। सर्व ही मरण नहीं चाहते हैं परन्तु मरण आ ही जाता है। कोई भी इष्ट सचेतन व अचेतन पदार्थों का वियोग नहीं चाहता है, परन्तु वियोग हो ही जाता है। क्योंकि पराधीनता के कारण यह आत्मा परमानन्दी स्वभाव को धरते हुए भी उस सच्चे सुख को नहीं चाहता है। केवल झूठे इन्द्रियजनित सुखों में लिप्त है, जिन सुखों के

सेवन से तृप्ति नहीं होती। उल्टी तृष्णा का आताप अधिक-अधिक बढ़ता जाता है। पराधीनता के कारण यह शरीर के साथी स्त्री, पुत्र, मित्रादि से स्नेह कर लेता है। स्वार्थभाव यह होता है कि इनसे मुझे सुख होगा। जब वे अनुकूल नही चाहते है तब यह महान कष्ट अनुभव करता है। त्रिलोक मे महान् पदार्थ होकर भी यह सर्वज्ञ समान आत्म-सम्पत्ति का धनी होकर भी यह जगत की दीन-हीन अवस्थाओं मे मारा-मारा फिरता है व इन्द्रिय सुख का लोलुप होता हुआ घोर वेदना सहता है। उस परतन्त्रता का अन्त कैसे हो? इसी प्रश्न पर एक विचारशील को विचारना चाहिए। वास्तव मे यह भ्रमभाव में पड़ गया है। अपने मूल स्वभाव का भूल गया है। इसको व्यवहार की अशुद्ध दृष्टि बद करनी चाहिए। और निश्चयनय की शुद्ध दृष्टि को खोलकर देखना चाहिए।

तब इसको कही भी परतन्त्रता का दर्शन न होगा। हर जगह हर एक आत्मा मे स्वतन्त्रता का साम्राज्य दृष्टिगोचर पड़ेगा। तब अपना आत्मा भी शुद्ध परमात्मवत् स्वभाव मे कल्लोल करता हुआ दिखलाई पड़ेगा और सर्व जगत की आत्माए भी शुद्ध परमात्मावत् स्वभाव मे आरूढ दिखलाई पडेगी। पूज्य पूजक, स्वामी सेवक, ध्याता ध्येय, आचार्य शिष्य, पिता पुत्र, माता पुत्री, पति पत्नी, ऊँच नीच, स्त्री पुरुष, पशु पक्षी, कीट कीटाणु, वृक्ष, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुमई प्राणी, नारकी, देव, तिर्यंच, मानव, चार गति के भेद, क्रोधी, क्षमावान, मानी, विनयवान, मायावी, सरल, लोभी, सन्तोषी, बहिरात्मा, अतरात्मा, परमात्मा, श्रावक, साधु, बालक, युवा, वृद्ध, संसारी, सिद्ध आदि सर्व भेदो का दर्शन बद हो जायगा। सर्व ही जीव परम शुद्ध दिखलाई पड़ेगे। एक अपूर्व समभाव का सागर बन जायगा। ऐसे स्वात्मरमणरूप सागर मे जो स्नान करेगा व धर्म का निर्मल जलपान करेगा वह सदा ही अपने को स्वतन्त्र अनुभव करेगा। उसके गले में स्वतन्त्रता सदा हाथ डाले हुए बैठी रहेगी। वह पराधीनता के क्लेश

से बचकर पूर्ण स्वाधीन स्वभाव का स्वाद पाता हुआ परमानंदित रहेगा।

---

३८. स्वतंत्रता प्राप्ति का उपाय

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जालो से रहित होकर एकांत में बैठता है और यह बिचारता है कि स्वतंत्रता कैसी मनोहर वस्तु है, परतंत्रता कैसी भयानक वस्तु है। जिस बन्ध में रहकर अपनी शक्तियों का विकास न किया जा सके वह बन्धन परतन्त्रता का कारण है।

स्वतंत्रता से ही आज अमेरिका, जापान, इग्लेंड देश यथेच्छ उन्नति कर रहे है। जहा प्रजा के अनुकूल प्रजा का शासन हो वही स्वतन्त्रतापूर्वक प्रजा अपनी शक्तियो को व्यक्त कर सकती है।

लौकिक परतन्त्रता जिस तरह लौकिक उन्नति मे बाधक है वैसे कर्मबन्ध की परतन्त्रता आत्मिक उन्नति मे बाधक है। आत्म-स्वतन्त्रता पाने का साधन कर्मो पर विजय प्राप्त करना है व उनको अपने आत्मा की सत्ता से बाहर कर देना है।

यह कार्य बड़ा ही कठिन दिखता है। क्योकि अनादिकाल से कर्मों ने अपनी सत्ता जमा रक्खी है। तथा आत्मा ने भ्रम मे पड़कर उनका स्वागत ही किया है। बन्धन में ही हर्ष माना है। कर्मशत्रुओ का फसाने वाला जाल पांच इंद्रियो के विषयो का जाल है। उनके फन्दे मे फसा हुआ ससारी प्राणी रागद्वेष, मोह की कलुषता से कलुषित होकर रहता है। इस कलुषता को देखकर कर्मशत्रु बधड़क प्रवेश कर जाते हैं और अपना बन्धन गाढ़ करते जाते हैं।

इस विषय की तृष्णा से जब तक रक्षित न हुआ जायगा तब तक इन कर्मों से बचने का उपाय नहीं बन सकता है। आत्म-सुख का प्रेम होना ही विषयसुख के प्रेम की जड़ खोना है। आत्मसुख का प्रेम तब ही होगा जब कोई व्यक्ति अपने को पराधीन व दुःखी समझकर

इस परतंत्रता से छूटने का दृढ़ भाव प्राप्त करके आत्मीक सुख की खोज में लग जायगा।

आत्मीक सुख आत्मा में है। आत्मा का ही स्वभाव है। अतएव श्री गुरु के धर्मोपदेश से तथा जैन शास्त्रों के पठन-पाठन से व युक्ति द्वारा मनन से तथा एकान्त मे भावना करने से आत्मा की प्रतीति आना संभव है। आत्मा स्वभाव से स्वतंत्र है, सिद्ध के समान शुद्ध है, ऐसा समझकर जो नित्य भावना भावेगा उसको किसी दिन सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जायगा। तब आत्मा की व आत्मा के सच्चे सुख की श्रद्धा हो जायगी। उसी क्षण विषयसुख की श्रद्धा दूर हो जायगी। बस इन्द्रिय विषयों के जाल से बचने की कला हाथ लग जायगी और यह चतुर हो जायगा। बस यही स्वतंत्रता पाने का प्रारम्भिक उपाय है। इसी मे परमानद का भी लाभ है।

---

३६. पूर्ण स्वतंत्रता कैसे ?

स्वतंत्रता क्या ही प्यारी वस्तु है। इसका जहा राज्य है वहा सदा सुख है। इसका जहा बहिष्कार है वहा परम दुःख है। अनादि-काल से इस संसारी जीव ने स्वतंत्रता का बहिष्कार कर रक्खा है। मोहकर्म के वशीभूत होकर अपनापन त्याग कर दिया है। मोह जैसे नचाता है वैसा यह नाच रहा है। महान् बाधाओ को सहता हुआ जन्म मरण कर रहा है। स्वतंत्रता का भूलकर भी स्मरण नही करता है। परतंत्रता के यज्ञ मे स्वतंत्रता की बलि कर दी जा रही है। कोई विष्णुकुमार के समान परोपकारी वीर हो तो वह इस स्वतंत्रता की रक्षा करे।

वीर आत्मा को साहसी होना चाहिए। मोह के फन्दे से जरा बचकर अपनी विज्ञान ऋद्धि से अपना परिवर्तन करना चाहिए। मिथ्यात्वी से सम्यक्त्वी बन जाना चाहिए। मोह मेरा हितू नही है,

किन्तु शत्रु है, यह बात निश्चय कर लेनी चाहिए। मोह से विराम होना ही मोह के फन्दे से छूटने का उपाय है।

जिन वीर आत्माओं को अपने स्वभाव का श्रद्धान तथा ज्ञान होता है वे समझ लेते हैं कि स्वतंत्रता मेरे ही पास है। जहां बंधन को बंधन समझा गया व बन्धन से असहयोग किया गया व स्वशक्ति का सहयोग किया गया, वहाँ ही स्वशक्ति स्फुरायमान होती जाती है, बाधक कारणो का नाश होता जाता है, स्वभाव का प्रकाश होता जाता है।

मैं स्वतत्र हू। यही भावना स्वतत्रता को मिला देती है। जैसा भावे वैसा हो जावे।

जिन-जिन महात्माओ को पूर्वकाल मे अपने स्वभाव का दृढ़-विश्वास हो गया व जिन्होने उस स्वभाव में कल्लोल करने का दृढ़ सकल्प कर लिया वे ही परतत्रता को विध्वंस करते चले गये और एक दिन पूर्ण स्वतंत्र हो गये।

हम स्वतंत्र हैं, हमारा नाता व सम्बन्ध किसी भी पर वस्तु से नही है, यही मनन या यही अनुभव एकाग्र हो करना, स्वतंत्र होने का बीज है।

स्वाधीन अनन्त सुख अपने ही पास है। मोह व अज्ञान की परतत्रता इस सुख के भोग से विमुख कर रही है। सांसारिक क्षणिक सुख के जल से निवृत्ति होने के लिए व सदा धारावाही रूप से निजानंद का भोग करने के लिए मैं स्वतत्रता की प्राप्ति मे कटिबद्ध हो गया हूं, शुद्ध भावना में लीन रहता हूं। पर से वैराग्यभाव धरकर परम वीतराग भाव से स्व-स्वरूप का मनन करता हूं, इसी से आत्म-बल को बढ़ाता हूं। और मोह के आक्रमणों को विजय करता हुआ आगे बढ़ता चला जाता हूं। यही मेरा पुरुषार्थ मुझे एक दिन पूर्ण स्व-तंत्र कर देगा। मैं स्वयं परमात्मा रूप होकर अनंत सुख को स्वयं

अनन्त काल के लिए बिलसूगा। स्वतंत्रता की रक्षा करना परम वात्सल्य धर्म है।

---

४०. आत्मा स्वभाव से स्वतंत्र

एक ज्ञानी जीव सर्व प्रकार के सासारिक विचारों को छोड़कर एक आत्मा सम्बन्धी विचार की तरफ लग जाता है। मैं कौन हूं इस प्रश्न का उत्तर विचारता है तब उसको ऐसा ज्ञात होता है कि कर्म पुद्गल के संयोग से जगत मे मेरे आत्मा के अनेक नाम हो चुके हैं। जैसे वस्त्र के साथ अनेक प्रकार के रगो का सयोग होता है तो वस्त्रके अनेक रगसमान ही नाम पड जाते है। परन्तु वस्त्रमात्र को देखने वाला अनेक वस्त्रो को एकसा ही वस्त्ररूप देखता है उसी तरह मेरे आत्मा के नारकी, देव, पशु, मनुष्य, बाल, वृद्ध, युवान, रोगी, निरोगी, क्रोधी, मानी, मायावान, लोभी, कामी, भयभीत, कायर, वीर, दुर्बल, सबल आदि नाम पुद्गल के सयोग से पड़े है। यदि मात्र अपने व पर के आत्माओ को आत्मा रूप से देखा जावे तो सब ही आत्माए परम शुद्ध ज्ञानानन्दमय वीतरागी हैं। इस दृष्टि को द्रव्य दृष्टि कहते हैं। कितना आनन्द होता है जब उस दृष्टि से सब आत्माओ को देखा जावे तब राग द्वेष का कारण मित्र शत्रु का कोई भेद रहता ही नहीं। सर्व ही एक से हो तब सिवाय समभाव के और भाव हो ही नही सकता है। इसी समभाव मे रमण करने से कर्मबंध की पराधीनता धीरे-धीरे दूर हो ही जाती है और अपना ही शुद्ध स्वतत्र पद अपने निकट आता जाता है।

अपने आत्मा को स्वतत्र स्वभाव रूप प्रदान करना जानना व अनुभव करना ही वह उपाय है जिससे स्वतत्रता का पूर्ण लाभ होता है।

पर सन्मुख होना ही परतंत्रता है। स्वसन्मुख होना ही स्वतत्रता है। अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास रखना ही स्वतत्रता है।

धन्य हैं सर्व सिद्ध भगवान जो पूर्ण स्वतंत्र हैं, जिनको कोई पुद्गल कभी कोई विकार नहीं कर सकता है। शुद्ध आकाश के समान सिद्ध भगवान हैं। आकाश को कोई भी विकृत नहीं कर सकता है वैसे ही शुद्धात्मा को कोई विकृत नहीं कर सकता है। मैं शुद्धात्मा हूं, स्वभाव से स्वतंत्र हू यही भावना परम हितकारी है व मगलदाई है।

---

४१. परमानन्द रस

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच जाल से निवृत्त होकर एकान्त मे बैठकर स्वतत्रता का स्मरण करता है। स्वतत्रता अपने से दूर नही है, पास ही है, परन्तु उसको मोहनीय कर्म ने दबा दिया है। जिससे मादक पदार्थ के आक्रमण के समान यह मोही जीव अपनी स्वतत्रता को भूले हुए है। अनादि से मोह के नशे मे चूर है। इससे इसे बिल्कुल भी श्रद्धान व ज्ञान नही है कि वह असल में परम स्वतत्र है, सिद्ध भगवान के समान है, अविनाशी है, ज्ञान का सागर है, परमानंद का घर है, सर्व शारीरिक, मानसिक व आकस्मिक बाधाओ से रहित है, परम अमूर्तिक है, निरजन है, स्वगुण मे रमने वाला, स्वानुभूति का स्वामी, परभाव का न कर्ता है, न परभाव का भोक्ता है। ऐसा अपना-पना स्वतंत्र स्वभाव है, परन्तु अपने को यह अज्ञान से चार गतिमय, अशुद्ध विकारी व दुःखरूप मान रहा है।

इसकी यह मिथ्यादृष्टि मिटे व सम्यग्दृष्टि का प्रकाश हो, इसका उपाय श्रीगुरु का चरण सेवन है। श्री गुरु के प्रसाद से अज्ञान तिमिर मिटता है, उनका उपदेशरूपी अंजन जब सेवन किया जाता है तब विकार मिट जाता है और अनादि की भेद-ज्ञानचक्षु प्रगट हो जाती है।

तब ज्ञानचक्षु जगत को द्रव्य दृष्टि से शुद्ध देखती है। पृथक्-पृथक् छः द्रव्यों का दर्शन करती है। पर्याय दृष्टि नाना भेद भी बताती

है। ज्ञानी की दृष्टि होना। अपेक्षाओं से वस्तु के शुद्ध व अशुद्ध स्वभाव को जानकर स्वतन्त्रता के लिए केवल शुद्ध स्वरूप की भावना करने से भी दृढ़ता होती जाती है। भावना भावो को उच्च बना देती है।

स्वतन्त्रता का श्रद्धान ज्ञान व ध्यान ही स्वतंत्रता पाने का उपाय है। स्वतन्त्रता की भक्ति ही परमभक्ति है। स्वतन्त्रता का गान ही परम मगल गान है। स्वतन्त्रता का तत्त्व ही परम पवित्र वापिका है जहां कल्लोल करना परम शातिप्रद है।

जो उच्च जीवन के प्रेमी हो उनको उचित है कि स्वतन्त्रता का भाव सहित साधन करे व परमानंद रस को, जो अपने ही पास है पीकर परम सन्तोष को प्राप्त होवे।

---

४२. कर्मों की पराधीनता

एक ज्ञानी आत्मा एकांत मे बैठकर स्वतंत्रता का स्मरण करता है तब उसे इसका दर्शन हरएक विश्व के द्रव्य मे होता है। विश्व छः द्रव्यो का समुदाय है।

आकाश एक अखंड है, धर्मास्तिकाय एक है, अधर्मास्तिकाय एक है, ये तीनो द्रव्य एक-एक अखण्ड अपने गुण व पर्यायो मे स्वतन्त्रता से परिणमन करते रहते हैं। कालाणु असंख्यात है। सब भिन्न-भिन्न पूर्ण स्वतत्र हैं। अपने स्वभाव से परम स्वाधीनता से परिणमन करते रहते है। पुद्गल के परमाणु अनतानत हैं। ये भी अपनी अबद्ध अवस्था मे रहते हुए अपने मूल स्वभाव मे स्वतन्त्रता से कल्लोल कर रहे है। जीव भी अनतानत है। ये सब जीव अपनी-अपनी सत्ता को भिन्न-भिन्न रखते हैं। सर्व ही अपने स्वभाव मे हैं, पूर्ण स्वतन्त्र हैं, सर्व ही परम शुद्ध हैं, निरंजन हैं, निर्विकार हैं, ज्ञानदर्शनमई हैं, परमशात हैं, परमानदमय हैं, किसी का किसी के साथ न राग है, न द्वेष है, न मोह है। सर्व ही परम वीतराग हैं। इस तरह जब द्रव्य दृष्टि से सर्व विश्व के

पदार्थों को अपने मूल स्वभाव में देखा जाता है तब सर्व ही परम स्व-तंत्र हैं, मैं पूर्ण स्वतंत्र हूं, ऐसा झलकता है।

इस शुद्धनय की दृष्टि से देखते हुए स्वतंत्रता प्राप्ति का कोई उपाय नहीं करना है।

दूसरी अशुद्ध दृष्टि या अशुद्ध पर्याय दृष्टि या असद्भूत व्यव-हार दृष्टि है। इस दृष्टि के द्वारा देखते हुए मैं अपने को आठ कर्मों के फंद में जकड़ा हुआ पाता हूं। न तो अनंतज्ञान है, न अनंतदर्शन है, न अनंतवीर्य है, न अनंतसुख है—रागद्वेष के विकार हैं, इच्छाओं के तीव्र रोग हैं। सुख चाहते हुए भी सुख नहीं मिलता है, दुःख को न चाहते हुए भी दुःख आके घेर लेता है, मरण न चाहते हुए भी मरण आ जाता है।

इष्ट वियोग न चाहते हुए भी इष्ट का वियोग हो जाता है। अनिष्ट संयोग न चाहते हुए भी अनिष्ट का संयोग हो जाता है। घोर दीनहीन अवस्था हो रही है। बड़ी ही भारी कर्मों की पराधीनता है।

इस पराधीनता को मिटाने का उपाय यही है कि हम अपने मूल द्रव्य को पहचानें कि यह स्वभाव से स्वतंत्र है और एकाग्र होकर बलपूर्वक मोह को दूरकर वैराग्यवान हो अपने ही शुद्ध स्वभाव का मनन करें—ध्यान करें।

स्वानुभवमई होकर स्वतंत्रता का ही आनंद लेवें। यही हमारा स्वानुभवरूपी चारित्र कर्मों को दग्ध कर देगा और हम बहुत शीघ्र अपने निजस्वभाव में पूर्ण स्वतंत्र हो जायेंगे। स्वतंत्रता मेरे में है। यही श्रद्धान स्वतंत्र होने का उपाय है।

---

४३. अविद्या और तृष्णा

एक ज्ञानी आत्मा सर्व पर द्रव्यों से उन्मुख होकर एकांतसेवी होता है और शांतभाव से विचार करता है कि मैं निराकुल क्यों नहीं

हूं। क्यों मुझे रातदिन विषय व कषायों की आकुलता सताती है? क्यों मैं अपने शुद्ध वीतराग ज्ञान दर्शन स्वभाव में विश्राम नहीं करता हूं? सिद्धों के समान तो मैं भी हूं। उनकी जाति व मेरी जाति एक है। जितने सामान्य तथा विशेष गुण सिद्धों मे हैं उतने ही सामान्य व विशेष गुण मेरी आत्मा मे भी है। केवल सत्ता की अपेक्षा भिन्नता है। सिद्ध सदा परमानंद का उपभोग करते हैं, परम निश्चल हैं। एक क्षण भी स्वानुभूति रमण से विरत नही होते। न उनके आत्मीक प्रदेश हिलते हैं, न उनमें कोई प्रकार को कषाय है। मैं ऐसा क्यों नही?

वास्तव मे मैंने पर से प्रीति की है, पर को अपनाया है, इसी से कर्म पुद्गलों ने मेरे साथ सम्बन्ध कर रक्खा है। जो जिसका स्वागत करता है वह उसके साथ जाता है। मैं पुद्गल की प्रतिष्ठा करता रहा हूं, इसी से मैं पुद्गल के विकार में रंजित हूं। मेरी पराधीनता का कारण मेरा ही अज्ञान व मोह है।

जैसे मूरख पक्षी दर्पण में अपनी छाई देखकर दूसरा पक्षी बैठा है ऐसा भ्रम से मानकर चोंचे मारकर दुःखी होता है वैसा मैं भ्रम से संसार के क्षणिक सुख को सुख मानकर क्लेशित हुआ हू।

अविद्या और तृष्णा ने मुझे पराधीन कर दिया है। क्या मैं इन दोनो मलो का त्याग नहीं कर सकता हूं? यदि मैं अपने शुद्ध स्वरूप की सच्चो गाढ़ प्रतीति प्राप्त करूं और पुद्गल से सर्व प्रकार उदास हो जाऊं। मेरे में ही मेरा स्वभाव है। मैं स्वभाव से स्वतंत्र हूं। मैं स्वभाव से परमात्मा ईश्वर परब्रह्म हूं, ऐसी बार-बार भावना भाऊं। कर्मोदयसे होने वाले शुभ व अशुभ दोनों ही प्रकार के भावोंका स्वागत न करूँ, उनके उदय को समभाव से अवलोकन करूँ, व सर्व जगत के साथ समभाव रखने को मैं निश्चयनय का चश्मा लगा लू। सर्व आत्माओंको सिद्ध के समान शुद्ध देखा करूं, बस यही मेरा भाव, यही मेरी भावना, यही मेरी प्रतीति, यही मेरा आत्म-भ्रम मुझे एक दिन पर की संगति से सर्वथा छुड़ाकर पूर्ण स्वतन्त्र कर देगा। अविद्या व

तृष्णा का सदा के लिये वियोग हो जायगा। स्वतन्त्रता की भावना करनी ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति का साधन है।

---

४४. यथार्थ तप

स्वतन्त्रता परमप्यारी वस्तु है। जहा उत्तम क्षमा है वहा क्रोधको जीतते हुए स्वतन्त्रता है। जहां मार्दव धर्म है वहां मान को जीतकर स्वतन्त्रता का लाभ है। जहा मरणको जीतकर परम सरलता है वही स्वतन्त्रता का लाभ है। जहा लोभको जीतकर परम पवित्रता है वहां ही स्वतन्त्रता है, जहां पञ्च इन्द्रियोंके विषयो का विजय है वही स्वतन्त्रता है। जहा कुशील भावसे बचकर ब्रह्मचर्य मे लीनता है वही स्वतंत्रता है। जहां ममत्व को विजयकर निर्ममत्व भाव का प्रकाश है वही स्वतन्त्रता है। जहा इच्छाओ को निरोध करके परम तप है वही स्वतन्त्रता है। जहा ज्ञानका स्वतन्त्र प्रकाश है, अज्ञान का वि ाश है वहीं अन्धकार—विजयी स्वतन्त्रभाव का प्रकाश है।

जहा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप स्वानुभवकर झलकाव है वहीं स्वतन्त्रता है। जहा निर्विकल्प समाधि है परन्तु शून्य भाव रहित है वहा स्वतन्त्रता है। जहा ऐसा उपवास है कि आत्मा का उपयोग सर्व इन्द्रिय व मनके विकल्पोंसे रहित होकर एक आत्माहीके भीतर उपवास करता है वही स्वतंत्रता है।

जहा शरीरको हलका रखकर उपयोगको निज आत्मामें रमाया जाता है वही अवमोदर्य नामका तप है, वही स्वतंत्रताका झलकाव है। जहां सर्व षट् रसोंका त्याग करके एक आत्मीक रसका पान है वहीं रस परित्याग नामका तप है वहीं स्वतंत्रता है।

जहां संयम की प्रतिज्ञा लेकर एक शुद्ध उपयोग के घरमें ही आत्मीक आनंदकी भिक्षा लेने के लिये गमन है वहीं वृत्तिपरिसंख्यान तप नामको स्वतंत्रता है? जहां सर्व पर-द्रव्य, परगुण, परभावों से भिन्न होकर स्वात्म परिणतिमें ही शय्या व आसन है वहीं विविक्तशय्यासन

आत्मका तप है वही स्वतंत्रता है। जहां कायके क्लेशसे विमुख होकर एक निज आत्मा के आनंद में कल्लोल है वहीं कायक्लेश तप नाम की स्वतंत्रता है।

जहां सर्व वैभाविक भावरूपी दोषों से शुद्ध पाकर स्वभावरूपी गंगाजलमें स्नान है वही प्रायश्चित्त रूपसे प्राप्त स्वतंत्रता है। जहां आत्मा ही चारित्र है, आत्मा ही देव है, आत्मा ही शास्त्र है, आत्मा ही गुरु है, ऐसा जानकर केवल एक आत्मा का ही विनय है वहीं स्वतंत्रता है। जहाँ निज आत्मा देव की पूर्ण आराधनाके साथ सेवा है वहीं वैयावृत्त तप है वहीं स्वतंत्रता है। जहा पर का स्वरूप आराधन छोड़कर केवल निज स्वगुणो का अध्ययन है वहाँ ही स्वाध्याय तप से प्राप्त स्वतंत्रता है। जहा पर से विशेष ममता हटाकर आपका निश्चल ध्यान है वही व्युत्सर्ग तप है व वही स्वतत्रता का प्रकाश है। जहां ध्याता, ध्यान, ध्येय का विकल्प हटाकर एक आप का ही निश्चल व परम शांत ध्यान है वहीं यथार्थ ध्यान है, वही यथार्थ तप है व वही स्वतंत्रता है। मैं स्वतंत्र होने के लिये एक स्वतंत्रता का ही यत्न करता हूं यही उद्यम है।

---

४५. स्वतंत्र पद

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजाल से रहित होकर एकांत में बैठकर विचारता है कि स्वतन्त्रता कहां है व कैसे प्राप्त हो सकती है। उसको थोड़ासा ही विचारने से यह झलक जाता है कि उसीने ही अपनी भूल से परतन्त्रता मान रक्खी है। स्वतन्त्रता तो उसका निज स्वभाव है। जैसे भ्रम से कोई खंभे को पुरुष मान कर भय से भागे वैसे यह अपने को ही अपनी मान्यता से परतन्त्र मानकर दुःखी हो रहा है। भ्रम का पर्दा हटाए। मिथ्यात्व की कालिमा मिटाये तो इसे यही अनुभव हो कि यह पूर्णपने स्वतन्त्र है और अपने आप ही आपका

स्वामी है। यह पूर्ण ज्ञानी है, पूर्ण शांत है, पूर्ण आनन्दमय है पूर्ण वीतरागी है। परमात्मा में और इसमें कोई जाति का अन्तर नहीं है। पर का स्वागत करने से ही पर का संयोग होता है। पर के संयोग से ही उसी तरह अपनी स्वतंत्रता छिप जाती है, जैसे ग्रहण पड़ने पर राहु के विमान द्वारा चंद्र के विमान पर परछाँई पड़ जाती है।

स्वतन्त्रता के आनन्द के भोग के लिए यह आवश्यक है कि हम व्यवहार या पर्याय दृष्टि को गौण कर दें और निश्चय दृष्टि को मुख्य कर दें। जगत में सर्व भेद प्रभेद व्यवहार दृष्टि से दीखते हैं। निश्चय दृष्टि से अभेदरूप सर्व द्रव्य अपने स्वभाव में कलोल कर रहे हैं। अचेतन द्रव्यों में ज्ञान नहो है तब उनमें कोई विकार की या दोष की संभावना नहीं है। ज्ञान में विकार होना ही दोष है। एक आत्म द्रव्य ही ज्ञानवान है, इसमें पुद्गल कर्म का संयोग विकार का कारण है।

जब पुद्गल सयोग से रहित सर्व आत्माओं को देखा जाता है तब उन सबमें निर्विकारता, स्वभाव-सम्पन्नता दिखलाई पड़ती है। सर्व ही एक समान शुद्ध दिखलाई पड़ते हैं। इस तरह सबको शुद्ध देख कर राग-द्वेष का मैल हटा देना चाहिये। फिर आपको ही वैसा शुद्ध देखना चाहिये। यहो दर्शन सम्यग्दर्शन है व सम्यक्चारित्र है। यही स्वतन्त्रता का वास है। स्वतन्त्रता का अनुभव ही स्वानुभव है, समाधि है। यही शांतिसागर मे स्नान है, यहो नन्दन बन की सैर है, यही सुमेरु पर्वत पर आरोहण है, यही सिद्धालय का निवास है, यही त्रिगुप्तिमई पर्वत की गुफा में विश्राम है, यही स्वानुभूतिमई गंगा में स्नान है, यही निर्विकार निराकुल सुख शय्या पर शयन है, यही आत्माओं में ज्ञान परिणति का व्यापार है, यही परम शांत आनंदमई रस का पान है, यहीं कर्म-शत्रुओं के प्रवेश के अयोग्य निरास्रव भाव रूपी दुर्ग में निवास है, यही शिव सुन्दरी से वरने के लिए मंगलमय रत्नत्रय स्वरूप विमान का आरोहण है। यही निरंजन आत्मीक उपवन का निवास है। यही भवसागर से पार होने के लिए आत्म-साधमई महान यान पर

आरूढ़ होकर मोक्षद्वीप में प्रयाण है, यही शिवतिया के आसक्त, उन्मत्त आत्म का शिवतिया के मोह में पागल हो, शिवतिया के पास गमन है, यही स्वतन्त्रता का मार्ग है व यही स्वतन्त्रता पद है।

---

४६. सुविचार से स्वतन्त्रता

एक ज्ञानी आत्मा सर्व विकथाओ से मुह मोड़ कर इस सुकथा में उपयोग को लगाए है कि मैं क्या हू, मेरा स्वभाव क्या हैं, मेरे भीतर क्रोधादि कषाय क्यो हैं। मेरे साथ बाहरी पदार्थों का सम्बन्ध क्यों है। क्यों शारीरिक जन्म व मरण होता है। क्यों प्राणी को इच्छानुसार सुख की प्राप्ति नहीं होती है ? इन प्रश्नों का विचार करते हुए बुद्धि कहती है कि हे आत्मन् ! तूने जड़ के साथ गाढ प्रीति कर रखी है, उसी ने तुझे जड़-मुख बना दिया है कि रात-दिन शरीर के सुख में मग्न है। शरीर के भीतर जो आत्माराम है उसके हित की ओर ध्यान ही नहीं है क्षणिक सुख को सुख मान लिया है। पर द्रव्यों पर मोहित हो रहा है। हे आत्मन् ! यदि तू अपना ही सच्चा सुख अनुभव करना चाहता है तो अपने स्वभाव को पहचान और पुद्गल से मोह करना त्याग। पर की पराधीनता ने ही तुझे दुःखी बना दिया है। यदि तू भावमात्र से, श्रद्धाभाव से पुद्गल का नाता तोड़ डाले और अपने आपको सम्हाले तो शीघ्र ही तेरी पराधीनता छूट जावे—तू स्वाधीन हो जावे।

कुसंगति महा बाधक है, कुसंगति से उच्च प्राणी नीच हो जाता है। कहा तू परमेश्वर, परमात्मा, त्रिकालज्ञ, त्रिलोकज्ञ, परमवीतरागी, निर्विकारी, परमानन्दी, अमूर्तिक, अनंतवीर्यवान, शिववास वासी संसार से विरागी और वैरागी और कहां यह तेरी दीनहीन अवस्था ? निगोदवासी रह कर लब्ध्यपर्याप्तक दशा में एक श्वास में अठारह बार तूने जन्म मरण किया है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक वनस्पति में जन्म धार कर शक्ति की निर्बलता से व अज्ञान से बहुत कष्ट भोगा है। लट, पिपीलिका, भ्रमर आदि में जन्म लेकर बहुत असह्य दुःख पाया है। पञ्चेंद्रिय पशु पक्षी, मत्स्य होकर तीव्र वेदनाएं भोगी हैं। मानव होकर जन्म मरण रोग शोकादि का महान कष्ट पाया है। तृष्णा की दाह में जल कर जन्म गंवाया है। देवगति में कदाचित् प्राप्त हुआ तो इन्द्रिय भोगों में लिप्त हो कभी अपने आपको पहचाना नहीं। नारकियों को दुःख सहन व दुख दान से ही समय नहीं मिलता है जो कुछ आत्महित में चित्त लगावें। पर की संगति में चारों गतियों में बार-बार जन्म लेकर संकट पाए हैं। हे आत्मन्! अब तो आपको आप जान, पर को पर जान। अपनी शुद्ध सम्पत्ति को सम्हाल, जो अनुपम परम मंगल-कारी है।

स्व स्वरूप का भोग ही स्वतन्त्रता का भोग है। अब तू अपने आपकी महिमा का गुण गान कर अपने आपके बार बार दर्शन कर, अपने स्वरूप का ज्ञान कर, उसी स्वरूप में रहने का यत्न कर। सर्व व्यवहार को हेय जान कर छोड़ दे। शुभ व अशुभ दोनो ही व्यवहार तेरे स्वाभाविक शुद्ध व्यवहार से विपरीत हैं।

मन वचन काय के प्रपंच से भाव को जुदा करके केवल आत्मीक भावों के सन्मुख होकर अपने से अपने को देख, तब तू एक अद्भुत रूप को देखेगा व एक अद्भुत रस को चाखेगा, अद्भुत सागर में कलोल करेगा, परमानन्द का भोग पावेगा, कर्म-मल हटा देगा। परमात्मा के शुद्धासन पर विराजमान हो जावेगा। जग में रहते हुए भी परमात्मा पद का भोग भोगेगा। सर्व प्रकार से सुख शांति का आदर्श हो जायगा। सर्व पर छूट जायगा, स्वतन्त्रता तेरे में आ जायगी।

---

४७. ज्ञानामृत का पान

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपञ्च जाल से निवृत्त होकर यह विचारता है कि स्वतन्त्रता का लाभ कैसे हो। अनादि काल से जिसके बिना पराधीन होकर इस जीव ने महान कष्ट भोगे है वह अपूर्व शक्ति कैसे प्राप्त हो। जीव का वास्तविक प्राण स्वतन्त्रता है, स्वतन्त्रता से अपने सर्व गुणों को स्वाधीन होकर भोग सकता है। परतन्त्रता की जंजीरें शक्ति को व्यक्त नही होने देती हैं। यह आत्मा स्वभाव से नित्य आनन्दमई व अशांत हो रहा है। मूल स्वभाव विपरीत परिणमन कर रहा है। आप तो परम शुद्ध परमात्मा ज्ञाता दृष्टा है। परन्तु अपने को दीनहीन, रागी द्वेषी मान रहा है। अपने मूल ब्रह्म स्वरूप को भूल रहा है। इस भूल से ही कर्म के जालों में घिरा हुआ है। कर्मों के उदय से महान कष्टो को पाता है।

जो कोई आत्महितैषी है उसको इस मानव जन्म को सफल करने के लिए स्वरूप को पहचान भले प्रकार करना चाहिये। सोहं मंत्र के मनन से बार-बार अभ्यास से निजको शुद्धात्मा ही मानना चाहिये। जगत के प्रपंच जाल को बाधक समझ कर वैराग्यभाव लाना चाहिये। जल में कमल के समान इस भव समुद्र में रहना चाहिये। व्यवहार का सर्व झंझट मन वचन काय की तरफ पटक देना चाहिये। जब मन बचन काय मैं नही तब सर्व इनका कर्तव्य भी मैं नहीं। उनकी क्रिया से होने वाला बंध भी मैं नही, उन कर्मों का उदय व फल भी मैं नही। कर्म के फल का दृश्य जो यह चार गतिरूप जगत का नाटक है सो भी मैं नहीं। इस नाटक का कर्ता मैं नहीं, भोक्ता मैं नही, मैं केवल ज्ञाता-दृष्टा हूं। निश्चय से एक तटस्थ हूं, निराला हूं।

अब मैं अपने वीतराग विज्ञानमय स्वभाव में परिणमन करता हूं। वहीं विश्राम करता हूं। वही तृप्ति मानता हूं। अनादि काल से विषय भोगों की तरफ रत रहा। कभी भी तृप्ति नहीं पाई। अब इस असार इंद्रिय विषयों से नाता तोड़ता हूं। अतीन्द्रिय आनद का सतत

प्रवाह जिस स्रोत से बहता है, उस आनंदसागर आत्मा का ही प्रेमी बन गया हूं। उसी का रसिक हो गया हूं। अपने स्वतंत्र स्वभाव की ठीक-ठीक पहचान हो गई है। अब कभी भी भूल में पड़ने का नहीं हूं। अब कभी मोह की मदिरा को नहीं पीऊंगा। चेतन से अचेतन नहीं होऊंगा। ज्ञानामृत का पान करूँगा व परम शान्ति को भजूंगा।

मैंने स्वतन्त्रता का पता पा लिया है। आपकी ही भूमिका में उसका निवास है। वही उसे अपना आसन जमा कर तिष्ठना है। वहीं निरंतर वास करना है। वहां से कभी अन्यत्र नहीं जाना है। अब मैं शीघ्र ही परतत्रता के बधन काट दूगा और सदा के लिए परम स्वतंत्र हो जाऊंगा।

---

४८. दीपावली व ज्ञानज्योति

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार के विचारो को बन्द करके आज श्री महावीर भगवान का स्वरूप विचार कर रहा है। भगवान की आत्मा मे पूर्ण स्वतन्त्रता है। परतंत्रता का कारण कोई कर्म मैल का सयोग नही है। अनंतगुण व स्वभावधारी यह आत्मा है। वे पूर्णपने विकसित हो गए हैं। अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, परम वीत-रागता, परम सम्यक्त्व सब गुण कमल के समान प्रफुल्लित हो गए हैं। उनको पूर्ण स्वराज्य प्राप्त है। क्या मैं ऐसा नहीं हो सकता हूं? श्री महावीर भगवान का उपदेश है कि जो अपनी आत्म-स्वतंत्रता का ध्यान करता है वह स्वतंत्र हो जाता है। मैं महावीर भगवान के समान शुद्ध स्वभावों का धारी हूं, अभेद हूं, अजर अमर हूं, ज्ञातादृष्टा, वीतराग, परमानंदमई हूं। ऐसा श्रद्धान, ऐसा ज्ञान, ऐसा चारित्र यह अभेद निश्चय रत्नत्रयमई स्वानुभवरूप मोक्षमार्ग है। इसके सिवाय और कोई स्वतन्त्र होने का मार्ग नहीं है। पर से असहयोग स्वतन्त्रता उपाय है। संसार की किसी वासना से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं है। मैं

सबसे अलिप्त हू। यही भावना अविकारी है। इसी मार्ग से ही स्वतन्त्रता का लाभ होता है।

मैं इसीलिए इस ज्ञान ज्योति को अपने भीतर जगाता हूं, दीपावली का उत्सव करता हूं। जिसने दीपावली अतरग मे मनाई वही केवलज्ञानी हो गया। मेरा नाता किसी भी पर पदार्थ से नही है इस एकत्व को ध्याना हो हितकारी है। वास्तव में स्वतत्रता जैसे परमानदमई है वैसे स्वतत्रता का मार्ग आनदमई है। आनन्द से ही आनंद की वृद्धि होती है।

श्री महावीर भगवान को बार-बार नमस्कार करता हू, जिनके प्रताप से स्वतत्रता पाने का मार्ग प्राप्त हो गया है। जो बन्धन से छुड़ाये उसके समान उपकारी और कौन है ?

मैं श्री महावीर भगवान के आश्रय से उनके गुणो के मननरूप श्रेणी से अपने ही शात आत्मा के भीतर प्रवेश करता हू और निरतर आत्मानद का सार पाता हुआ कर्मकलक रहित स्वाधीन होने के लिए आगे बढ़ता चला जाता हू।

---

४६. विषय-लालसा

एक ज्ञानी आत्मा सूक्ष्मदृष्टि से विचारता है कि आत्मा है तो तीन जगत का प्रभु निरञ्जन निर्विकार, शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीतराग, परन्तु ससार मे कर्मों की बड़ी भारी पराधीनता है जिससे इसको स्वाधीन शक्तिया सब प्रच्छन्न हो रही हैं। उनके कर्मों मे सर्व में प्रबल बैरी मिथ्यात्व कर्म है, इसने बुद्धि पर ऐसा अधेरा छा रक्खा है, जिससे यह अपने को बिलकुल भूल गया है। कर्मों के उदय से जो आत्मा की अंतरङ्ग व बहिरङ्ग अवस्था हो रही है उसे ही यह मिथ्या-दृष्टी जीव अपनी मान रहा है। मैं क्रोधी, मैं मानी, मैं मायावी, मैं लोभी, मैं राजा, मैं साहूकार, मैं किसान, मैं जमीदार, मैं सेवक, मैं

बढ़ई, मैं सुनार, मैं धोबी, मैं लुहार, मैं गोरा, मैं सांवला, मैं बालक, मैं युवान, मैं वृद्ध, मैं धनी, मैं सुन्दर, मैं बलवान, मैं यति, मैं श्रावक, मैं ब्राह्मण, मैं क्षत्री, मैं वैश्य, मैं शूद्र, मेरा घर, मेरा वस्त्र, मेरा आभूषण, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, मेरी पुत्री, मेरी माता, मेरा पिता, मेरा राज्य, मेरा ग्राम, मेरी भूमि, मेरा कुटुम्ब, मेरा धन, इत्यादि नाना प्रकार अहंकार ममकार भाव में फंसा है। इसी मिथ्यात्वभाव के कारण यह जीव आत्मीक सच्चे सुख को भुला रहा है।

रात-दिन स्त्री भोग की लालसा, मिष्टान्न खाने की चिन्ता, सुगंधित सूंघने की कामना, मनोहर रूप देखने की लालसा, सुन्दर सुरीले गान सुनने की अभिलाषा बन रही है।

मन में भी इनके विषयो के पाने का, रक्षण का ही विचार है। इष्ट वियोग की व अनिष्ट संयोग की चिन्ता है। मन भी रात-दिन विषय सुख की तृष्णा मे आकुल व्याकुल रहता है। ऐसा मिथ्यादृष्टी जीव परम स्वार्थी होकर स्वार्थ—साधन के हेतु हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाचो पापों में फंसा रहता है। विषय व कषायों के शत्रुओं के बीच मे पटकने वाला यह मिथ्यात्व शत्रु है। कब इसका अन्धकार मिटे व सम्यक्त्व का प्रकाश प्रगट हो यही भावना है।

---

५०. एकान्त मिथ्यात्व

मिथ्यात्व परम शत्रु है। जीव को अपनी प्रतीति नही होने देता है। इस मिथ्यात्व के प्रगट में अनेक भेद हो सकते हैं। उनमें एक भेद एकान्त मिथ्यात्व है। जगत में सर्व ही पदार्थ अनेकांत स्वरूप हैं। अनेक अन्त या धर्म स्वभाव को रखने वाले हैं। उनको एक ही अन्त या स्वभाव वाला मान लेना, और स्वभावों को नहीं मानना एकांत मिथ्यात्व है। जैसे हरएक पदार्थ अपने मूल स्वभाव को नाश न करते

की अपेक्षा नित्य व अविनाशी है तथा उसी समय क्षण-क्षय परिणमन-शील होने की अपेक्षा अनित्य या क्षणभंगुर है, दोनो को न मानना मिथ्यात्व है। एक को मानना एक को न मानना मिथ्यात्व है। हर-एक पदार्थ अपने गुण पर्यायो का अखण्ड एक समूह है इससे एक है तथापि प्रत्येक गुण या पर्याय सर्वांग द्रव्य मे व्यापक है इससे अनेक रूप भी है। वस्तु एक रूप भी है अनेक रूप भी है। इन दोनो बातो मे से एक को ही मानना एकांत मिथ्यात्व है।

यह आत्मा जो ससार अवस्था मे शरीर मे है निश्चय दृष्टि से देखा जावे तो यह शुद्ध, अविनाशी, अमूर्तिक, स्वभाव का ही कर्ता, स्वभाव का ही भोक्ता, परमानन्दमय वीतराग, ज्ञाता दृष्टा सिद्ध भगवान के समान है। परन्तु व्यवहार दृष्टि से जब देखा जाता है तब यह कर्म बंध सहित अशुद्ध, रागी-द्वेषी, पाप-पुण्य का कर्ता व सुख-दुख का भोक्ता व ससार मे भ्रमणकर्ता देखा जाता है। इसलिये यह ससारी जीव निश्चय से शुद्ध है, व्यवहार से अशुद्ध है ऐसा मानना और एक ही बात को मानना एकात मिथ्यात्व है। इस तरह एकात मिथ्यात्व के भावो को निकाल कर अनेकात को स्थान देकर फिर स्वतत्र होने के लिये निश्चयनय को प्रधानता लेकर शुद्ध स्वभाव की भावना करके निज अमृत को पान करने का व स्वतंत्रता के मनन का उद्यम करना हितकर है।

---

५१. विपरीत मिथ्यात्व

स्वतंत्रता का खोजी स्वतत्रता का बाधक शत्रुओ को खोज रहा है, जिससे उनका बहिष्कार किया जाय। सबसे महान् शत्रु मिथ्यात्व है, उसी का एक भेद विपरीत मिथ्यात्व है।

जो वस्तु जैसी नही है उसको वैसी मान लेना विपरीत मिथ्यात्व है। आत्मा स्वभाव से शुद्ध परमात्मा है। उसको जड़ से उत्पन्न मानना व ब्रह्म का अंश मानना व अल्पज्ञ मानना। परमात्मा

निर्विकार ज्ञाता दृष्टा है, कृतकृत्य है, उसको जगत का कर्ता शासक फलदाता मानना। धर्म अहिंसामय है तोभी हिंसा करने में धर्म मानना, देव वीतराग सर्वज्ञ होता है ऐसा होने पर भी रागी, द्वेषी व अल्पज्ञ को देव मानना, गुरु परिग्रह व आरम्भ रहित, आत्मज्ञानी, परम शांत व तपस्वी होते हैं तो भी परिग्रही, आरंभी, विषयासक्त को गुरु मानना। मोक्ष का साधक वीतरागमय एक शुद्ध उपयोग है, जो स्वात्मानुभव रूप है, ऐसा होने पर भी पूजा, पाठ, जप, तप, दान, शुभ उपयोग को मोक्ष का साधन मान लेना।

आत्मा स्वभाव से राग-द्वेष का कर्ता नहीं व कर्म बंध का कर्ता नही, व कर्मफल का भोक्ता नहीं तो भी आत्मा को रागद्वेष का कर्ता व पुण्य-पाप कर्म का बन्धन कर्ता व फल का भोक्ता मानना। इत्यादि अनेक प्रकार का यह विपरीत मिथ्यात्व है। मैं सम्यक्त्व की भावना करके कि मैं सिद्ध सम शुद्ध हूं, परमानंदी हूं, इस मिथ्यात्व का विनाश करके स्वात्मानुभव पर पहुंच रहा हूं।

---

५२. संशय मिथ्यात्व

स्वतंत्रता प्रिय महात्मा स्वतंत्रता बाधक शत्रुओं का विचार कर रहा है। पांच प्रकार के मिथ्यात्व में संशय मिथ्यात्व भी प्रबल शत्रु है। जो किसी तत्त्व का निर्णय नही कर पाते हैं वे डांवाडोल चित्त रहते हुए संशय के हिंडोले में हिलते हुए किसी भी तत्त्व पर अपनी श्रद्धा को नहीं जमा पाते हुए जन्म वृथा खो देते हैं।

आत्मा है या नहीं, परलोक है या नहीं, पाप-पुण्य है या नहीं, कर्म बंध होता है या नहीं, सर्व ही नास्तिक हैं या आस्तिक हैं, परमात्मा है या नहीं, परमात्मा जगत का कर्ता है या नहीं, परमात्मा फलदाता है या नहीं, आत्मा स्वभाव से परमात्मा रूप है या नहीं, आत्मा अमूर्तिक है या पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु चार धातुओं से उत्पन्न मूर्तिक

है ? चार धातु स्वतंत्र हैं या इनका मूल परमाणु है, जगत के पदार्थ नित्य हैं या अनित्य हैं, जगत अनादि है या सादि है, निर्विकल्प समाधि से मोक्ष होता है या शुभ कार्यों से भी हो जाता है, भक्ति पात्रतारिणी है या नही, मूर्ति पूजा हितकारी है या व्यर्थ है, गुरु सेवा व शास्त्र सेवा कर्तव्य है या कोरा समय का दुरुपयोग है, धर्म है या केवल बनावटी ढोंग है, ब्रह्ममय जगत है या नही, द्रव्य एक है या अनेक है, भावमात्र जगत है या दुःख रूप जगत है ?

ज्ञान ज्ञेय से पृथक् है या एक है, सच्चा अतीन्द्रिय सुख सुख है या नही, इत्यादि धार्मिक तत्त्वो मे निर्णय को न पाकर संशय मिथ्यात्वी केवलज्ञान के विकल्पो मे ही उलझा हुआ जीवन को खो देता है सच्चे सुखामृत के समुद्र को अपने आत्मा के भीतर रखता हुआ भी वह विचारा कभी उसमे स्नान नही कर पाता है, न उसके एक बूंद का स्वाद पाता है। स्वतंत्रताप्रिय इस मिथ्यात्व को सम्यक्त्व के प्रभाव से हटा कर निजात्मा को परमात्मा व आनद सागर समझ-कर उसी की सेवा मे व उसी के अनुभव मे गुप्त होकर परम सुख भोगता है।

---

५३. अज्ञान मिथ्यात्व

स्वतन्त्रताखोजी स्वतन्त्रताबाधक शत्रुओ की खोज करके उनको अपने क्षेत्र से बाहर करने का प्रयत्न कर रहा है। मिथ्यात्व के समान आत्मा का कोई प्रबल वैरी नही है। अज्ञान मिथ्यात्व ने तो सारे संसारी जीवों को बावला बना डाला है। एकेन्द्रिय प्राणी से लेकर असैनी पचेन्द्रिय तक सब प्राणी अज्ञान से पर्याय बुद्धि हो रहे हैं। शरीर की स्थिति को ही आप जान रहे हैं। सैनी पचेन्द्रियो में भी पशु, पक्षी, मत्स्यादि व मानवादि जिनको किसी धर्म का भी उपदेश का अवसर नही मिला है वे सब अज्ञान से पर्याय बुद्धि हो रहे हैं।

जिनको धर्म का समागम है वे अज्ञान पूर्ण धर्म के उपदेश को सुनकर भी आत्मा की सच्ची प्रतीति-से विमुख हैं। कतिपय मानवों को सत्व धर्म के जानने व श्रद्धान करने का अवसर भी है। परन्तु वे जानने का उद्यम नहीं करते हैं। देखादेखी कुल की आम्नाय से कुछ धर्म के बाहरी नियम पालते हैं। वे भी मिथ्यात्व से ग्रसित हैं।

कुछों का विश्वास है कि जो जानेगा उसे पाप पुण्य लगेगा। हम न जानेंगे तो हमें कुछ नहीं लगेगा। ये सब अज्ञान मिथ्यात्व से दूषित प्राणी अपने भीतर सच्चा तत्व रखते हुए भी स्वयं शुद्ध सिद्ध परमात्मा परमानंदमय होते हुए भी अपने को दीन-हीन शरीर रूप मानकर विषय कषायों में लीन हैं। ज्ञानी जीव इस अज्ञान मिथ्यात्व को दूर करके सद्‌गुरु व सत्‌शास्त्र के द्वारा अभ्यास करके भेदविज्ञान को प्राप्त करता है। तब निज आत्मा को रागादि से भिन्न पाकर व स्वयं परमात्मा है ऐसा अनुभव करके अपूर्व आनन्द का लाभ करता है।

---

५४. विनय मिथ्यात्व

ज्ञानी स्वातंत्रताप्रिय परतन्त्रताकारक कारण को खोजकर मिटा रहा है। प्रबल शत्रु मिथ्यात्व है। विनय मिथ्यात्व भी बड़ा ही भ्रामक है। भोला जीव यह जानकर कि धर्म कोई भी हो सब ही पापनाशक हैं व कुछ न कुछ भला करने वाले हैं ऐसा समझकर बिल-कुल विचार नहीं करता है कि मैं कौन हूं, मेरा स्वरूप क्या है? राग द्वेष क्यों हानिकारक है? सच्चा सुख क्या है? मुक्ति क्या है, इन प्रश्नों पर बिना विचार किये हुए केवल यह भय रखता है कि मेरा बुरा न हो, मुझे गरीबी न सताये, कुटुम्ब का क्षय न हो, रोग शोक न हो, सब फलें फूलें। सांसारिक सुख के लोभ से व दुःखों से भयभीत होकर धर्म मात्र को अच्छा जानकर सब धर्मों की भक्ति व विनय करता है। सर्व प्रकार के देवों को, गुरुओं को, धर्मों को, मंदिरों

को, मठों को, पूजा-पाठ को मानता है, कुछ तो भला होगा, ऐसा भाव रखता है। हम तो पापी हैं, हमसे तो सब ही धर्म अच्छे हैं। इस भोले-पन से सबकी विनय करता हुआ तत्त्व को कभी नहीं पाता है। जैसे कोई रत्न के नाम से काच की, कंकड़ की, पाषाण को सबकी ही प्रतिष्ठा करे तो उसे रत्न का लाभ न होगा, रत्न परीक्षक को ही लाभ होगा। विनय मिथ्यात्व की मूढ़ता को मन से निकाल कर ज्ञानी जीव विवेकी हो जाता है और भेदविज्ञान से अपने आत्मा को निश्चय नय के द्वारा परमात्मा व परम शुद्ध परमानन्द भाव समझ कर उसी की ही तरफ लौ लगाता है। स्वानुभाव को पाकर परम सुखी हो जाता है।

———

५५. अनन्तानुबन्धी क्रोध

एक ज्ञानी आत्मस्वतंत्रता का प्रेमी होकर परतंत्रताकारक कारणो की खोज करके उनको मिटाने का उद्यम कर रहा है। आत्मा का परम वैरी अनन्तानुबन्धी क्रोध है। क्रोध अग्नि के समान ज्ञान, शांति, सुखादि गुणो को घातने वाला है। अनन्तकाल तक जिसकी वासना चली जा सके, छः मास से ऊपर दीर्घकाल तक जिसकी वासना रहे, उसे ही अनन्तानुबन्धी कहते हैं। जिस किसी का द्वेषभाव हो जावे वह भव भव मे साथ रहे, मिटे नही। जैसे कमठ का द्वेषभाव पार्श्व-नाथ स्वामी के जीव मरुभूति के साथ था जो कई भवों तक, सागरों तक चला। अनन्तानुबन्धी कषाय मे कृष्ण, नील, कपोत तीन अशुभ व पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभ लेश्या रूप भाव रह सकते हैं। अतएव ऐसे क्रोध का कभी मंद, कभी तीव्र झलकाव होता है। प्राणी पर्याय बुद्धि होता है। शरीर को सुख मानता है, पाचो इन्द्रियों के भोगों में जो बाधक होते हैं उनसे द्वेष बांध लेता है, उनके नाश का उपाय सोचता है। भीतर कषाय की आग जला करती है। कभी ऊपर से शांति भी प्रगट होती है। इस कषाय के मैल से कलुषित आत्मा के

भीतर शुद्धात्मा का दर्शन होना अतिशय कठिन है, असंभव है। उसके भावों में संसार उपादेय झलकता है। संसारी प्राणियों से ही राग-द्वेष रहता है। बहिरात्मा बुद्धि का ही चमत्कार रहता है। मिथ्यात्व के लिए यह कषाय परम सहकारी है।

इस अनन्तानुबन्धी क्रोध कषाय के वशीभूत होकर यह प्राणी कभी भी सम्यक्त्व का लाभ नहीं कर पाता है। अतएव ज्ञान का खोजी भी गुरु की शरण ग्रहण करता है। उपदेशरूपी जल के छिड़काव से भीतरी क्रोध की आग को शांत करने का उद्यम करता है। पुनः-पुनः भेद विज्ञान के अभ्यास से कि मैं शुद्धात्मा हूं, मैं कषायवान नहीं, कषाय भाव कषाय कर्म का मैल है। मैं सदा वीतरागी हूं। यह ज्ञानी सम्यक्त्व को पाकर परम सुखी हो जाता है। आत्मीक बाग में रमण करता है।

---

५६. अनन्तानुबन्धी मान

एक ज्ञानी स्वतंत्रता खोजी परतंत्रताकारक शत्रुओं की तलाश कर रहा है। अनंतानुबंधी मान भी बड़ा ही अंधकार फैलाने वाला है। इसके आक्रमण से प्राणी पर-पदार्थ में अन्धा हो जाता है। पर-वस्तु का स्वामीपना मानकर घोर अन्धकार करता है। मैं उत्तम व श्रेष्ठ कुल-धारी हूं, मेरी माता की पक्ष जाति शिरोमणि है। मैं बड़ा धनिक हूं, मैं बड़ा रूपवान हूं, मैं बड़ा बलवान हूं, मैं बड़ा अधिकार प्राप्त हूं, मैं बड़ा ज्ञानी हूं, मैं बड़ा तपस्वी हूं; इस तरह अभिमान करके अपने से औरों को तुच्छ देखकर उनका तिरस्कार करता है। जो पर्याय प्राप्त है उसमें आपा मान कर मैं राजा, मैं बड़ा, मैं रागी, मैं द्वेषी, मैं परोपकारी, मैं दानी, मैं तपस्वी, इस अहंकार में व मेरा यह चेतन व अचेतन परिग्रह है, इस ममकार में फंसा रहता है। उसकी बुद्धि के ऊपर इस अभिमान का संस्कार दृढ़ हो जाता है। स्वार्थ साधने के लिए अन्याय

करता है। अन्याय करते हुए मैं सफल होऊंगा ऐसा घोर मान करता है। जैसे रावण ने सीता को हरण करके रामचन्द्र द्वारा समझाये जाने पर भी मरते समय तक मान न त्यागा, अनंतानुबंधी मान भव-भव में अहंकार ममकार भाव जमाये रहता है, मिथ्या मान्यता के बढ़ाने मे परम सहकारी है।

आप आत्माराम परम शुद्ध निर्विकार अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य का धनी परम कृतकृत्य व परम वीतराग है, तो भी यह मान, अपने को और का और मान घोर भ्रम फैला देता है। ज्ञानी भेदज्ञान के द्वारा इस कषाय के स्वरूप को विपरीत समझ कर इसके आक्रमण से बचता है। और अपने स्वरूप को यथार्थ समझकर निरतर उस यथार्थ स्वरूप की भावना करता हुआ सम्यक्त्व को पाकर शत्रु पर विजय प्राप्त करके परम सन्तोषी हो जाता है।

---

५७. अनंतानुबंधी माया

ज्ञानी स्वतंत्रता खोजी सर्व परतन्त्रकारकों को पहचान कर अपने पास से दूर करना चाहता है। अनंतानुबंधी माया भी बड़ी भारी पिशाचिनी है। यह मोहित करके पर को छलने की बुद्धि उत्पन्न कर देती है। मिथ्यादृष्टि जीव विषयों का अति लोभी होता है। तब उनकी प्राप्ति व रक्षा के लिए नाना प्रकार के उपाय करता है। कपट के षड्यंत्र रचता है, पर का सर्वनाश हो जाने की शंका नहीं रखता है। स्वार्थ-साधन हेतु पर का कपट से मित्र बन जाता है, फिर अवसर पाकर मित्र को ठग लेता है। धन्यकुमार सेठ के सात भाइयों ने ईर्षा करके कपट से मुनि दर्शन के बहाने बन में ले जाकर धन्यकुमार को एक कुण्ड में गिराकर मारने का प्रयत्न किया।

रावण ने कपट से सीता पतिव्रता राम-पत्नी को हरा। ये दोनों अनन्तानुबन्धी माया के दृष्टान्त हैं। पर की हानि व चित्त शोक का

निर्दयता से बिना बिचार किये हुए ही मायाचारी घोर अन्याय कर लेता है। तीव्र कषाय भावों से घोर पाप कर्म का आस्रव हो जाता है। बहिरात्म बुद्धि को धिक्कार हो जिसके वश होकर एक शिकारी जंगल में दाना खिलाने के लोभ से मृगों को पकड़ लेता है। उनकी स्वतंत्रता हर लेता है। संसार भ्रमणकारी इस मायाचार का बहिष्कार करने के लिए ज्ञानी इस जगत की अवस्था को अशास्वत बिचारता है। मरण के आते ही सर्व सामग्री व सर्व प्रबन्ध छूट जाता है। अतएव तुच्छ कालीन जीवन के हेतु, नाशवत परिग्रह के हेतु मायाचार करके स्वार्थ साधना बिल्कुल मूर्खता है, ऐसा बिचार कर ज्ञानी क्षणस्थायी प्रपंचजाल से विरक्त हो जाता है और द्रव्यों का स्वभाव बिचारता है तब अपने आत्मा को परमात्मा के समान परम ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों का धनी पाता है। परम सन्तोष, शांति व सुख का लाभ अपने ही भीतर तिष्ठने में है ऐसा निश्चय कर लेता है। अनन्तानुबंधी माया का दमन करके स्वस्थ हो अपने शुद्ध स्वभाव में श्रद्धान ज्ञान के साथ रमण करने लगता है तब जो आनन्द पाता है वह विषयसुख के सामने अमृत तुल्य है। विषयसुख विष तुल्य है। आप में रमण करके सम्यक्त्वी अन्तरात्मा बना रहता है।

---

५८. अनंतानुबंधी लोभ

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता का प्रेमी होकर सर्व परतंत्रता के कारणों को विचार कर उनके त्याग का उपाय करता है। अनंतानुबंधी लोभ भी बड़ा भारी शत्रु है। इसके वश में होकर यह प्राणी इतना अधिक तृष्णावान हो जाता है कि तीन लोक की सम्पत्ति भी यदि प्राप्त हो जावे तो भी उसकी तृष्णा की ज्वाला शमन नहीं हो सकती। पांचों इन्द्रियों के विषयों का तीव्र लोभी होकर या अपनी प्रसिद्धि व मान पाने का तीव्र अनुरागी होकर वह स्वार्थ-साधन में बिलकुल बंधा

हो जाता है। कृष्ण, नील, लेश्या के परिणामों में ग्रसित होकर, पर को भारी कष्ट देकर, सर्वथा नाश करके भी धन व राज्य-इच्छित वस्तु प्राप्त करने की चेष्टा करता है। दया का भाव उसके स्वार्थ के सामने निर्दयता में बदल जाता है। पर को हिंसा करके, असत्य बोलकर, पर का द्रव्य अपहरण करके, पर महिला का संभोग प्राप्त करके अपने को बड़ा कृतार्थ व पुरुषार्थी मान लेता है। अन्यायपूर्ण आरम्भ व परिग्रह के संचय में रात-दिन आकुल-व्याकुल रहता है। तीव्र लोभ की वासना से वासित रहकर निरन्तर ही विषय भोगों की वाञ्छा किया करता है। तृष्णा की दाह में जला करता है। ऐसा मोही जीव कभी इस बात का विचार नहीं करता है कि मैं कौन हूं, जन्म व मरण क्या वस्तु है। यह जीवन अनित्य है। एक दिन सर्व सम्पदा का त्याग कर देना पड़ेगा। जीव को अकेले पाप-पुण्य को लिए हुए जाना पड़ेगा। वह लोभी, मदिरापानी उन्मत्त पुरुष की तरह विषयों के भोग में रत रहता है। यदि कभी धर्म का आचरण भी पालता है तो यही अन्तरंग भावना होती है कि इसके फल से अधिकाधिक विषयसुख प्राप्त करूं। यह अनंतानुबंधी लोभ मिथ्यात्व भाव को दृढ़ करता है। अज्ञान का अंधेरा छा देता है। आप स्वय परमात्मा है, परमानदमयी है, परम वीतराग है, पूर्ण ज्ञानदर्शनमयी है, परम वीर्यशाली है, अविनाशी है, अमूर्तीक है। ऐसा होकर भी आपको नही पहचानता है। पर्याय बुद्धि का अहं-कार नहीं छोड़ता है।

ज्ञानी जीव इस लोभ को आत्मा का महान शत्रु समझता है, इसे कषाय कर्म के उदय का मैल जानता है। इससे परम उदासीन हो जाता है। ज्ञान का दीपक जलाता है। भीतर अपने आत्मा को परमात्मा तुल्य जानकर भेदविज्ञान प्राप्त करता है और इसी शस्त्र से बार-बार भावना करके अनन्तानुबंधी लोभ को जीतकर अपने अखण्ड ज्ञानमयी स्वरूप में थिरता पाकर व स्वात्मा का अनुभव करके परम तृप्त व निराकुल हो जाता है।

---

५९. स्पर्शनेन्द्रिय अविरति

ज्ञानी जीव परतन्त्रता के कारणों की खोज करता है तो पांचों इन्द्रियों की आसक्तता को भी आत्मा की स्वतन्त्रता में बाधक पाता है। स्पर्शनेन्द्रिय का सामान्य विषय आठ प्रकार का है—रमणीक चिक्कन या रूखी वस्तु के स्पर्श करने की तृष्णा या गर्म या ठण्डी वस्तु के स्पर्श की कामना, या नरम व कठोर वस्तु या हल्की व भारी वस्तु छूने की कामना होती है। सामान्य आठ प्रकार के स्पर्शके कारण कोई चिकने गद्दे, लिहाफ, बिछौने चाहता है, कोई कठोर शय्या पर ही स्पर्श करने में राजी है, कोई ठण्डे कोई गरम पानी से स्नान करने में या पानी मे खुश है, कोई गर्म रोटो कोई ठण्डो रोटी में राजी होता है कोई कोमल फूलों की मालाएँ पहनता है, कोई कठोर वस्तुओं से व्यायाम करता है, कोई हलके कपड़े व बर्तन, कोई भारी वस्तुओं के स्पर्श में राज़ी रहता है। इन सामान्य आठ प्रकार के विषयों में तृष्णा बहुत भयंकर नहीं है, जितनी भयंकर तृष्णा काम वासना से पीड़ित होकर सुन्दर स्त्री या पुरुष के स्पर्श में होती है। मनोज्ञ काम के विषय रूपी स्त्री या पुरुष के साथ घूमने, चलने, उसके अङ्ग परस्पर स्पर्श करने को अति आसक्ति होती है। इस कामना भाव से पीड़ित स्पर्शनेन्द्रिय की तृष्णा से कितनेक मानव ऐसे विषयान्ध हो जाते हैं कि विवाहित या अविवाहित स्त्री का भेदभाव भूल जाते हैं। न्याय व अन्याय के मार्ग की ओर दुर्लक्ष्य हो जाते हैं। इस कामासक्त रूप स्पर्श भाव के कारण न्याय पथ पर चलने वाले भी स्व स्त्री के साथ अधिक काम सेवन करके मन व शरीर से निर्बल हो जाते हैं। अन्याय पथगामी तो अधिक पतित होकर शरीर को रोगी व वीर्यहीन बना लेते हैं।

स्पर्शनेन्द्रिय के काम भाव से युक्त विषय की चाह बहुत ही भयंकर है। कितने ही न्यायपथगामी किसी पर आसक्त होकर उसको न पाकर पागल के समान हो जाते हैं। काम स्पर्श की तृष्णा मानव

को ऐसा अन्धा बना देती है कि उसको अपने आत्मीक सुख की स्मृति भी नहीं आती है। इस अविरत भाव मे प्राय: सर्व ही प्राणी एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक पशु, पक्षी, मत्स्य, मानव, देव, नारकी सब फँसे हैं। मैथुन सज्ञा के विकार से विकृत हैं। यह कामासक्ति तीव्र कर्म का बंध कराकर भवभव मे दीनहीन पर्याय में पतन कर देती है। आत्मीक आनन्द के स्वाद लेने के अवसर से प्राणी अति दूर होता जाता है। ज्ञानी जीव वस्तु के स्वरूप का विचार कर काम भाव की इच्छा को घातक समझता है। किसी भी स्पर्श की चाह को भी परतंत्रकारी जानता है। इससे सर्व प्रकार की स्पर्शनेन्द्रिय जनित तृष्णा के गमन को ही हित-कारी जानता है। अपने आत्मा को परमात्मा के समान परम सुखपूर्ण वीर्यमयी व परम निराकुल और वीतराग समझ लेता है। ज्ञान आत्मीक सुख को ग्रहण योग्य मान के उसका रुचिवान हो जाता है। इस हेय उपादेय रूप भेद-ज्ञानमई भावना के प्रभाव से स्पर्शनेन्द्रिय अविरत भाव को विजय करके स्वात्मरस सन्तोषी हो जाता है। और केवल मात्र अपनी स्वात्मानुभूति क्रिया का ही स्पर्श करता है उससे जो अपूर्व सुख-शान्ति पाता है वह केवल अनुभव गम्य ही है, मन-वचन से अगोचर है।

---

६०. रसनाइन्द्रिय अविरति

स्वतंत्रता स्थापन का दृढ़ सकल्प करने वाला एक बुद्धिमान मानव परतन्त्रता के कारणों को विचार कर उनके दूर करने का दृढ़ पुरुषार्थ कर रहा है। पुरुषार्थ करना ही पुरुष का गौरव है। पुरुषार्थ अवश्यमेव स्वतन्त्रता के दृढ़ रुचिवान को स्वतंत्र कर देता है। मिथ्या-दर्शन व अनन्तानुबंधी कषाय के समान बारह प्रकार अविरत भाव भी बड़ा ही बाधक है। स्पर्शनेन्द्रिय अविरत भाव के समान रसनाइन्द्रिय अविरत भाव भी प्राणी को महान जिह्वा—लम्पटी बना देता है। यह

प्राणी जिह्वा के स्वाद के कारण खट्टे, मीठे, चरपरे, तीखे, कसायले आदि नाना स्वाद वाले पदार्थों की दृढ़ कामना करता है। अपना जीवन स्वादिष्ट पदार्थों के सेवन के लिए ही है ऐसा समझता है। स्वाद की गृद्धता के कारण भक्ष्य, अभक्ष्य, शुद्ध, अशुद्ध, स्वास्थ्यकारक व अस्वास्थ्यकारक का भेद-भाव भूल जाता है। रोग होने की परवाह नहीं करके जो चाहता है वही स्वच्छन्द हो, खाने-पीने लगता है। पर प्राण पीड़ा के तत्व को भूल जाता है। भूरि हिंसा करके, कराके व हिंसा की अनुमोदना करके रसना का विषय पुष्ट करता है।

रसना लम्पटी मानव अधिक धन का लोभी बन जाता है, क्योंकि धन बिना इच्छित पदार्थों का लाभ होना असम्भव है तब घोर अन्याय व हिंसा करके अनेक जाल रच करके धन कमाता है, तीव्र लोभ के वशीभूत रहता है। खेद है नाना प्रकार की स्वादिष्ट वस्तुओं का स्वाद लेते हुए ही रसनाइन्द्रिय की तृष्णा शमन नहीं होती है। प्रत्युत जितना-२ भोग किया जाता है उतनी-२ चाह की दाह बढ़ जाती है। शरीर निर्बल व वृद्ध होने पर भी व काम करने की शक्ति न होने पर भी यह रसना की विषयवांछा को छोड़ता नहीं। असमर्थता में खेद करता है व यह भावना भाता है कि मर करके ऐसी स्थिति में उत्पन्न होऊँ जो नाना प्रकार के रसीले भोज्य पदार्थों का भोग करूं, इस लोभ से प्रेरित हो पूजा-पाठ, जप-तप, धर्म का सेवन भी करने लग जाता है। अतृप्तिकारी रसना इन्द्रिय की वांछा की परम्परा को बढ़ा-कर यह अधिक-अधिक परतंत्र व मोही बनकर संतापित व क्लेशित होता है।

इस रसना इन्द्रिय की कामना को दुःखवर्द्धक व भयवर्द्धक समझ कर ज्ञानी जीव अपने भीतर विराजित अपने आत्माराम का स्वभाव विचारता है कि यह तो स्वभाव से परम शुद्ध परमात्मा है। इसका स्वभाव आनन्दमय है। इस आनन्द का अमृतमई स्वाद अनुपम है। परम शांत है, तृप्तिकारी है, आत्मा को पुष्ट करने वाला है, निराकुल

है, स्वाधीन है, अविनाशी है। इस सुख का बाधक रसना इन्द्रिय की तृष्णा है व विषयभोग का क्षणिक सुख है। अतएव ज्ञानी महात्मा अपने उपयोग को रसना इन्द्रिय की चाह से दूर करता है। शरीर स्वास्थ्य को आवश्यक पदार्थ मात्र खाता-पीता है, सन्तोषी रहता है और उपयोग को पांचो इन्द्रिय व मन के विषयो से रोक कर उसे अपने ही आत्मा के स्वभाव में जोड़ता है, बार-बार शुद्ध स्वभाव की भावना भाता है। भावना भाते-भाते यकायक जब कभी क्षणमात्र के लिए आत्मा में स्थिरता पाता है तब अपने परमानन्द को भोगकर परम तृप्त हो जाता है। जैसे शांत सरोवर के निकट चलना-फिरना भी शांतिप्रद है, उसमें स्नान व उसका जलपान तो शांतिपद है हो, वैसे ही शुद्धात्मा की भावना व चर्चा भी सुखप्रद है। उसमें अवगाहना व स्थिर रहना तो अपूर्व आनन्द का दाता है ही। धन्य है वह महात्मा जो आत्मीक रस का रसिक हो व रसना रस से अनासक्त रह आनन्द का लाभ करके अविरत भाव को जीतता है, व अपना जीवन सुखी बनाता है।

---

६१. घ्राणेन्द्रिय अविरतभाव

स्वतंत्रता प्रेमी परतंत्रताकारक बाधकों का पता लगाकर उनसे विराग भाव भजता है। २ अविराग भावों मे घ्राणेन्द्रिय अविरत भाव भी है। इस इन्द्रिय की तृष्णा से प्रेरित प्राणी गंध के ग्रहण मे पागल होकर अपने प्राण तक गंवा देता है। भ्रमर कमल के भीतर सुगन्ध लेता हुआ बैठा रहता है, संध्या होती है कमल बन्द हो जाता है, और उसके प्राण पखेरू उड़ जाते हैं। तेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक सकल प्राणी इस इन्द्रिय के वश में हैं।

मानव के भीतर इसकी तृष्णा जब तक जागृत होती है तब तक वह मानव अतर फुलेल पुष्पादि नाना सुगन्धित पदार्थों की सुगंध लेने मे आसक्त हो जाता है, फूलों की मालाए पहनता है, फूलों के द्वारा सज्जित उपवन मे कलोल करता है।

सुगन्ध की तृष्णा जितना भी सुगन्ध को भोगे बढ़ती ही जाती है। उस विषय की तीव्रता के आधीन होकर यह मूढ़ प्राणी सवेरे-सांझ को इसी विषय की तृष्णा के लिए घन्टों खर्च कर देता है। इसका जीवन इसी सुगन्ध की तृष्णा में ही समाप्त हो जाता है। यह तृष्णातुर ही प्राण छोड़ता है।

हा ! यह मानव जन्म जो अपने सच्चे स्वरूप के पहचानने के लिये था व जो अपने ही भीतर विराजित अनुपम अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख के भोगने के लिए था वह विनाशीक घ्राणेन्द्रिय के लोभ में समाप्त कर दिया जाता है।

ज्ञानी जीव इस अविरत भाव को आत्मघातक समझकर निरोध करता है। घ्राणेन्द्रिय का उपयोग स्वास्थ्यवर्द्धक व स्वास्थ्य शोधक पदार्थों की परीक्षार्थ ही करता है। इन्द्रियों की तृष्णा से अनादिकाल से जब अब तक तृप्ति नही हुई तब तृप्ति होना असंभव जानकर इस परतन्त्रताकारक बंधन से मोह हटा लेता है, और स्वतंत्रताकारक रत्नत्रय धर्म का गाढ़ प्रेमी हो जाता है। जिस धर्म से निरन्तर सुख-शांति मिले, जिस धर्म से आत्मा कर्म-मेल से रहित हो, जिस धर्म से आत्मा के भीतर वीतरागता की वृद्धि हो वह धर्म ही मानव के लिये परम शरण है।

इस धर्म का वास किसी परपदार्थ में नही है जहां से इसे उठाया जा सके व धनादि देकर क्रय किया जा सके। यह धर्म तो प्रत्येक आत्मा का उसी आत्मा के भीतर ही है।

आत्मा का आत्मा रूप ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। आत्मा का आत्मारूप स्थिर रहना, राग-द्वेष, मोह की पवन से विचलित न होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनों ही आत्मा के अविनाशी गुण हैं।

जो आपसे ही आप में आपके ही लिए वास करता है वह रत्नत्रय धर्म को अपने में ही पा लेता है। परम सुखी व संतोषी हो जाता है। इस धर्म की शरण ग्रहण करने से मोही अपूर्व शांतिमय सुवास

पाता है। जिस सुवास के भोगने से घ्राणेन्द्रिय सुवास का लोभ मिट जाता है।

ज्ञानी जब इसी धर्म के प्रताप से स्वानुभव को जागृत करता है तब मन, वचन, काय से अगोचर एक ऐसे स्थान पर पहुंच जाता है जिसका न नाम है न वहां लिंग है, न वचन है। केवल एक अद्वितीय परमानन्दमय अमृत का सागर है, जहा वह मत्स्यवत् मगन होकर क्रीड़ा करता है।

---

६२. चक्षु इन्द्रिय अविरति

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार की परतन्त्रता को विचार कर त्यागना चाहता है। बारह अविरत भावों मे चक्षु इन्द्रिय अविरति भी है। चक्षु इन्द्रिय से जगत के स्थूल पदार्थ दीख पड़ते हैं। सुन्दर, श्वेत, पीत, नील, कृष्णादि विचित्र रंगो को देखकर अज्ञानी मोह करता है। असुन्दर वर्ण वाले पदार्थों से द्वेष करता। वास्तव में पाचो इन्द्रियो के विषयों की तरफ मोह पैदा करने के लिए चक्षु इद्रिय बड़ी बलवती है। आंखो से देखकर स्त्रियो मे व पुरुषो में राग हो जाता है, रमणीक पकवानों को खाने की चाह हो जाती है, सुगधित पुष्पादि को देखकर सूघने की इच्छा हो जाती है, सुन्दर पदार्थों को देखकर बार-बार देखने की इच्छा हो जाती है, गाने-बजाने व गवैयो को देखकर गाना सुनने की इच्छा हो जाती है। चाह की दाह बढ़ाने को चक्षु इन्द्रिय प्रबल निमित्त है। मिथ्यात्व की भूमि होने से यह अज्ञानी राग-द्वेष, मोह की वासना को लिए हुये ही पदार्थों को देखकर निरन्तर मनोज्ञ विषयों की खोज में रहता है। वीतराग भाव से यह कभी नही देखता अतएव चक्षु इन्द्रिय से प्रबल कर्मों का आस्रव होता रहता है। राग रहित देखने की आदत को मिटाना ही आत्मा का हित है। ज्ञानी जीव दृश्य पदार्थों को मात्र देखकर वस्तु स्वरूप विचार कर समभाव रखता

है, आंखों का विषय रूपी मूर्तीक है, वह सब पुद्‌गल द्रव्य की स्थूल पर्यायें हैं। सर्व अवस्थायें क्षण-क्षण मे विनाशीक हैं। सुरूप कुरूप हो जाता है, निरोगी रोगी हो जाता है, नया सुन्दर मकान कुछ काल पीछे पुराना असुन्दर हो जाता है, क्षणिक दृश्य पदार्थों में राग करना धूप व छाया के साथ मोह करना है, धूप छाया कभी रहने की नही है, ज्ञानी जीव धूप व छाया को चचल मानकर समभाव रखता है, वैसे ही सर्व ही जगत को दिखलाई देने वाली पर्यायों को चचल मानकर समभाव रखना चाहिये।

आत्मा का सच्चा हित व जगत का हित जिन चेतन व अचेतन पदार्थों से होता है उनको देखकर प्रमुदित होना चाहिये। यह चक्षु का सदुपयोग है, स्वपरोपकारी शास्त्रों का अवलोकन, तीर्थादि पवित्र भूमियो का दर्शन, आत्मज्ञानी विद्वानो का मुखावलोकन, जिनेन्द्र की शात मुद्रा का निरीक्षण हितकारी है। परोपकार हेतु कला-कौशल्य की वस्तुओ को व लोकोपकारी पुस्तको को व प्रवीण विद्वानों को व ज्ञानदातार चित्रों को देखना भी गुणकारी है।

यदि सदुपयोग में लगाया जावे तो चक्षु इन्द्रिय हमारा बड़ा काम करती है। इसी की सहायता से देखकर चला जाता है, खाया पिया जाता है, रक्खा उठाया जाता है, ये मानव के शरीर की भूषण है।

चक्षु से इष्ट योग्य पदार्थों के देखने की इच्छा ही अविरति भाव है। जगत मे सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव मे हैं। न कोई इष्ट है, न कोई अनिष्ट है। प्राणी अपने स्वार्थवश अपनी कल्पना से किसीको इष्ट व अनिष्ट मान लेते है।

ज्ञानी जीव इस चक्षु इन्द्रिय द्वारा दर्शन को पराधीन मानता है। देखने वाला तो आत्मा ही है। उसे इन्द्रिय की सहायता क्यों लेना पड़े। क्यों न वह स्वय असहाय होकर जाने। इसलिए दर्शनावरण व ज्ञानावरण का पर्दा हटाना होगा। अतएव चक्षु इन्द्रिय के विषयो से

उदासीनता रखकर प्रयोजनीय पदार्थों को भी वस्तु स्वरूप से देखकर राग, द्वेष, मोह की कालिमा से बचना चाहिए।

ज्ञानी जीव अंतर्मुख होकर अपने ही आत्मा के द्रव्य स्वरूप को देखता है तो उसे सिद्ध भगवान के समान ज्ञातादृष्टा, परमानंदी, अनंत वीर्यवान, पूर्ण अमूर्तीक, सर्व द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरहित पाता है। इस आत्मावलोकन के अभ्यास से अविरत भाव को दूर करता है। बाहर देखना अनुपकारी समझकर केवल भीतर ही देखता है। तब वहा अपने शुद्धात्मा का दर्शन पाता है। इसी दर्शन में तृप्त होकर वह चक्षु इन्द्रिय के विषयो से विरक्त व आसक्त हो जाता है। और बार-बार अपने भीतर अपनी परम प्रिया आत्मानुभूति-तिया का दर्शन करके जो अपूर्व आत्मानद पाता है वह बिलकुल वचन गोचर नहीं है। न मन से चिंतवन योग्य है। केवल मात्र अनुभवगम्य है।

---

६३. श्रोत्रेंद्रिय अविरत भाव।

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार की परतंत्रता को विचार कर उनसे दूर होने का प्रयत्न करता है।

बारह अविरत भावों मे श्रोत्रेंद्रिय अविरत भाव भी बड़ा बाधक है। शब्द के विषय सात स्वर हैं। पचेंद्रियजीव कान के वशीभूत होकर सुन्दर स्वरो के सुनने की तीव्र वांछा करते है। मृगगण इसी विषय मे लुब्ध होकर जाल में फ़ंसकर पकड़े जाते है। मानव भी कान के विषय के वशीभूत होकर सुन्दर स्त्रियो के मनोहर गान के सुनने में लुब्ध हो जाता है, वेश्याओं के सुरीले गान मे फंसकर वेश्या सेवन के व्यसन में रत होकर शरीर, धर्म व धन तीनो का नाश करता है।

कर्णइंद्रिय का उपयोग विषयलम्पटता में करना मानव को लौकिक व पारमार्थिक उन्नति में पूर्ण बाधक है। ज्ञानी मानव कर्ण-इंद्रिय से आत्मीक उन्नतिकारक शास्त्र सुनता है व परोपकार कारक

वार्ताओं को सुनकर जगत का हित करता है। राग द्वेष मोहवर्धक शब्दों के श्रवण से उदास होकर ऐसी संगति नहीं करता है जिससे वृथा कर्णेन्द्रिय के विषय में फंसकर जीवन का अनुपयोग किया जावे। यह अविरत भाव कर्मास्रव का कारक है।

व्यवहार में वर्तते हुए पापवर्द्धक शब्दों के श्रवण में अपने को उपयुक्त करता है। महान तत्वज्ञानी गुरुओं के मुख से वाणी सुनकर तत्वज्ञान का मनन करके स्वपर का भेद ज्ञान प्राप्त करता है।

अविरत भाव आत्मा के अनुभव मे पूर्ण बाधक है। जो कोई सर्व इन्द्रियो के विषयों से उपयोग को हटाकर अपने उपयोग को इंद्रियातीत आत्मा के स्वरूप मे जोड़ता है वही स्वतन्त्रता के मार्ग पर चलता है।

स्वतंत्रता आत्मा का निज स्वभाव है। उसमें किसी भी परद्रव्य का प्रवेश नही होता है। द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म, क्रोध, मान, माया, लोभादि, नोकर्म शरीर आदि, ये सर्व पर ही हैं। इनका संपर्क परतन्त्रता का कारण है।

जो कोई तत्वज्ञानी विश्व के स्वरूप को पहचानता है और द्रव्यदृष्टि से छः द्रव्यो को देखता है, सब पर समभाव रखता है, वह आत्मा के परतंत्रताकारक पुद्गल का स्वागत न करता हुआ स्वतंत्रता के मार्ग का पथिक हो जाता है।

पाचो इंद्रियो की विषयवासनाएं महान बंधन हैं। जो इनको जीतता है, वही जिन भगवान का अनुयायी होता है। आत्मीक अनुभव से एक अपूर्व आनन्द उत्पन्न होता है। इस अमृतमई रस का प्रेमी सम्यग्दृष्टी जीव परम सन्तोषी रहता है। उसका सर्वस्व प्रेम निज निधिपर ही रहता है। वह परमाणु मात्र भी परद्रव्य की कामना नहीं करता है। ऐसा सम्यग्दृष्टी जीव अपनी इंद्रियों को अपने वश में उसी तरह रखता है जैसे चतुर स्वामी अपने घोड़ों को अपने आधीन रखे। और जब चाहे तब उनपर चढ़कर स्वेच्छ स्थान पर चला जावे। ज्ञानी जीव

भी इन्द्रिय—विजयी रहकर जब स्वात्मरमण में नहीं ठहर सकता है तब इनके द्वारा उपयोगी काम लेता है। कभी भी उनके वश में नहीं रहता है। ऐसा स्व-वशी ज्ञानी जीव अविरति भाव को परतन्त्रता को दूरकर निज शुद्धात्मा की सार गुफा मे तिष्ठता है और वहा एकाग्रता प्राप्त कर व निराकुल होकर ज्ञानानदमई अमृत का पान कर तथा स्वतन्त्रता का उपासक होकर जीवन को सफल करता है।

---

६४. मनोनोइन्द्रिय अविरत भाव।

ज्ञानी जीव स्वतत्रता के लाभ के लिए परतत्रताकारक कारणो को विचार कर उन कारणो को मिटाने के लिए उद्योग करता है। सैनी पंचेन्द्रिय जीवो के लिए मन का आलम्बन बडा भारी कर्मबध का कारण है। मिथ्यादृष्टी जीव सासारिक वासना के कारण मन मे पाँचो इन्द्रिय सम्बन्धी विकल्प किया करता है। कभी स्पर्शन इद्रिय के वशीभूत होकर पिछले कायभोगो को विचारता है। उनकी याद करके रंजायमान होता है। नए कायभोगो के लिए चिंता करता है, उनकी प्राप्ति का उपाय सोचता है, न मिलने पर मन मे खेद करता है, इष्ट कायभोग्य पदार्थ के वियोग पर शोक करता है, कभी रसना के भोग्य पदार्थों का चिन्तवन करता है, पिछले भोगों की याद करता है। नए खाद्य पदार्थों की चिन्ता करता है। मन मे चक्रवर्ती, नारायण, प्रति-नारायण आदि महान पुरुषो के स्वादिष्ट भोगो की कल्पना करके मन में तृष्णा को बढ़ा लेता है। कभी घ्राण इंद्रिय के वशीभूत होकर पिछले सुगन्धित पदार्थों का चिन्तवन करता है। आगामी सूघने की भावना करता है। चक्षुइन्द्रिय के वशीभूत होकर मन नाना प्रकार पिछले देखे हुए पदार्थों का स्मरण कर राग को बढ़ाता है। आगामी नाना प्रकार सुन्दर पदार्थों को देखने की तृष्णा किया करता है। श्रोतइन्द्रिय के वशीभूत होकर पिछले सुने हुए गानो को विचार कर

राग भाव बढ़ाता है, अकामी रसीले गीतों के सुनने की आकांक्षा करता है। जिन पदार्थों से मोह होता है उनके बने रहने की व उनकी पुनः पुनः प्राप्ति की भावना करता है। जिनसे द्वेष होता है उनके नाश करने की चिन्ता करता है। अधिक धनादि का बल होने पर मन में अपने अभिमान की पुष्टि करता है। दूसरो को नीचा रखने का विचार करता है। इच्छित पदार्थों के लिए नाना प्रकार मायाचार करने का विचार करता रहता है। तीव्र लोभ के वशीभूत हो राज्य व सम्पत्ति की कामना में आकुल होता है। वह सैनी जीव मन में विषयभोगो की चिन्ता के वश में होकर नाना प्रकार जप, तप, उपवास भी करता है। दूसरे समझते हैं कि मोक्ष का साधन कर रहा है, पर वह भोग का उद्देश्य मन मे रखकर धर्म मे प्रवृत्ति करता है। इस तरह मन का दुरुपयोग करके पाप का बन्ध करता है। ज्ञानी जीव मन मे संसार शरीर भोगों से वैराग्य चिन्तवन करके मन के द्वारा निजात्मा का बारबार मनन करता है। शुद्धोपयोग के पाने का अभिप्रायवान होकर द्रव्यार्थिक नयसे अपने ही आत्मा को शुद्ध बुद्ध परमात्मवत् विचारता है। कभी आत्मविचार में उपयोग नही लगता है तो पचपरमेष्ठी की भक्ति व कर्मबन्ध चर्चादि मे मन को लगाता है। तो भी मन का हलन चलन स्वानुभव का विरोधी है ऐसा जानकर मन का आलम्बन छोड़ता है ओर मन से अतीत होकर केवल स्वसवेदनमय हो जाता है और निजात्मा की सपदा का विलास करता है तब जो अपूर्व आनन्द पाता है वह वचन से बाहर है। स्वानुभव ही मन के विजय का उपाय है।

---

६५. पृथ्वीकायिक वध अविरतभाव

इस जगत में जो स्वतत्रता प्रेमी हैं उनको परतंत्राकारक कारणो को ढूंढकर उनसे बचना चाहिए। आत्मा की परतंत्रता का कारण कर्मों का बन्ध है। कर्मों का बन्ध मिथ्यात्व से जैसे होता है वैसे अवि-

रत भाव से होता है। बारह अविरत भावों में पांच इंद्रिय व मन का वर्णन हो चुका है। शेष छः प्राणी संयम की अपेक्षा अविरत भावों में पृथ्वीकायिक वध की निरर्गलता है। विश्वबंधुत्व की दृष्टि से सर्व ही छोटे व बड़े प्राणी हमारे मित्र हैं। सबकी रक्षा होनी योग्य है।

सांसारिक वासनाओं के वशीभूत होकर पृथ्वी खोदनी, कूटनी, सींचनी व जलानी पड़ती है। इनसे एकेन्द्रिय द्वारा स्पर्श से जानकर कष्ट की वेदना सहने वाले पृथ्वीकायिक जीवों को बड़ा कष्ट होता है। वे निर्बलता के कारण अपना दुःख प्रकाश नही कर सकते हैं परन्तु उनको कष्ट उस भांति होता है, जैसे किसी मानव को हाथ पैर बांधकर जला दिया जावे, मुख में कपड़ा भर दिया जावे और मुगदरों से कूटा जावे। वह सब दुःख सहेगा परन्तु हलन चलन न कर सकेगा। कुमति ज्ञान के द्वारा जानकर कुश्रुत ज्ञान से एकेन्द्रिय जीव दुःख का अनुभव करता है।

मिथ्यात्वी बहिरात्मा न्याय व अन्याय का विचार न करके स्वच्छन्द होकर निर्दयी भाव से पृथ्वी को खोदता है, खुदवाता है, तब सम्यक्त्वी आरम्भी गृहस्थ प्रयोजन वश पृथ्वी के साथ काम लेता है। मर्यादा रूप पृथ्वीकाय के जीवो को कष्ट देता है। जानता है कि मैं कष्ट देता हू। मैं अभी इस तरह के सयम को पाल नही सकता तो भी मन में बड़ी निन्दा गर्हा करता है कि कब वह समय आवे जब पृथ्वी के दलने व कुचलने का आरम्भ न करना पड़े।

देखो कर्मों की विचित्रता, कहा तो यह जीव परमात्मारूप, परमानन्द का धारी, परम शुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीतराग इंद्रादि देवो से पूज्य, अमूर्तीक और कहा इसकी यह दशा जो पृथ्वी के काय में रहकर इसको अनेक वचनागोचर दुःख सहने पड़ते हैं। ऐसा विचार कर सम्यग्दृष्टि जीव क्षणभर निश्चित हो जाता है। और साक्षात् अपने को ईश्वर तुल्य अनुभव करता है। भेदविज्ञान के द्वारा अपने

आत्मा को सर्व अन्य की सत्ताओं से भिन्न जानता है। कर्म द्वारा होने वाले विकारों को भी अपना स्वभाव नहीं जानता है।

निश्चिन्त होकर आपसे आपमें आपको विश्राम कराता है तब यकायक अभेद रत्नत्रयरूप स्वानुभूति के पथ पर चलने लगता है। मैं स्वतन्त्र हूं यही भावना भाता है। रागादि भावों से मेरा कोई निजी सम्बन्ध नहीं है, इस तरह बारबार आपको आपरूप व पर को पररूप देखते जानते रहने से वीतरागता के अंश बढ़ते जाते हैं, सरागता के घटते जाते हैं। जहां वीतरागता बढ़ी कि पूर्वकर्म छूटने लगते हैं।

इस तरह आत्मसमाधि का प्रेमी आत्मा को ही अपना सर्वस्व जानता है। सर्व लोक की प्रपञ्च रचनाओं से अलग होकर एकाकी, निस्पृह, शांतिरूप अपने को अनुभव करता है। यही अनुभव सुख शांति को सदाकाल देता है और परम तृप्ति प्रदान करता है।

---

६६. जलकायिक अविरत भाव।

स्वतंत्रता प्राप्ति का इच्छुक परतंत्रता के कारणों को विचार कर उनसे बचने का उपाय करता है।

बारह अविरत भावों में जलकायिक अविरत भाव भी हिंसा-कारक है। जलकायिक जीव यद्यपि इतना अल्प शरीर रखते हैं कि एक बूंद पानी में संख्या रहित जलकायिक जीव हैं, तो भी वे सब उसी तरह जीना चाहते हैं जैसे हम सब। वे भी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार संज्ञाओं के धारी हैं। अपने प्राणों की रक्षा की सबको आकांक्षा है।

अतः एक दयावान प्राणी का परम कर्तव्य है कि वह दया को चाहने वाले प्राणियों को दया का दान करे। मिथ्यात्वी अज्ञानी बहि-रात्मा जीव दया धर्म से उन्मुख रहकर स्वच्छन्द हो जलकायिक जीवों

का व्यवहार करते हैं जिससे उनकी प्रचुर हिंसा होती है। वे असमर्थ होकर दीनता से सब कुछ सहन करते हैं।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी गृहस्थ व्रती न होने पर भी अनुकम्पावान होता है। प्राणी मात्र की रक्षा चाहता है। अतएव वह जलकायिक जीवो पर भी दयाभाव लाकर प्रयोजन से अधिक उनकी हिंसा नही करता है। प्रयोजनवश भी जो हिंसा हो जाती है उसके लिए अपने मन में अपनी निन्दा गर्हा करता है। तथा यह भावना भाता है कि कब वह दिन आए जब वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे और पूर्ण अहिंसक-भाव में ही रमण करे।

ज्ञानी गृहस्थ जहाँ तक होता है अचित्त जल का सेवन करता है। जिस किसी उपाय से भी जल जीव रहित हो गया हो वह अचित्त है। स्वाभाविक उपायो से परिणत हुआ अचित्त जल व्यवहार के लिए बहुत ही निर्दोष है।

स्नान, पात्र धोवन, वस्त्र धोवन आदि में जल का व्यवहार करना पड़ता है। गृहस्थी विवेकपूर्वक काम करता हुआ बहुत अंश मे वृथा जलकायिक प्राणियो की हिंसा नही करता है।

यह अविरत भाव भी परिणामों को हिंसक बनाकर पाप बंध का कारण है।

परिग्रहत्यागी, निस्पृही, निर्भय, साधु बुद्धिपूर्वक जलकायिक जीवो के वध से विरक्त रहते हैं। उनकी महिमा अपार है।

बड़े खेद की बात है कि यह आत्मा परम पूज्य परमात्मा अनत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनत सुख, अनंत वीर्य का धारी, परम अमूर्तिक, शरीर रहित, अखण्ड, अव्याबाध है। तो भी अनादि कर्मों की संगति मे रहने से यह एकेन्द्रिय जलकाय में भी जन्म ले लेता है और पराधीनपने के असह्य कष्ट भोगता है।

इस संसार के शरीर रूपी कैदखाने से बचने का उपाय कर्मबंध की जंजीर काट देना है।

प्रज्ञारूपी छैनी से ही यह बंधन कट सकता है। मैं स्वयं अबंध हूं, अखंड हूं, अभेद हूं, निर्विकल्प हूं, चेतनामय हूं, अन्य सर्व पर संयोग जनित अवस्थाये मेरा स्वाभाविक परिणमन नही हैं। इस तरह निश्चय करके ज्ञानी मात्र अपने स्वभाव का प्रेमी, रुचिवान व आसक्त हो जाता है और उद्योग करके अपने उपयोग को उपयोगवान शुद्ध आत्मा में जोड़ता है, योगभाव को पैदा करता है।

इस योगाभ्यास में रमण करने से इसे जो अकथनीय अतीन्द्रिय आनन्द आता है उसका मिलान सिद्ध सुख से ही किया जा सकता है। यही स्वरूपानन्द का अनुभव स्वतन्त्रता का उपाय है, यही मोक्ष मार्ग है। यही वह गुफा है जहां सर्व संसार शून्य-सा दिखता है। एक आप ही परम प्रभु अपनी शोभा को लिये हुए प्रकाशमान झलकता है।

---

६७. अग्निकायिक वध अविरत भाव

एकात स्वतंत्रता-खोजी इस बात पर विचार कर रहा है कि परतंत्रता के कारणों को कैसे मिटाया जावे। बारह अविरत भावों में अग्निकायिक अविरत भाव भी गर्भित है। सर्वज्ञ ने ज्ञान दृष्टि से देखकर बताया है कि अग्निकायिक जीव भी घनांगुल के असंख्यातवे भाग की अवगाहना को लिए बहुत अल्प शरीरधारी होते हैं। एक अग्नि की लौ में अनगिनती जीव होते हैं।

सर्व ही प्राणी चाहे छोटे हो या बड़े अपने-२ प्राणों की रक्षा चाहते हैं व अपने योग्य इन्द्रिय के विषयो मे लीन हैं। सर्व संसारी प्राणियों के समान ये भी आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चार सञ्ज्ञाओं से पीड़ित हैं।

हम जैसे जीना चाहते हैं, वे भी वैसे ही जाना चाहते हैं। तब उनका प्राण घात होना उनको कष्टप्रद होने से व हमारे हिंसात्मक भाव होने से कर्मबंध कारक है, परतंत्रता का साधक है। इसीलिए साधुजन सर्व प्रकार का आरम्भ त्याग कर अग्निकायिक प्राणियों की

हिंसा से विरक्त रहते हैं। मिथ्या दृष्टी जीव अनुकम्पा रहित होते हुए निर्भय होकर अग्निकाय के प्राणियों की हिंसा करते हैं जिससे बहुत अधिक पाप कर्म बाँधते है।

सम्यग्दृष्टी जीव आरम्भ करते हुए मन में ऐसी दया रखते हैं कि मेरे द्वारा किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुचे। एकेन्द्रिय अग्निकायिक प्राणी भी सुरक्षित रहे परन्तु वही अप्रत्याख्यान या प्रत्याख्यान कषाय के उदय के वशीभूत होकर आवश्यक आरम्भ में प्रवृत्ति करते हैं तब उसे न चाहते हुए लाचारी से विचारे असमर्थ अग्निकायिक प्राणियों कीं हिंसा करनी पड़ती है। ऐसा सम्यग्दृष्टी यह भावना भाता है कि कब वह समय प्राप्त हो जब मैं पूर्ण अहिंसक हो जाऊँ। मन, वचन, काय से कोई भी हिंसा न करू। क्योकि जैसे हर एक प्राणी अपनी हिंसा नहीं चाहता है वैसे हर एक प्राणी अपनी-२ हिंसा नही चाहते हैं। अतएव उस आरम्भी सम्यक्त्वी को भी त्याग के मार्ग पर चलने वाला कहते हैं। ज्ञानी जीव प्राणियो की कर्मजनित असमर्थता को विचार कर बहुत खेदित होता है। क्योंकि उसको यह निश्चय है कि हर एक प्राणी मल में शुद्ध जीव है, उसका द्रव्य समयसार है। गुणो से अभेद है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व व चारित्र का सागर है। अमूर्तिक होकर भी चिदाकार विज्ञान घन है, अबाधित है, अजर है, अमर है। इस निज स्वरूप के भीतर वास न पाने के कारण व अपने से बाहर परपदार्थों में मोह करने के कारण यह जीव कर्मबंध में लिप्त हो जाता है। कर्मबन्ध त्यागने के योग्य है, काटने योग्य है। इस श्रद्धा के वशीभूत होकर यह ज्ञानी जीव केवल एक अपने ही द्रव्य स्वरूप आत्मा के भीतर विश्राम करता है। मन, वचन, काय, से सन्मुख होकर स्वरूप गुप्त हो जाता है। आपसे ही आपके आनन्दरस का स्वाद लेता है। स्वानुभव की भूमिका मे ही कल्लोल करता है। स्वतंत्रता साधक इस अमोघ उपाय को करते हुए वह स्वतंत्रता का

पूर्ण निश्चय रखता हुआ जो संतोष भोगता है वह परम प्रशंसनीय व उपादेय है।

---

६८. वायुकायिक अविरत भाव

एक स्वतंत्रता प्रेमी परतंत्रता के कारणों को विचार कर उनके त्याग का उपाय करता है। बारह प्रकार के अविरत भावों में वायुकायिक अविरत भाव भी गर्भित है। कर्मों की विचित्रता के कारण इस जीव को एकेन्द्रिय पर्याय में आकर वायु का शरीर धारण करना पड़ता है। इनका शरीर भी घनागुल का असंख्यातवाँ भाग होता है। इससे बड़ा नही होता है। एक वायु के झोके में बेगिनती वायुकाय धारी जीव हैं। इन प्राणियो को आग की तपस से, सूर्य के तप से, पखों के झोकों से, भीत की व पर्वतादि की टक्कर से पीड़ित होकर प्राण छोड़ने पड़ते हैं। स्पर्शन इन्दिय द्वारा दुःख तो उन्हें भी होता है, वे असमर्थ होकर उसके निवारण का उपाय नही कर सकते हैं।

जो विश्व भर के प्राणियों का मित्र है, दयावान है, उसका इन प्राणियों के कष्टों पर भी ध्यान देने योग्य है।

महामुनि बुद्धिपूर्वक वायुकायिक जीवों की हिंसा नही करते हैं। पखे हिलाने का व कपड़ा झटकाने का आरम्भ नहीं करते हैं, न आग जलाते हैं। वे धोरे-२ पग धर कर चलते हैं, कूदते फांदते नही। वायुकायिक जीवों की रक्षा का पूरा उद्यम रखते हैं।

गृहस्थी भी सम्यग्दृष्टी बड़ो भारी दया को धरता है। वह भी नहीं चाहता है कि एकेन्द्रिय प्राणी पीड़ित किये जावें। तो भी आवश्यक आरम्भ को करते हुए, मकानादि बनाते हुए, वाहन पर चढ़कर चलते हुये, भोजन पकाते हुए आदि अनेक कर्मों के करते हुए वायु कायिक प्राणियों का वध करना चाहता है।

वह इस अविरत भाव को कर्मास्रव का कारण जानता है। तब वह अपनी निन्दा भी किया करता है कि कब वह समय आवे जब

उसके द्वारा किसी वायुकायिक प्राणी की हिंसा न हो और वह उन सबका पूर्ण रक्षक रहे। विना प्रयोजन पवन नही लेता, पंखा नहीं करता, आग नही जलाता, यथासंभव उनकी रक्षा मे ही प्रयत्नशील रहता है।

देखो, कर्मों की विचित्रता जो यह आत्मा स्वभाव से शुद्धात्मा, पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण वीतरागी, पूर्ण आत्मानन्दी, अमूर्तीक, परम वीर्यवान होते हुए भी अनादि कर्म के सयोगवश इसे वायुकायिकादिक जैसी क्षुद्र पर्याय में जाना पड़ता है।

दयावान विचारता है कि हिंसाकारक भावों से किस तरह बचा जावे तब उसे यही सूझता है कि वह मन, वचन, कायकी क्रियाओ को छोड़े और एकांत में बैठकर निश्चयनय के द्वारा जगत को देखे तब उसे सर्व जीव शुद्ध व सर्व अजीव जीव से भिन्न दीख पड़ेंगे। यकायक भेदविज्ञान का लाभ हो जायगा।

अभ्यासी को उचित है कि भेदविज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को शुद्ध द्रव्यरूप जानकर निरन्तर उसको ध्यावे। अपनी परिणति सर्व पर से हटाकर एक निज स्वभाव मे ही परिणति को लगावे। आत्मा को एक शांत समुद्र माने। उसी मे बारबार स्नान करे। उसी के शीतल स्वानुभवरूपी जल को पीवे। उसीमे कल्लोल करे। उसीके तट पर विश्राम करे। इस तरह आत्मीक उपाधि के भीतर निमग्न होने से कर्म के मैल धुल जावेंगे। परम शांति का लाभ होगा। यही शांति पाले के समान कर्मरूपी वृक्षो को जला देगी।

मैं स्वयं स्वतंत्र हूं, स्वाधीन हूं, अविनाशी हूं, मेरा सबंध किसी भी पर द्रव्य से नहीं है। इस तरह की भावना अनुभव का द्वार खोल देती है। तब यह स्वानुभव को लेते हुए परम सतोषित हो जाता है। परमानंद रस का पान करता है। आत्मा के समुद्र में रमण का यही फल है।

६६. वनस्पतिकायिक अविरतभाव

स्वतंत्रता का प्रेमी परतंत्रता कारक कर्म-बंधनों के उत्पादक भावों को स्मरण करके उनसे निवृत्ति पाने का परम उत्साह कर रहा है। बारह अविरल भावो में वनस्पतिकायिक अविरत भी है। वनस्पति में जीव उसी प्रकार से है जैसे हम मानवों के शरीर में जीव है, वे प्रगट हवा लेते, लेपद्वारा भोजन करते, निद्रित होते, कषायाविष्ट होते हैं, यह बात साइन्स ने सिद्ध कर दिखाई है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार सज्ञाओं से ये भी पीड़ित हैं। प्राण रक्षा का राग व प्राण हरण का भय रखते हैं। वनस्पति साधारण व प्रत्येक दो प्रकार की है। अनेक जीवो का एक साधारण शरीर रखने वाली साधारण वनस्पति है, जिसको निगोद कहते हैं। एक जीव का एक शरीर रखने वाली प्रत्येक वनस्पति है। प्रत्येक वनस्पति के पांच भेद हैं—तृण, वेल, गुल्म (छोटे वृक्ष), कदमूल ये पांच प्रकार के प्रत्येक जिस समय तक साधारण वनस्पतिकायिक प्राणियो से संबंधित होते हैं, उस समय उनको सुप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जब वे निगोद जीवो से आश्रित नही होते हैं तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। साधारण शरीर-धारी जीव बहुत छोटे घनांगुल के असख्यातवें भाग से अधिक बड़े नहीं होते है। प्रत्येक शरीरधारी इतने छोटे भी होते हैं व बड़े भी होते हैं।

बहुत ऊचे-ऊचे होते हैं, टूटे हुए पत्ते, फल-फूल बीज में जब तक तरी है, वे सचित माने गए हैं। जिससे सिद्ध है कि वे वृक्ष में जब तक थे तब तक एक वृक्ष शरीर के अग थे, तो भी अपने आश्रित जीवों को रखते थे, इसीसे वृक्ष से अलग होने पर भी जहां तक शुष्क व प्रासुक न हो जावे वहाँ तक जीव सहित हैं।

दयावान प्राणी का परम कर्त्तव्य है कि वे इनकी भी रक्षा करें। इनको भी प्राण हरण होते हुए हमारे समान कष्ट होता है। कषाय का अनुभाग कम होने से हमारी अपेक्षा कम वेदना होती है।

तथापि उस कष्ट को वे न पावें यह देखना दयावान का कर्त्तव्य है।

सर्व प्राणीमात्र के परम रक्षक साधु महाराज ऐसा कोई भी आरंभ नहीं करते जिससे इन सभी प्राणियों को पीड़ा पहुंचे। वे वृक्ष के पत्ते को भी नही तोड़ते हैं।

गृहस्थ श्रावक आरभी है– उसका काम वनस्पति छेद बिना नहीं चल सकता है। वह अन्न, फल, साग, मेवा आदि का व्यवहार करता है। इस आरम्भी हिंसा से वह सर्वथा बचा नही सकता है। दयावान गृहस्थ को प्रयोजन से अधिक इन दीन हीन वनस्पतिकायिकों की भी हिंसा न करनी न करानी चाहिए।

इसलिए गृहस्थ दिन प्रतिदिन कुछ गणना कर लेता है। उसके सिवाय वनस्पति के भक्षण से विरक्त हो जाता है। कभी-कभी पर्व दिवसों में वह इनका घात बचाने के लिए इनका भक्षण बिलकुल नहीं करता है। मेरे में जितनी सामर्थ्य है उससे मैं वनस्पतिकाय के धारी प्राणियों की अधिक से अधिक रक्षा करूं यह भावना एक दयावान गहस्थ के भीतर होनी चाहिए।

वनस्पतिकाय रूपी कैदखाने में जो जीव बन्द है वह जीव वास्तव में परमात्मा के समान अमूर्तीक, ज्ञाता, दृष्टा, वीर्यमई व परमानन्द स्वरूप है। रागद्वेष विकारों से व अज्ञान से रहित है, सदा ही निश्चल रहने वाला है, परम शांत रहने वाला है। ऐसे ही सब जीव हैं। धिक्कार हो कर्मबंध को, जिसके कारण इस जीव को पिंजरे के पक्षी के समान परतंत्र होकर रहना पड़ता है।

इस कर्म परतंत्रता के नाशका उपाय यही है जो मैं अपने मूल स्वभाव को ग्रहण करके उसी में श्रद्धा सहित रमण करूं, स्वात्मानुभव करूं, परद्रव्य से रागद्वेष मोह छोड़कर समताभाव में जमकर आपको आपरूप परम शुद्ध अनुभव करूं।

यह स्वात्मानुभव ही स्वतंत्रता का साधन है। जो इस साधन को स्वीकार करता है वही साधु है व स्वतंत्रता प्रेमी है।

७०. त्रसकायिक अविरत भाव

स्वतंत्रता बड़ी प्यारी वस्तु है। परतंत्रता दासत्व है, गुलामी है, सर्वदा त्यागने योग्य है। स्वतंत्रता स्वाभाविक सम्पत्ति है। आत्मीक स्वतंत्रता के बाधक कर्मों का सयोग है। कर्मों के संयोग के कारण विभाव भाव हैं। अतएव विभावों का त्याग जरूरी है। बारहवां अविरत भाव त्रसकाय बध है। त्रस जीवो में दो इंद्रिय लट, कोड़ी, शंखादि; तेइन्द्रिय चीटी, जू, खटमलादि, चतुरिन्द्रिय मे मक्खी, भ्रमर, पतंगादि; पञ्चेन्द्रिय में थलचर गाय, भैंस, मृगादि; जलचर मत्स्य, मच्छ, कच्छपादि, नभचर कबूतर, मोर, पक्षी आदि मानव, देव व नारकी सब गर्भित हैं। इन सबकी रक्षा का भाव त्रसकाय अविरत भाव से बचाव है।

आत्मवत् सर्वभूतेषु—इस पाठ को जो ध्यान में नही रखते हैं वे निरर्गल होकर आरम्भ करते हुए छोटे-छोटे जन्तुओं की घोर हिंसा करते हैं, पशुओं को कष्ट देते हैं, अंग छेदते हैं, अधिक भार लाद देते हैं, समय पर चारा नहीं देते हैं, पशुबलि करते हैं, मांस व चमड़े के लिए पशुबध करते हैं, गरीबों को सताकर पंसा लुटते हैं। झूठ बोलकर जनता को ठगते हैं। मिथ्यादृष्टि के भीतर दया नहीं, वह विषय कषायों की पुष्टि के लिए, पर के कष्ट को व पर के बध को अति तुच्छ समझता है। अपने स्वार्थ के आगे अन्य कुछ वस्तु नही है ऐसा जानता है। वह जगत के प्राणियों को घोर कष्ट पहुंचा कर अपने आत्मा को कर्म की परतंत्रता से और अधिक जकड़ लेता है।

सम्यक्दृष्टि ज्ञानी जीव पूर्ण दयावान अनुकपाशील होता है। वृथा व अन्याय से किसी को सताता नही। यथाशक्ति देखकर चलता है। देखकर वस्तु रखता उठाता है। देखकर दिन मे भोजन-पान बनाता व रखता है। मन में भी किसी को अहितकारी व कटुक नहीं कहता है। गृहस्थी के कार्यों को बहुत संम्हाल के साथ करता है। मानवों को सगे भाई बहन के समान देखकर उनको कष्ट नहीं पहुंचाता है।

आरम्भजनित हिंसा में कुछ त्रसकाय का भी वध हो जाता है। उस लाचारी के लिए वह अपनी निन्दा गर्हा करता है। तीसरी भूमिका का आलम्बन करने वाला महात्मा उन मन, वचन, कायों से ही अपने को जुदा कर लेता है, जिनसे त्रसकाय का वध होता है या उनकी रक्षा का विकल्प होता है।

वह केवल अपने आत्मा को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाता है, वहीं बैठता है, वही विश्राम करता है, वही रमण करता है, वही परिणमन करता है। आत्मा को आत्मारूप ही ग्रहण कर लेता है। इसको सर्व चौदह गुणस्थानो से, चौदह मार्गणाओं के भेदो से, सर्व औदायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक भावो से सर्वखडित ज्ञान से, सर्व पर सत्ता-धारी जीवो से, सर्व पुद्गलो से धर्म अधर्म आकाश काल से न्यारा देखता है। ऐसे शुद्धात्मा को ही अब समझ कर उसकी सम्पत्ति को ही अपनी सम्पत्ति समझ कर सर्व पर के परिग्रह से मुक्त हो असग हो जाता है। केवल आत्मानंदरूपी अमृत का पान करता है। यही स्वानुभूति रमण क्रिया इसे वास्तव मे स्वतंत्रता झलकाती है व यही सर्व परतत्रता के मिटाने का उपाय है। एक ज्ञानी सर्व प्रकार पर-भावों से विरति भजकर स्वात्मरत हो जाता है। यही स्वतंत्रता का भोग है।

— —

७१. अनन्तानुबंधी क्रोध कषाय

स्वतंत्रता आत्मा की निज सम्पत्ति है, इसके मार्ग में बाधक जो कोई हो उसको पूर्ण शत्रु समझकर उनका विध्वंस करना ही एक साधक का परम कर्त्तव्य है। जीव का बाधक पुद्गल द्रव्य है। कर्म के स्कंध यद्यपि इतने सूक्ष्म हैं कि वे किसी भी इद्रिय से ग्रहण मे नही आते तथापि उनके भीतर अनन्त बल है। जब वे जीवों के कर्मजनित औदायिक भावों के निमित्त से जीव के साथ बंध को प्राप्त हो जाते हैं तब वे परतंत्रता का एक जाल ही बिछा देते हैं, जिस जाल में यह

जीव फंस जाता है। इस कर्मबंध के जाल बनाने के लिए ५७ आस्रव-भाव कारण हैं।

पाँच मिथ्यात्व व बारह अविरत का कथन करने के पीछे २५ कषायों का भी विचार कर लेना उचित है। शत्रु को पहचानने से ही शत्रु के द्वारा स्वरक्षा की जा सकती है।

मोहनीय कर्म में चारित्र मोहनीय गर्भित है, यह कर्म आत्मा के स्वरूप रमण चारित्र को या वीतराग भाव को नहीं होने देता है। इसका अभाव करना बहुत ही जरूरी है। क्रोध चार प्रकार का होता है। अनन्तानुबधी क्रोध सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरण का घातक है। इसकी वासना छः मास से अधिक बहुत दीर्घकाल तक रह सकती है।

जब कोई किसी बात की चाह करता है उसके मिलने में जो बाधक होते हैं व प्राप्त वस्तु में जो बाधक होते हैं उनकी हानिका भाव रहा करता है। अनन्तकाल भी हानि का भाव चला जा सके ऐसे क्रोध को अनन्तानुबंधी क्रोध कहते हैं।

सर्व ही मिथ्यादृष्टी जीव इस क्रोध भाव से पीड़ित रहा करते हैं। कभी-कभी सम्यक्त्वी जीव सम्यक्त्व से छूटकर मिथ्यात्व के सामने जाते हुए बीच में सासादन अवस्था के भीतर उत्कृष्ट छः आवली तक कषाय से पीड़ित रहते हैं।

इस कषाय से त्रासित होकर कमठके जीव ने कई जन्मों तक मरुभूति के जीव को पार्श्वनाथ जी की पर्याय तक द्वेषभाव से कष्ट दिया। इसके प्रभाव से एक तरफी वैरभाव भी हो जाया करता है। इस कषाय के अभाव का उपाय एकमात्र सम्यक्त्व का लाभ है। विवेकी जीव को सम्यक्त्व के शस्त्र को ग्रहण करना चाहिए। उस शस्त्र की सूरत देखते ही अनंतानुबंधी क्रोध का विकार गुप्त हो जाता है। और जब तक वह शस्त्र हाथ में रहता है वह कभी अपना आक्रमण नहीं कर सकता है।

मैं शुद्ध, सिद्ध, चेतनामय, अमूर्तीक, अविनाशी, परमानंदी,

परम वीतरागी हूं। रागादी भावकर्म, ज्ञानवरणादि द्रव्य कर्म, शरीर आदि नोकर्म से मेरा कोई नाता नहीं है। मेरा स्वरूप सिद्धात्मा के समान है। जो इस भावना को भाता है वह शांति व आत्मानन्द का झलकाव पाता हुआ सम्यक्त्वरूपी गुणों को प्रकाश करने का साधन करता है। जो इस साधना का साधन करता है वही स्वतंत्रता का उपासक बुद्धिमान मानव है।

---

७२. अनन्तानुबन्धी मान कषाय

स्वतंत्रता मानव का निजी स्वभाव है। कर्मबन्ध की परतन्त्रता मेटने के लिये उन भावो को विचार कर छोड़ना चाहिये जिन भावों से कर्मों का बध होता है। पच्चीस कषाय भावो मे अनन्तानुबधी मान भी गर्भित है। मिथ्यात्व की वासना से वासित प्राणी शरीर व उसके बाहरी इद्रिय विषय की सामग्री में मगन रहता है, इच्छानुकूल पदार्थों को पाकर अपने को बड़ा व दूसरो को छोटा देखता है। उसका जीवनाधार विषयभोग होता है। वह धनिक पिता व माता के होने का, अधिक रूप होने का, बल होने का, अधिकार होने का शास्त्रीय विद्या—सम्पन्न होने का, बाहरी उपवासादि तप करने का बड़ा घमण्ड करता है, अपने सयोगो स राग करता है, पर के सयोगो से द्वेष करता है, मान द्वेष का अंग है, कठोर परिणामो को रखकर अपने छोटो के साथ तुच्छता व घृणा का व्यवहार करता है, दया व प्रेम का व्यवहार नही करता है। इस कारण तीव्र कर्म का बध करता है। हिंसात्मक कर्मों के कर लेने मे मान दृष्टि के लिए न्याय व धर्म का भी घात हो जाने में अनंतानुबन्धी मानी को कुछ विचार नही होता है। जगत के प्राणी ऐसे मानव के व्यवहार से बहुत त्रासित होते हैं।

सम्यक्त्वी जीव अनंतानुबन्धी मान से रहित होता है, वह कोमल चित्त होता है, वह अपने आत्मीक गुणों के सिवाय किसी भी परद्रव्य,

परगुण, पर पदार्थ को अपनी वस्तु नहीं मानता है, परवस्तुओं के संयोगों को पुण्य का वृक्ष फल जानता है, उनको कर्मजनित सम्पदा मानता है, अपनी सपत्ति नहीं मानता है। अतएव उनके संग्रह होने पर मान नहीं करता है। वह जानता है कि जो नाशवंत है उसको अपना मानना मूर्खपना है।

सम्यक्त्व प्राप्ति का इच्छुक प्राणी भेद-विज्ञान का बार-बार मनन करता है। वह विचारता है कि मैं आत्मा हूं, अकेला हूं, मेरा सम्बन्ध किसी भी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव से नही है। मैं अखण्ड, अविनाशी, अमूर्तिक, ज्ञान-दर्शन पूर्ण व परमानंदमई, परम वीतराग हूं, सिद्ध परमात्मा की जाति का हूं। उनके साथ हर तरह मेरी समानता है। सत्ता भिन्न होने पर भी गुणों मे समान हूं।

अनतानुबंधी मान कषाय के विष के दमन के लिये स्वाधीनता का प्रेमी अपनी संपत्ति से सहयोग करता है व पर से असहयोग करता है। निरन्तर आपको आप, पर को पर देखता हैं। अपना शुद्ध स्वरूप ग्रहण करने योग्य है और सब त्यागने योग्य है। इस भावना के प्रताप से कषाय का अनुभाग घटता जाता है। मान का मैल जितना-जितना हटता है, उतना-उतना मार्दव गुण प्रगट होता है। ऐसी वस्तु स्थिति को विचार कर स्वतन्त्रता का प्रेमी मैं एकतान होकर अपनी सत्ता मे आप विराजता हूं, मेरी सत्ता ही मेरा घर है, वही वीरता का अटूट दुर्ग है, मैं उसी में विश्राम करता हुआ निर्भय और स्वरूपानदी रहता हू, ऐसा विचारता है।

---

७३. अनन्तानुबन्धी माया कषाय

एक ज्ञानी आत्मा विचार कर रहा है कि मैं निर्विकल्प, निश्चल परम वीतरागी, परमानंदी, पूर्ण ज्ञान दर्शनमई परम शुद्ध द्रव्य हूं। फिर भी क्यों मन, वचन, काय के झंझटों में फंसा हूं। इस परतंत्रता

का कारण अनादिकालीन कर्म-बध व राग-द्वेष, मोह का बीज वृक्ष-वत् सचार है। अतएव परतंत्रताकारक पाप पुण्यमय कर्मों के बंध के कारणभूत भावों को जलाए बिना ससार वृक्ष का उत्पाद बन्द नही हो सकता है। अनन्तानुबन्धी माया भी गहरी पिशाचनी है। इसके वशीभूत होकर मोही मिथ्यादृष्टी जीव नाना प्रकार के कपट करता है। पाचो इन्द्रियो के भोगों की तृष्णा के आधीन प्राणी अपनी इच्छित वस्तुओ को पाने के लिए उसी तरह जाल रचता है जैसे शिकारी मृगों को पकड़ने के लिए जाल रचता है। कभी रत्नादि धन के हरण के लिए धर्मात्मा त्यागी बन जाता है।

कभी असत्य को सत्य ठहराने के लिए बड़े-बड़े शास्त्र बना डालता है। झूठे कागज व बही-खाते लिखकर सरकारी बल के द्वारा धन का अपहरण करता है। भोली-भाली विधवाओ को विश्वास दिलाकर उनका लाखो का गहना हडप कर जाता है। परस्त्री सयोग के लिए नाना प्रकार के कपट करता है। रावण के समान कपट करके पतिव्रता सीता जैसी सती के मन को क्षोभित कर देता है। इस महान अन्याय मे प्रेरणा करने वाली माया के वश होकर अनेक राज्य दूसरे राज्यो को निगलने का महान यत्न करते हैं। मायाचार से विश्वास-घात कर किसी को कष्ट पहुचाना घोर हिंसा है। मिथ्यात्वी निर्भय हो इस हिंसा का प्रचार किया करता है व तीव्र कर्म बध की जजीरों से जकड़ा जाता है।

सम्यक्त्वी ज्ञानी इस माया के मैल से बचकर अन्यायमयी कपट नही करता है। जो भद्र परिणामी सम्यक्त्वी होना चाहता है वह इस कषाय के बल को घटाने के लिए कषाय रहित भाव की उसी तरह सेवा करता है जैसे कोई उष्णता की बाधा से पीड़ित होकर शीत जल का बार-बार उपचार करता है। कषाय रहित अपना ही आत्मा द्रव्य है। भेद-विज्ञान से इसी अपने स्व द्रव्य को सर्व पुद्गलो की वासनाओं से रहित देखना चाहिये। जैसे अनेक कपड़े की पुटों के भीतर रक्खे

हुए रत्न को जौहरी रत्नरूप ही देखता है वैसे अपने आत्म-द्रव्य को सबसे निराला परमात्मा के तुल्य देखना चाहिये। यही देव दर्शन है, यही वह साधन है, जिससे दृष्टा को एक परम शांत समुद्र तुल्य आत्मा अपने ही शरीर के भीतर दिख जायगा। इसी का बार-बार दर्शन ही माया कषाय की कालिमा को उत्पन्न करने वाले कर्म का बल घटायेगा, सम्यक्त्व गुण का झलकाव करेगा। यह शास्त्र प्रतीति के आधार पर प्राप्त आत्म-दर्शन सुख-शांति प्रदान करेगा, स्वतन्त्रता के मार्ग पर आये हुए काँटों को काटेगा और शीघ्र ही सम्यक्त्व गुण रत्न प्राप्त कराकर जीवन मुक्त व स्वतन्त्र अनुभव करा देगा।

---

७४. अनन्तानुबंधी लोभ कषाय

एक स्वतन्त्रता प्रेमी परतन्त्रताकारक बंधनों को काटने का इच्छुक हो, उन सब कारणों को स्मरण कर रहा है जिनसे कर्म वर्गणाए संचित होकर कर्म का सूक्ष्म शरीर बनाती हैं, व जिन कर्मों के फल से आत्मा का स्वतन्त्र स्वभाव पराधीन व विकृत हो जाता है।

अनन्तानुबन्धी लोभ भी बहुत ही अनिष्टकारी है। इस लोभ के वशीभूत होकर प्राणी स्वार्थ में अन्धा हो जाता है। शरीर के भोग का मोही पाँचों इन्द्रियों के भोग का तृषातुर व्यक्ति इन्द्रिय भोग योग्य पदार्थों की तृष्णा में ऐसा फंस जाता है कि उनके लाभ के लिए आकुलित होकर धनादि संचय करने में न्याय, अन्याय का विचार छोड़ देता है। हिंसा, असत्य, चोरी से धन एकत्र करता हुआ हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, रौद्र ध्यान मे मन को मलीन रक्खा करता है। स्व-स्त्री पर-स्त्री का विवेक छोड़ देता है, भक्ष्य अभक्ष्य की ग्लानि हटा देता है, घ्राण योग्य व अयोग्य की चिंता त्याग देता है। दृश्य-अदृश्य का भेद दूर कर देता है। श्रोतव्य अश्रोतव्य का विवेक नहीं रखता है। मन चाहे इन्द्रियों के विषयों में बार-बार जाता है, तृष्णा

को बढ़ाकर और अधिक प्राप्ति के लिए आतुर होता है, मिथ्यादृष्टी मोही जीव परम लोलुप होकर इस जगत का बहुत अनिष्ट करता है व तीव्र कर्म बांधकर परलोक में कुफल पाता है।

सम्यग्दृष्टी जीव इस कषाय को दमन करके परमुखाकार वृत्ति के लोभ से छूट जाता है। स्वरूपाचरण की शक्ति प्राप्त कर लेता है, आत्मानद के लाभ को परम लाभ समझता है। विश्व के भोग्य पदार्थों से वैरागी हो जाता है।

भद्र परिणामी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उत्साही व्यक्ति इस कषाय के बल को क्षीण करने के लिए जिनवाणी का अभ्यास करता है। व्यवहारनय से पर के संयोग से जो अपने आत्मा की अवस्थाए होती हैं उनको समझता है। निश्चयनय से या द्रव्यार्थिक नय से अपने आत्मा के मूल स्वभाव को समझता है कि यह आत्मा अमूर्तिक, असंख्यात प्रदेशी, शरीराकार, शुद्ध ज्ञान दर्शन का धारी, परम शान्त, परमानंदी, निर्विकार, कषाय कालिमा से रहित, चित् ज्योतिमय, अखण्ड, अभेद, एक अनादि निधन, स्व-सत्ता का धारी पदार्थ, सिद्ध परमात्मा की आत्मा के सदृश है। इस तरह दोनो नयो से जानकर वीतरागता के लाभ के लिये निश्चय नय का मनन करता है, अपने आत्मा का शुद्ध स्वभाव ध्यान मे लेकर नित्य उसका विचार करता है। भेद-ज्ञान का अभ्यास करता है। इसी औषध के सेवन से वह इस कषाय के बल को क्षीण कर कुछ काल में सम्यक्त्वी व स्वानुभवी हो जाता है और परम मगलमय आत्मा का आनन्द रस पान कर परम सन्तोषी व कृतार्थ हो जाता है।

---

७५. अप्रत्याख्यान क्रोध कषाय

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता का इच्छुक होकर परतंत्रताकारक भावों का स्मरण कर उनसे बचने का प्रयत्न कर रहा है। पच्चीस कषायों में अप्रत्याख्यान क्रोध का उदय भी बड़ा भारी घातक है। अनन्तानु-

बन्धी क्रोध जब स्वरूपाचरण को रोकता है तब अप्रत्याख्यान क्रोध, हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह इन पांच पापों के त्याग से परिणामों को रोकता है। इन पांच पापों के कारण जगत के प्राणियों के साथ अनुचित वर्तन होता है। वे इन पापों के निरर्गल व्यवहार से कष्ट पाते हैं। यह प्राणी इस जाति के क्रोध के वश होकर पर प्राणियों से द्वेष करके व उनका बिगाड़ करके भी स्वार्थ साधना चाहता है।

जो कोई विषय सेवन में बाधक होता है उन पर क्रोध करके उनका अहित करना चाहता है।

मिथ्यादृष्टि जीव में अनंतानुबंधी क्रोध के साथ-साथ इस अप्रत्याख्यान क्रोध का भी उदय रहता है। इसलिये यह अज्ञानी न अपने स्वरूप में रमण पाता है और न हिंसादि पाप त्याग कर सकता है।

सम्यग्दृष्टी में जब चौथे पद में इस क्रोध का उदय होता है तब वह सम्यक्त्वी अन्यायपूर्वक क्रोध तो नहीं करता है परन्तु यदि कोई पुरुष नीति पूर्वक व्यवहार करते हुए उस सम्यक्त्वी का काम बिगाड़ने लगता है तब यह सम्यक्त्वी क्रोध करके उसकी अनीति का उसे पाठ सिखाता है। जब वह नीति मार्ग पर आ जाता है तब वह उसका बिगाड़ बन्द कर देता है व क्रोध भी छोड़ देता है।

सम्यक्त्वी इस बंधकारक क्रोध के शमन के लिए स्वानुभव की औषधि का पान किया करता है। यह मिथ्यादृष्टी उस कषाय के दमन के लिए श्री गुरु की शरण लेकर आत्मा व आत्मा का भेद समझता है, भेद विज्ञान सीखता है, व अपने मिथ्यात्व विष के वमन के लिये भेद विज्ञान का बार-बार मनन करता है। दाल से छिलका, भूसी से तेल, तुष से तंदुल, सुवर्ण से पीतल, दूध से जल, लवण से तरकारी, आग से जल जैसे भिन्न हैं वैसे शुद्ध बुद्ध अनन्त शक्तिधारी ईश्वर तुल्य स्वभावधारी परमानन्दमय वीतरागी अपने आत्मा प्रभु से सर्व कर्म पुद्गल व सर्व रागादि मल व सर्व संयोग सम्बन्ध व सर्व अन्य आत्माएं भिन्न हैं, इस तरह की भावना करने से जैसे तन्दुल का अर्थी तुष से उदास

व तन्दुल से प्रेमालु है वैसे यह साधक सर्व अपने आत्मा से भिन्न द्रव्य गुण, पर्याय से उदास होता जाता है। यही आत्मा-प्रेम इसके मिथ्यात्व विष को वमन कराता है व एक दिन यह सच्चा स्वानुभवी होकर परमानन्द का भोगी व परम संतोषी हो जाता है।

---

७६. अप्रत्याख्यान मान कषाय

स्वतन्त्रता खोजी ज्ञानी जीव सर्व प्रपच जाल से मुक्त होकर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना चाहता है। इसलिए परतंत्रता के कारणों को ढूंढ़-ढूढ़कर उनको दूर करने का इच्छुक है। आत्मा के साथ कर्मों का सयोग हानिकारक है। इन आठ कर्मों से ही ससार अवस्था बनी हुई है। उन कर्मों के सचय होने में कारण अप्रत्याख्यान मान भी है।

इस कषाय के उदय से मानव के भीतर पर द्रव्य धन धान्यादि के भीतर इतना मोह व उनके साथ इतना अभिमान होता है कि उनको कुछ भी काम करने के भाव नही होते है. हिंसा, असत्य, चोरी कुशील व परिग्रह की तृष्णा, इन पांचों पापो को थोडे भी त्यागने के भाव नही होते है। अपना अभिमान पुष्ट करने को व मान बड़ाई बढाने को यह प्राणी इन पापो को राग सहित करता रहता है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव भी इस कषाय के उदय के अधीन होंकर जिन बातो से लौकिक अभिमान पुष्ट होता है। उनके भीतर ममकार व अहकार न चाहते हुए भी करता है और यह जानते हुए भी कि पाचों पाप त्यागने योग्य हैं, त्याग नही कर सकता। यद्यपि अपने इस अत्यागभाव की निन्दा गर्हा करता रहता है। अप्रत्याख्यान मान उसके भीतर श्रद्धान निर्मल व निरहकार रूप होते हुए भी उस सम्यक्त्वी के भाव मे चारित्र को हीनता रखता है जिससे वह परिग्रह सम्बन्धी मल को त्याग नही सकता।

मिथ्यादृष्टी जीव के साथ तो यह कषाय अनन्तानुबंधी मान के

साथ उदय में आकर श्रद्धान और चारित्र दोनों में इस व्यक्ति को अभिमानी बना देती है जिससे वह धनादि होने का बहुत मान करता है। उस मान के अन्धकार से ग्रसित होकर वह अपने आत्मा को बिल्कुल भूल जाता है। ऐसा अभिमानी मानव दान व परोपकार में लक्ष्मी का उपयोग नहीं कर सकता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव ज्ञानियों के द्वारा तत्व का उपदेश सुनता है। अप्रत्याख्यान मान को त्यागने योग्य समझता है। श्री गुरु का यह उपदेश स्वीकार करता है कि जब तक सत्ता में बैठे हुए कर्मों का अनुभाग न दूर किया जायगा तब तक उन कर्मों का प्रभाव आत्मा पर अशुद्ध असर डालता ही रहेगा।

कर्मों के असर को घटाने के लिए आत्मा के स्वरूप का मनन है। तत्वोपदेश से भद्र मिथ्यात्वी जानता है कि यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध, निर्विकार, ज्ञाता-दृष्टा, अविनाशी, अमूर्तिक, परमानन्दमय है। इसी को परमात्मा, ईश्वर, प्रभु व शुद्ध बुद्ध कहते है। निर्मल पानी के समान, स्फटिक मणि के समान व शुद्ध स्वच्छ वस्तु के समान इस आत्मा को पहचानना चाहिये व राग द्वेष मोह के विकारों को त्याग कर आत्मा के स्वरूप का मनन करना चाहिये। जैसे शीतल जल के सरोवर के निकट बैठने से शीतलता मिलती है, ताप कम होता है। अतएव स्वतंत्रता प्रेमी को उचित है कि वह सर्व अन्य कार्यों से छुट्टी पाकर एकाकी होकर अपने स्वरूप का मनन करे। जैसे कृष्ण दिखने वाला वस्त्र साबुन की बार-बार रगड़ से श्वेतता की तरफ बढ़ता जाता है वैसे अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप का मनन कषायों की कालिमा को धोकर आत्मा को शुद्ध करता जाता है। अतएव मैं सर्व प्रपंच-जालों से अलग होकर निराकुलता से एक अपने आत्मा को ध्याता हुआ परम तृप्त हो रहा हूं।

---

७७. अप्रत्याख्यान माया कषाय

स्वतंत्र प्राप्ति का परम प्रेमी ज्ञानी जीव परतंत्रताकारक उन भावों की खोज कर रहा है, जिन भावो से कर्मों का बन्ध होता है और वह आत्मा परतंत्रता की जंजीरों मे जकड़ा जाता है। पच्चीस कषाय-रूपी विभाव भावों में अप्रत्याख्यान माया भी है।

यह कषाय पर पदार्थ के त्याग के लिए भावों को रोकती हुई धनादि पदार्थों के रक्षण व लाभ के लिए प्राणी को बाध्य करती है। अनन्तानुबन्धी माया के साथ यह अप्रत्याख्यान माया मिथ्यादृष्टी को पर के वचन के लिए इतनी निर्दय बना देती है कि जिसने यह विश्वास किया था कि मेरे साथ कभी विश्वासघात न होगा, उसका भी विश्वास-घात करके मिथ्यादृष्टी अपने स्वार्थ के साधन कर लेता है।

अविरत सम्यग्दृष्टी जीव अनंतानुबंधी कषाय के अभाव मे किसी को ठगने का बिलकुल प्रयोजन नही रखता है, किन्तु इस मायाचार के उदय के आधीन होकर कभी-कभी इष्ट वस्तु को प्राप्ति के लिए व अनिष्ट वस्तु के संयोग न होने देने के लिये न चाहते हुये ऐसा कष्ट भी कर लेता है जिससे अन्याय का दमन हो व न्याय का प्रचार हो। धर्म व न्याय की रक्षार्थ सम्यग्दृष्टी जीव इस कषाय के उदय से वर्तन करते हुए मायाचार करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। दुष्ट को पकड़ने के लिए कपट का भष बनाकर उसको मित्र का विश्वास दिलाकर उसके साथ दमन नीति का व्यवहार करते हैं। ऐसा कपट सहित व्यवहार करने पर भी सम्यग्दृष्टी जीव जब एकांत में विचारते हैं तब अपनी इस कपट प्रवृत्ति की घोर निंदा करते हैं। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव गुरुमुख से व शास्त्रों से ठीक-ठीक समझ लेता है कि सर्व ही कषाय आत्मा के भावों को कथन करने वाली है तथा इस कषाय के मारने के लिए भेदविज्ञान का अभ्यास ही एक अमोघ उपाय है, इसलिए वह आत्मा और अनात्मा को भिन्न-भिन्न विचार करके एक के द्रव्य गुण पर्याय में दूसरे के द्रव्य

गुण पर्याय का सम्मेलन नहीं करता है। जैसे चतुर पुरुष अनेक धातुओं से बने हुए बर्तन में भिन्न-भिन्न सुवर्ण, रजत, तांबे को पहचान लेता है, वैसे ही भेद-विज्ञानी कर्मों के पुंज के साथ मिले हुए आत्मा को भिन्न असंग एक आत्मा पहचान लेता है व मैं निश्चय से शुद्ध निर्विकार पर का अकर्ता व अभोक्ता हूं, ऐसा बार-बार मनन करता है। इसी धुन के भीतर रम जाता है, आत्म-रस का प्रेमी हो जाता है। इसी उपाय से करणलब्धि के परिणामों की प्राप्ति करके वह शीघ्र ही सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब आत्मा का साक्षात्कार करता हुआ जो अद्भुत आनन्द पाता है, वह वचन व मन से अगोचर केवल अनुभव-गम्य है।

---

७८. अप्रत्याख्यान लोभ कषाय

एक ज्ञानी स्वतन्त्रता प्रेमी परतन्त्रता के कारणों को विचार कर उनके संसर्ग से बचने की चेष्टा करता है। अप्रत्याख्यानलोभ किंचित् भी त्याग या दान करने से रोकता है। यह कषाय प्राप्त पर-पदार्थों के सम्पर्क को सदा चाहता है। अप्राप्त पदार्थोंकी तृष्णा करता है। अनंतानुबंधी लोभ के साथ-साथ यह कषाय परिग्रह में खूब मूर्छित रहता है। धनादि अनुकूल सामग्री के लिए अति तृष्णा उत्पन्न करता है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीव इसके वशीभूत होकर रात-दिन परिग्रह के संग्रह के लिये व सामग्री प्राप्त परिग्रह के रक्षण के लिए आतुर रहता है। मान कषाय या क्रोध कषाय की पुष्टि के लिये धन खरचने में तैयार रहता है परन्तु परोपकार या शुभ कार्यों में किंचित् भी धन खरचना अपना बड़ा अलाभ समझता है।

अविरत मिथ्यादृष्टी जीव यद्यपि पर पदार्थों का संयोग आत्मा के लिये हितकर नहीं जानता है तो भी इस कषाय के प्रबल आक्रमण में हिंसादि पापों को एकदेश भी त्यागने में समर्थ नहीं होता है, न

पांचों इन्द्रियों के विषय भोगों का त्याग कर सकता है। अतएव इस कषाय के वश में उस ज्ञानी को भी प्राप्त की रक्षा व अप्राप्त को प्राप्त करने की भावना करनी पड़ती है। यद्यपि यह दयावान होता है अतएव किसी के साथ अन्याय का वर्ताव करना नही चाहता है, न्याय से व पर पीड़ा रहितपने से यह धनादि सामग्री का उपार्जन करता है। धनादि संचय मे ऐसा नही उलझता है जिससे शरीर का स्वास्थ्य बिगड़ बैठे या आत्मीक रस के पान मे बाधा को प्राप्त करे। यह बार-बार चाहता है कि श्रावक के अणुव्रत ग्रहण करूं परन्तु इस कषाय के जोर से ग्रहण नही कर सकता है। भद्र मिथ्यादृष्टी जोव गुरु समागम से या शास्त्रो के पढने से यह निश्चय करता है कि कषाय आत्मा के बैरी हैं। ये ही कर्म बंध के कारण हैं। तथा इन कर्मों का बंध जब तक दूर न होगा वह स्वतन्त्रता का लाभ नही कर सकता। कषाय का आक्रमण बचाने के लिए यह आवश्यक है कि कषाय के बल को निर्बल किया जावे। इसका उपाय एक शुद्ध आत्मा का मनन है। उसको यह निश्चय है कि यह आत्मा स्वभाव से परमात्मा है। यह परम निर्विकार, ज्ञाता-दृष्टा, आनन्दमई, परम प्रभु, सर्व दुखो से रहित, आनन्द, अखण्ड, शुद्ध क्षीर जल के समान निर्मल है। यह सर्व तरह स्वतन्त्र है, वीतराग है अतएव यह नित्य एकात मे बैठकर या चित्रों के सहयोग से निजआत्मा का मूल स्वभाव बार-बार विचारता है। धारावाही विचार के प्रभाव से सम्यग्दर्शन निरोधक कर्मों का बल घटता जाता है। एक समय आ जाता है जब वह मिथ्यात्व को दमन करके उपशम सम्यग्दृष्टी हो जाता है तब आप परम सुख-शांति का स्वाद पाता है। ऐसा ही समझता है मानो मैं पूर्ण स्वतन्त्र ही हूं। फिर तो यह जब चाहे तब स्वरूप के सम्मुख हो जाता है और बड़े प्रेम से आत्मानन्दरूपी अमृत का पान करता हुआ संतोषो रहता है।

७९. प्रत्याख्यान क्रोध कषाय

एक ज्ञानी अपनी अवस्था को परतन्त्र देखकर परतंत्रता के मिटाने का परम उत्सुक हो रहा है। बंधन के कारणों का विचार करके उनके दूर करने का प्रयत्न करना चाहता है। पच्चीस कषायों में प्रत्याख्यान क्रोध कषाय भी है जो महाव्रत रूप चारित्र के निमित्त से होने वाली अन्तरङ्ग वीतरागता के प्रकाश को रोकता है। इसका उदय स्वानुभव मयी स्वरूपाचरण चारित्र को सदोष रखता है।

अनन्तानुबन्धी व अप्रत्याख्यानावरण क्रोध के साथ-साथ प्रत्याख्यान क्रोध का उदय एक मिथ्यादृष्टी अज्ञानी बहिरात्मा को रहता है इसलिए वह मिथ्यादृष्टी किसी पर क्रोधित होकर दीर्घकाल तक द्वेष भाव को दूर नहीं कर सकता है, किंचित् भी अपराध पर या हानि होने पर वह हानिकर्ता का ऐसा शत्रु हो जाता है कि जड़-मूल से इसका नाश कर दिया जावे। कभी-कभी इन कषायों में अनुभाग कम होता है, तब थोड़े नाश से सन्तोष मान लेता है परन्तु द्वेष-भाव का संस्कार नहीं मिटता है।

सम्यग्दृष्टी श्रावक को यह प्रत्याख्यानावरण क्रोध जब आता है तब अन्यायी व हानिकर्ता की आत्मा का सुधार चाहता हुआ मात्र इतना द्वेष करता है जिससे पश्चाताप करे व भावी काल में अपना बर्ताव ठीक कर ले। जहां तक आत्मा आरम्भ त्यागी प्रतिमा का धारक नही होता है वहां तक हानिकर्ता को मन, वचन, काय के व अन्य उपकरणों से ऐसा पाठ सिखाता है कि वह सुधर जावे व अपनी भूल को स्वीकार करके क्षमा मांग ले। आठवीं प्रतिमाधारी व ऊपर के प्रतिमाधारी कोई आरम्भ नहीं करते। कर्म का उदय विचार कर सम भाव रखते हैं तथा परिणामों से द्वेष-भाव को जल्दी नहीं मिटा सकते हैं। १५ दिन के भीतर वासना रहित अवश्य हो जाते हैं। सर्व ही सम्यग्दृष्टी भीतर सत्ता में बैठी हुई कषाय उत्पन्न करने वाली कर्म-

वर्गणाओं के अनुभाग को सुखाने के लिए शुद्धात्मा का मनन व ध्यान करते हैं। इसी उपाय से कषायों को शांत करते चले जाते हैं।

भद्र मिथ्यादृष्टी श्री गुरु के उपदेश से व शास्त्र विचार से यह निर्णय करता है कि मेरा आत्मा सर्व पर-द्रव्य से, भावों से निराला है, इसकी सत्ता नहीं है व अन्य आत्माओ की सत्ता जुदी है। अणु व स्कंधरूप सर्व ही कार्माण, तैजस, आहारक रूप व भाषावर्गणा रूप इत्यादि सर्व ही पुद्गल द्रव्य से व धर्मास्तिकाय से, अधर्मास्तिकाय से, आकाश से व कालाणुओं से मेरे आत्मा की सत्ता जुदी है। कर्मों के संयोग से होने वाले राग-द्वेष, मोह से व अन्य सर्व ही शुभ या अशुभ भावों से मैं बिलकुल निराला हूं। मैं तो मात्र शुद्ध ज्ञान दर्शन चारित्र व आनन्द का धारक एक अखण्ड अभेद अमूर्तिक परम वीतराग व अनन्त वीर्य धारी पदार्थ हूं। इस तरह की श्रद्धा को पाकर यह निरंतर इसी भेद-विज्ञान का मनन करता है। इस तरह की बार-बार की मनन रूपी चोटों के प्रभाव से आत्मा का साक्षात्कार रूप सम्यग्दर्शन का निरोधक मिथ्यात्व व अनंतानुबंधी कषाय कर्म दब जाता है और अनादिकाल से छिपा हुआ सम्यग्दर्शन का प्रकाश हो जाता है। तब यह ज्ञानी होकर ज्ञानमय भावों का कर्ता व ज्ञानमय भावों का भोक्ता अपने को मानता है। स्वात्मानुभव के द्वारा आनंदामृत पान की शक्ति को पाकर यह अपने को परम कृतार्थ समझकर परम संतोषी रहता है।

---

८०. प्रत्याख्यान मान कषाय

एक ज्ञानी व्यक्ति अपने मूल स्वभाव को विचार करके व वर्तमान अवस्था को देखकर उसी तरह दृढ़ संकल्प कर लेता है कि मैं मूल स्वभाव को झलकाऊंगा, मलीनता को हटाऊंगा। जिस तरह कोई विवेकी रुई के सफेद वस्त्र को मलीन देखकर यह दृढ़ संकल्प कर लेता

है कि मैं कपड़े को धोकर स्वच्छ कर दूंगा। मलीन करने वाले भावों की तरफ जब यह दृष्टिपात करता है तो २५ कषाय भावों में प्रत्याख्यान मान को भी पाता है। यह मान कषाय साधु के योग्य पूर्ण चारित्र के भाव को रोकने वाला है।

यह अपनी योग्य स्थिति को होते हुए भी उसके अभिमान का मल एक श्रावक के मन में उत्पन्न कर देता है जिसके वशीभूत होकर एक ऐलक भी मान कषाय के मैल से नही बचता। परन्तु सम्यग्दृष्टी गृहस्थ अविरति भाव मे हो या देशविरति में हो, वह कर्म द्वारा प्राप्त अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग सत्ताकारी अवस्थाओं में मान भाव को प्राप्त करते हुए भी उस मान को कर्मोदय जनित विकार मानकर उस मान से पूर्ण वैराग्यवान रहता है व ऐसी भावना को भाता है कि कब वह समय आवे जब यह मान की कलुषता बिलकुल भी न हो।

मिथ्यादृष्टी को यह कषाय अनन्तानुबंधी मान के साथ उदय मे आता हुआ पर्याय बुद्धि के अहंकार में उलझाये रखती हैं। मैं धनी मैं नृप, मैं अधिकारी, मैं परोपकारी, मैं दानी, मैं तपस्वी, मैं भक्त, मैं पुजारी, मैं मुनि, मैं श्रावक, मेरी प्रभुता बढ़े, पर की प्रभुता घटे, मेरे सामने किसी की प्रतिष्ठा न हो, मैं ही बुद्धिमान, विचारवान समझा जाऊँ, इन भावों में फंसा रहता है।

कभी-कभी मिथ्यादृष्टी ख्याति व पूजा के लोभ से महामुनि हो जाता है, शास्त्रानुसार चारित्र पालता है, तपस्या करता है, अनेक शास्त्रों का पारगामी हो जाता है, परन्तु जितना-जितना ज्ञान व चारित्र बढ़ता है उतना-उतना अधिक मानी हो जाता है। जरा कोई नमस्कार न करे तो कुपित हो जाता है। प्रतिष्ठा पाने पर खूब सन्तोष मानता है। कषाय नाशक धर्म का स्वांग धार करके भी चारित्र मोह के तीव्र उदय के वश मान कषाय का पुनरपि तीव्र बन्ध करता है। यह कषाय मोक्ष के मार्ग में प्रतिबन्धक है।

यह मिथ्यादृष्टी जीव इस कषाय के बल को क्षीण करने के लिये कषाय रहित अपने आत्मा के स्वरूप को परिचय मे लेता है। जानता है कि श्री गुरु का उपदेश सच्चा है कि इस शरीर के भीतर आत्मा परमात्मा के समान पूर्ण ज्ञानघन अविनाशी, परम वीतराग, परमानन्दी, अमूतिक, अभेद, निरन्जन, निर्विकार, परम कृत-कृत्य पदार्थ है। यह शरीर पुद्गल की रचना है। ८ कर्म का रचा शरीर व तैजस शरीर पुद्गल की रचना है व कर्मों के उदय से होने वाले सर्व अशुभ और शुभ भाव भी पौद्गलिक हैं, मेरे स्वभाव नही। मैं भिन्न हूं, वे भिन्न हैं, मेरी सत्ता सिद्धात्माओ की सत्ता से भी जुदी है। इस तरह निश्चय करके वह सम्यक्त्व की सन्मुखता को प्राप्त जीव निरतर सोऽहं मत्र के द्वारा आपको आपरूप ही मनन करता है। जैसे शीतल जल में डाला हुआ लोहे का उष्ण गोला धीरे-धीरे शात हो जाता है वैसे-वैसे वीतराग के मनन क शात जल मे कषायो का आतप शांत हो जाता है। वह शीघ्र ही सम्यक्त्वी होकर अपने ही पास मोक्ष को देख-कर परम सन्तोषी व परमानन्दी हो जाता है।

---

८१. प्रत्याख्यान माया कषाय

एक ज्ञानी परतन्त्रता के कारक कारणों को विचार करके उनके निरोध का सकल्प करता है, जिससे कर्मबन्ध न हो और यह आत्मा स्वतन्त्र हो जावे। पच्चोस कषाय आत्मा के प्रबल वैरी है, उन्ही में प्रत्याख्यान माया भी है।

यह कषाय साधु के महाव्रत सम्बधी वीतराग भावो को रोकने-वाली है। जहाँ तक इसका उदय रहता है वहाँ तक किंचित् मायाचार भावों में हो जाना सम्भव है। जैसे कोई धर्मक्रिया करनी तो पन्द्रह आने व बाहर से ऐसा झलकाना कि मैंने १६ आना की है। क्षुल्लक ऐलक उत्कृष्ट श्रावक होते हैं। यह भी जमीन देखकर चलते हैं। और

भी हिंसा के त्यागी हैं उनको भी वाहन पर नहीं चढ़ना चाहिए। तो भी वाहन पर चढ़कर अपने को आरम्भी हिंसा का त्यागी मानना इस प्रकार के मायाचार का दृष्टांत है। कोई सूक्ष्म दोष भोजन करते समय होने पर भी व ज्ञात होने पर भी टाल जाना प्रत्याख्यान माया का विकार है।

मिथ्यादृष्टी जीव के यह माया अनन्तानुबन्धी माया के साथ रहकर बहुत बिगाड़ करती है। स्वार्थ खोजी मिथ्यादृष्टी कपट का भाजन बन जाता है, विश्वास दिलाकर दयापात्र गरीब व विधवा बहन को भी ठग लेता है, मायाचारी से धर्मात्मा बन जाता है, धर्मात्माओं को विश्वास दिलाकर धर्म का भण्डार हड़प कर जाता है। धर्म के द्रव्य से अपना स्वार्थ साधन करता है व दिखलाता यह है कि मैं धर्म के द्रव्य का रक्षक हूं। मायाचार से व्यवहार करते हुए पांचों इंद्रियों के विषयो का एकत्र करना इस मिथ्यात्वी का एक तरह का स्वभाव-सा बन जाता है। रात-दिन दावपेच का विचार करता ही रहता है। कभी-कभी ऐसा मिथ्यात्वी साधु भी बन जाता है। मोक्षमार्ग मात्र एक स्वानुभव है, उसका लाभ न करके शुभ भाव को ही मोक्षमार्ग मान लेता है। यहा अज्ञानपूर्वक माया का अस्तित्व है। लेश्या शुक्ल हो सकती है। जैसा द्रव्य वैसा भाव। मन, वचन, काय की सरलता पूर्वक ऋजु क्रिया मे कुछ भी कमी मायाचार की कलुषता की द्योतक है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरु के प्रसाद से जब यह समझ जाता है कि आत्मा का स्वभाव बिलकुल शुद्ध है, कषाय रहित है, परम वीतराग है, परमानंदमयी है, अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यमयी है, अमूर्तिक अविनाशी है, सत् द्रव्यमय है, उत्पाद व्यय होने पर भी ध्रुव स्वभावी है, परमात्मा के समान है, तथा रागद्वेषादि भावकर्म ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्म सर्व भिन्न हैं। पच्चीसों कषाय आत्मा के वैरी हैं, तब यह इन कषायों के मल में जो अनुभाग शक्ति

है उसको हीन करने के लिए भेद विज्ञान की भावना भाता है, आध्यात्मिक ग्रन्थ पढ़ता है, अरहंत सिद्ध की भक्ति करता है। थोड़ी देर एकान्त में बैठकर सामायिक करते हुये शुद्धात्मा की भावना भाता है, कभी सत्संगति में बैठकर आत्मा के शुद्ध स्वभाव की चर्चा करता है। इस तरह आत्मा के रस की खोज मे वर्तन करता हुआ यह थोड़े काल में करणलब्धि के परिणामो को पा जाता है। अन्तर्मुहूर्त में सम्यग्दर्शन गुण का प्रकाश कर देता है तब ज्ञान चक्षुवान होकर साक्षात् निजात्मा को देख लेता है। परम कृतार्थ हो जाता है, परमनिधि पाकर जब चाहे तब उसका स्वाद लेकर आनंदित रहता है।

---

८२. प्रत्याख्यान लोभ कषाय

एक ज्ञानी भव्य जीव स्वतंत्रता का प्रेमी परतन्त्रता के कारणों को खोज कर उनसे बचने का प्रयत्न करता है। आठ कर्मों से परतंत्रता की बेडी बनती है। उस बेडी को बनाने वाले जीव के राग-द्वेष, मोह भाव हैं। उन्ही में पच्चीस कषाय गर्भित है।

प्रत्याख्यान लोभ के प्रभाव से प्राणी का ममत्व वस्त्राभूषण, गृहादि से नही छूटता है। परिग्रह को त्यागने योग्य समझ कर भी पांचवे गुणस्थानवर्ती एक श्रावक सर्व परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता है। इस कषाय के हटे बिना ऐसा पूर्ण वैराग्य नहीं उदय होता है जिस वैराग्य से प्रेरित होकर राज्यपाटादि छोड़कर यथाजात रूपधारी दिगम्बर साधु हो जावे। यह महाव्रतों के धारण मे बाधक है।

मिथ्यादृष्टि जीव के जब इस कषाय का उदय अनंतानुबधी लोभ के साथ होता है तब वह जीव तीव्र लोभी व परिग्रहवान बना रहता है। इसका मोह शरीर व इंद्रिय भोगों से कुछ भी कम नहीं होता है। वह तीव्र लालसावान होकर न्याय व अन्याय का विचार छोड़कर अपने इच्छित चेतन व अचेतन पदार्थों का संग्रह करता है।

धनादि होने पर भी तृष्णा को शमन नहीं कर सकता है। तीन लोक की सम्पत्ति की प्राप्ति को भी अल्प समझता है।

कभी-कभी ऐसा मिथ्यात्वी जीव बाहर से दिगम्बर साधु हो जाता है, बहुत ही बैराग्यभाव झलकाता है। शास्त्रोक्त आचरण पालता है तथापि भीतर भावों मे परिग्रह का राग नही हटता है। वैषयिक सुख की अनंतता को मोक्ष का अनंत सुख समझ लेता है। उसको अतीन्द्रिय आनन्द की पहिचान नहीं हुई है। वह कहने को मोक्षमार्गी है परन्तु वह साक्षात् संसारमार्गी है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव इस कषाय के बल को निर्बल करने के लिए कषाय कलुषता को कर्मपुद्गलो का मैल है ऐसा समझता है व आत्मा के स्वभाव को सर्वप्रकार-कालिमा से रहित पूर्ण वीतरागी, परमानंदी, पूर्ण ज्ञातादृष्टा, अमूर्तीक, निरंजन निर्विकार, असंख्यात प्रदेशी, चिदाकार, अविनाशी, शुद्ध, परमब्रह्म, परमात्मा ऐसा भले प्रकार जानता है व निश्चय भी रखता है। गाढ़ निश्चय रखकर वह भव्य जीव एकांत में बैठकर आत्मा व अनात्मा का भिन्न-भिन्न विषय विचार करता है। मैं शुद्ध स्फटिक पाषाण रूप हूं। या निर्मल जल के समान हूं। सर्व अन्य द्रव्य व अन्य भाव मुझसे भिन्न हैं। इस प्रकार बार-बार भावना भाने से यह देशनालब्धि के फल को प्राप्त करता है। कर्मों की स्थिति के ७० भाग कर देता है। गाढ़ रुचि जैसे-जैसे बढ़ती है स्थिति और भी कम होती जाती है। अन्तर्मूहूर्त तक अनंत-गुणी समय-समय वृद्धि होने वाली विशुद्धता को बढ़ाते हुए जब वह करणलब्धि में विचरण करता है तब यकायक दर्शन मोह व अनंतानु-बंधी चार कषाय का उपशम हो जाता है और यह जीव अन्धकार से प्रकाश में आ जाता है। मिथ्यात्व भूमिका को लांघ कर सम्यग्दर्शन की ऊंची भूमि पर आरूढ़ हो जाता है। तब जब व्यवहार नय को गौण कर निश्चय नय से देखता है तब सर्व ही विश्व की आत्माओं को परम शुद्ध परम सुखी परमात्मा स्वरूप देखता है। तब वहां छोटे-बड़े

का भेद, स्वामी सेवक का भेद, पूज्य पूजक का भेद सब मिट जाता है। एक अभेद अद्वैत तत्व इसके उपयोग के सामने आकर खड़ा हो जाता है। वह समता के समुद्र में मगन हो जाता है। अपनी ओर लक्ष्य आते ही स्वानुभूति की कला चमक जाती है। इस कला के प्रभाव से यह निरन्तर आत्मानन्द का भोग करता हुआ परम तृप्त रहता है।

---

८३. संज्वलन क्रोध कषाय

स्वतन्त्रता प्रेमी सज्जन परतन्त्रताकारक सर्व ही भावो को पहचान कर उनके नाश का दृढ़ सकल्प करता है। २५ कषायो से कर्म का बध होता है। कर्म की शृखलाए आत्मा को भव-बघन मे जकड़े रहती हैं। उन कषायो के क्षय के बिना आत्मा स्वाधीन नही हो सकता। उन्ही मे सज्वलन क्रोध भी है। यह क्रोध जल की रेखा के समान शीघ्र ही मिट जाने वाला है। इसलिए यदि और अनन्तानुबधी अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान क्रोध का उदय न हो तो यह सज्वलन क्रोध सयम भाव को बिगाड़ नही सकता है। तो भी यथाख्यात चारित्र के प्रकाश मे बाधक है। परन्तु जब यही सज्वलन क्रोध अनन्तानुबन्धी आदि के साथ-साथ उदय आता है तब तो यह स्थायी द्वेषभाव को रखने मे सहाई होता है। मिथ्यात्वी जीव को अपने स्वार्थ के विराधक पर तीव्र द्वेष हो जाता है उसको दीर्घकाल तक भूलता नही है। अवसर पाकर कष्ट देने लगता है। अन्तरग का क्रोध जनित द्वेषभाव हर समय कर्म के बन्ध का कारण बन जाता है।

कभी-कभी ऐसा मिथ्यात्वी साधुपद धारण कर लेता है, बाहर से बड़ा शात भाव झलकर्ता है परन्तु भीतर से द्वेषभाव की कालिमा को धो नही सकता है। यदि कोई अपमान करे व इसके कहे अनुसार क्रिया न करे तो वह तीव्र क्रोध भाव करता है व यही चाहता है कि इसका बिगाड़ हो जावे तब ही इसे शिक्षा मिलेगी। वर्ष दो वर्ष बीतने पर भी भावों से द्वेषभाव दूर नही कर पाता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव जिनवाणी सुनकर यह दृढ़ निश्चय करता है कि आत्मा का स्वभाव निष्कषाय है, वीतराग है, इसका स्वभाव कषायों का विपाक मलीन कर देता है अतएव इन कषायों की जड़को खोद कर फेंक देना चाहिए। उसे श्रीगुरु द्वारा यह भी शिक्षा मिलती है कि शुद्धात्मा के मनन से जो वीतरागता का अंश प्रकट होता है वही अंश सत्ता में बैठे हुए कर्म के अनुभाग को सुखाता है तब वह बहुत ही प्रेम से अध्यात्म ग्रन्थों का पठन करता है, वीतराग सर्वज्ञ भगवान की भक्ति करता है, निर्ग्रन्थ आत्मज्ञानी गुरुओं की शरण में बैठता है व एकांत मे बैठकर अपने आत्मा के निश्चय स्वरूप की भावना भाता है कि यह आत्मा बिलकुल शुद्ध द्रव्य है। यह ज्ञान, दर्शन, सुख, चारित्र, वीर्य, सम्यक्त्व आदि गुणो का सागर है। सिद्ध भगवान के समान यह मेरी आत्मा भी पूर्ण गुणो का धारी है। मेरे ही मंदिर में शाश्वत चिदाकार वीतराग आनन्दमई प्रभु विद्यमान है। वह अपने आत्मा को पवित्र गंगाजल के रूप में स्थापित करता है व दिन में कभी तीन, कभी दो, कभी एक दफे अपने उपयोग को इसी गंगाजल स्वरूपी शांत निर्मल सुखप्रद आत्मा में डुबाकर उसे निर्मल करता है। आत्मा के मनन के प्रताप से यह एक दिन करणलब्धि को पाकर सम्यग्दर्शन गुण को झलका देता है। तब इसे अपने ही आत्मा प्रभु का साक्षात्कार हो जाता है। आत्मदर्शन हो जाता है, यह आत्मा के रस का स्वाद वेदने लगता है। यह शुद्धात्म-प्रेमी हो जाता है, संसार से पूर्ण वैरागी हो जाता है। क्रमशः स्वतंत्र होने का शस्त्र पाकर परम सन्तोषी हो जाता है।

---

८४. संज्वलन मान कषाय

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार से निश्चय कर चुका है कि मुझे आत्मस्वातंत्र्य प्राप्त करना चाहिए। इसलिए बाधक कारणो का

विचारता है जिससे कर्मबन्ध की परतंत्रता की बेड़ी आत्मा के साथ बंधती है। पच्चीस कषायों में सज्वलन मान भी है। इसके उदय से परिणामों में ऐसा विकार व मलीन भाव रहता है जिससे यह आत्मा यथाख्यात चारित्र सम्बन्धी वीतरागता का लाभ नहीं कर सकता है। अबुद्धिपूर्वक परजनित भाव मे अहंकार सा रहता है जो पानी के भीतर लकीर के समान होता है व मिट जाता है।

अनन्तानुबंधी मान के साथ जब इस कषाय का उदय मिथ्या-दृष्टि जीव के साथ होता है तब उसके भीतर दीर्घकाल स्थायी मान-भाव रहता है। शुभ क्रिया में शुभ क्रिया का मैं कर्त्ता हू, अशुभ क्रिया मे मैं अशुभ क्रिया का कर्त्ता हूं यह अहकार भावों मे जागता रहता है। मिथ्यात्वी अपने को धनी, निर्धन, रोगी, निरोगी, बालक, युवा, वृद्ध, प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित, नीच, ऊंच, रागी, द्वेषी, क्रोधी, परोप-कारी, व सुन्दर, असुन्दर, तपस्वी, अतपस्वी, विद्वान, निपुण आदि सबसे मान करता है। आठ कर्मों के उदय से या निमित्त से जो अपनी अन्तरंग व बहिरग अवस्थाएं होती हैं, उनमें यह अहकार कर लेता है। कभी मंद मानभाव मे सदा ही लिप्त रहता है।

ऐसा आत्मानुभव विहीन मिथ्यात्वी मुनिपद धार करके भी मैं मुनि, मेरी बाह्य क्रिया मुझे भवसागर से तार देगी, इस अहंकार से अन्धा बना रहता है, कभी भी आत्मज्ञान के प्रकाश को नही पा सकता है।

यह मिथ्यात्वी जीव कषायो की कालिमा को अपने आत्मा से छुड़ाने के लिए उत्सुक हो जाता है। श्री गुरु से समझता है कि शुद्ध आत्मा का मनन ही कषायो के व मिथ्यात्व के मल को धोने को समर्थ है। अतएव यह श्रीगुरु के उपदेशानुसार अपने ही आत्मा को शुद्ध निश्चय दृष्टि से परमात्मा के समान देखता है। पूर्ण निश्चय कर लेता है कि मैं केवल एक आत्मा ही हूं, पूर्ण ज्ञान का समुद्र हूं, अपार वीत-रागता का सागर हूं, स्वभाविक अतीन्द्रिय आनन्द का पयोनिधि हूं,

एकाकी स्वतंत्र हूं, अमूर्तीक हूं, सर्व अन्य आत्माओं से भिन्न हूं, यद्यपि स्वभाव से सब सदृश हैं तथापि सत्ता सबकी निराली है। सर्व सूक्ष्म स्थूल पुद्गलों से, सर्व प्रकार के शरीरों से, आकाश, काल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय से निराला हूं, मैं बन्ध व मोक्ष की कल्पना से रहित हूं, अपने गुणों से अभेद हूं। इस तरह अपने ही शुद्धात्मा की भावना करते-करते वह किसी समय मिथ्यात्व विष को वमन कर डालता है तब स्वयं ही अपने आत्मा का दर्शन प्राप्त कर लेता है। उसे आत्मा का अनुभव हो जाता है, सम्यग्दर्शन जग जाता है, वह परम कृतार्थ होकर अपने को स्वतंत्र ही जानता है, परम सुखी रहता है।

---

८५. संज्वलन माया कषाय

एक स्वतंत्रता प्रेमी व्यक्ति परतंत्रताकारक भावों की तलाश करके उनके संहार का बीड़ा उठाता है। जानता है कि पाप व पुण्य कर्मों की जंजीरें जब तक नहीं काटेंगे, आत्मा स्वतंत्र नहीं हो सकेगा।

आठों कर्मों की जंजीरों को बांधने वाले कषायभाव हैं। उन्हीं में यह सज्वलन माया भी है। इसके उदय से बहुत सूक्ष्म कपट की तरंग पानी में लकीर के समान भावों में उठती है फिर तुर्त मिट जाती है यथार्थ शुद्ध चारित्र को मलीन कर देती है।

अनन्तानुबंधी माया कषाय के साथ जब इस संज्वलन माया का उदय होता है, तब एक मिथ्यात्वी संसारासक्त प्राणी में स्वार्थसाधन के लिए कपट का व्यवहार झलकता है, उसकी बुद्धि इष्ट वस्तु के लाभ के लिए आतुर हो जाती है। वह इसलिए मायाचार करके बहुत अनर्थ करता है। अपने विश्वासपात्र को भी ठग लेता है। उसके भावों में से दया भाव निकल जाता है। वह घोर कपट के कारण पशु जाति में दीर्घकाल भ्रमण करता है। उसके मिथ्यात्व कर्म की जड़ मजबूत हो जाती है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव किसी महात्मा गुरु से कषायों के निवारण की औषधि समझता है। वह औषधि यथार्थ ज्ञान तथा वैराग्य है। यथार्थ ज्ञान तो यह है कि इस जगत में हरएक द्रव्य निराला है। मेरा आत्मा भी एकाकी, परम शुद्ध, रागादि मल से रहित, परमानंदमय, अमूर्तीक, निरजन, निराबाध, परम निराकुल, सर्व सांसारिक क्षणिक अवस्थाओं से रहित, अजर, अमर है। यही परमेश्वर, परब्रह्म, परमात्मा देव है, यही एक परम शरण है, यही एक सर्वोत्तम पदार्थ है, यही एक परम मगल स्वरूप है। परम कृत्यता इसी सत्य स्वभाव में है। वैराग्य यह है कि ससार का कोई भी पद मेरा इष्ट नही है, सर्व ही पद आपत्ति मलक हैं, नाशवत हैं, कोई पद आदरणीय नही। निराकुलता के साथ जीवन को सतत बिताने के लिए एक निज शुद्ध आत्मीक पद का निवास ही कार्यकारी है।

इस ज्ञान वैराग्य के मसाले को लेकर वह भद्र मिथ्यादृष्टी जीव एकांत में बैठकर भेदविज्ञान के द्वारा स्वपर का भिन्न भिन्न स्वरूप मनन करता है। मैं ज्ञानी, वीतरागी, परमानदमय हू। शरीर व पाप पुण्य सब मुझसे निराला है, इस भेदविज्ञान के अभ्यास के बल से उस भद्र मिथ्यात्वी का विष वमन हो जाता है, अन्धकार से निकल कर प्रकाश मे आ जाता है। सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को पाकर वह एक अनुपम जौहरी बन जाता है। उसको आत्मारूपी रत्न की परीक्षा आ जाती है। वह जड़ पुद्गल के विचित्र प्रकार के कूड़े के भीतर पड़े हुए आत्मारूपी रत्न को अलग देख लेता है। उसे ज्ञानदृष्टि से सर्व ही आत्माएँ परमात्मा तुल्य दीखती हैं। वह परम निराकुलता से आत्मानद का स्वाद लेता है और अपने को कृतार्थ मानता है। अपने शुद्धात्मा के दर्शन करके परम तृप्ति पाता है। और दृढ़विश्वास रखता है कि मैं तो वास्तव में स्वतंत्र हूं। कर्म जंजीरे शीघ्र कटकर गिर जायेंगी।

---

८६. संज्वलन लोभ कषाय

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंच-जाल के विचार से उदासीन होकर स्वतंत्रता प्राप्ति के उपायों को विचार रहा है। जिन-जिन भावों से कर्म की श्रृंखलाएं आत्मा के भीतर बंधती हैं, उन-उन भावों को मिटाना ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति का उपाय है।

पच्चीस कषायों में संज्वलन लोभ भी है। उसका उदय सूक्ष्म-सांपराय दशवें गुणस्थान तक रहता है। कुछ राग अंश का मैल प्रगट रहता है, जिससे पूर्ण नमूनेदार वीतरागभाव नहीं होने पाता। यद्यपि यह कषाय पानी की लकीर को तरह तुर्त मिट जाने वाली है, तथापि इसका होना ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध का हेतु है। अनन्तानुबंधी लोभ कषाय के साथ जब इसका उदय मिथ्यादृष्टि जोव को होता है तब वह विषय भोगों का तीव्र लोलुपी होता है। इस हेतु विषयभोग की सामग्री व धन प्राप्त करने में वह न्याय अन्याय को, दया व प्रेम को, हित अहित को भूल जाता है। चाहे कितना भी बड़ा पाप करना पड़े, उसे ग्लानि नहीं आती है।

वह धन का ऐसा गुलाम बन जाता है कि धन का संग्रह करना ही उसका एक व्यसन हो जाता है। न तो वह उचित कार्यों में धन खरचता है न दान धर्म में लगाता है। कोई-कोई विषय-लम्पटी विषय-भोगों में नामवरी होने में खूब धन का व्यय करते हैं। ऐसे कितने ही जैनी नाम के लिए मंदिर बनवाते, बिम्बप्रतिष्ठा कराते, गजरथ चलाते यात्रा संघ निकालते, कोई-कोई मुनि व श्रावक के व्रत भी पालने लगते हैं। आशा यह होती है कि पुण्य के फल से स्वर्ग में मनोज्ञ विषयभोग प्राप्त करूं। ऐसे जोव कषाय के बंधन में और अधिक जकड़ जाते हैं। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरु के मुखारविंद से धर्म की अमृतमई वाणी का पान कर परम सन्तोषित हो जाता है। और यह दृढ़ संकल्प कर लेता है कि किसी तरह कर्मबन्धन से मुक्त

हो जाऊं। उसको भी गुरु बताते हैं कि बन्ध के काटने का मुख्य शस्त्र सम्यग्दर्शन है। और इसकी प्राप्ति का उपाय भेदविज्ञान का मनन है।

इस उपदेश को मान्य करके वह भव्य परिणामी आत्मा व अनात्मा का भिन्न-भिन्न विचार करता है।

आत्मा स्वभाव से निर्मल है, ज्ञातादृष्टा है, अविनाशी है, परम वीतराग है, परमानदमय है, अमूर्तीक है, अनन्तबल का धनी है, परम कृतकृत्य है, केवल है, अपनी सत्ता को भिन्न-भिन्न रखता है। मेरे आत्मा के साथ अनादि से सग रखने वाले कार्माण व तैजस शरीर बिलकुल मुझसे भिन्न पुद्गल द्रव्य के द्वारा निर्मापित हैं। तब उनके सर्व कार्य या फल भी मुझसे भिन्न हैं सर्व शुभ व अशुभ भाव भी व सर्व तीन लोक सम्बन्धी जीव से बाहरी व भीतरी अशुद्ध अवस्थाए भी मुझसे भिन्न हैं। मैं सिद्ध पुरुष परमात्मा हू, उसके सिवाय कुछ नहीं हू। इस तरह भेद विज्ञान के सतत अभ्यास से एक समय आता है तब करण परिणामो के द्वारा यह मिथ्यात्वी भी वमन कर सम्यक्त्वी हो जाता है। स्वतन्त्रता की सडक पर जाने की स्वच्छन्दता पा जाता है। सतत आनन्दमय होकर जीवन सुखी रहता है।

---

८७. रति नोकषाय

एक स्वतंत्रताप्रिय मानव परतंत्रताकारक कारणो को विचार करके मिटाने का प्रयत्न कर रहा है। जिन भावों से कर्मों का बन्ध होकर भव भ्रमण करना पड़े उन कारणों को मिटाना ही एक बुद्धिमान् का परम कर्त्तव्य है।

पच्चीस कषाय बन्धकारक भाव हैं। उनमें रति नोकषाय भी है। रति के उदय के साथ लोभ कषाय का भी उदय रहता है। लोभ की सहायता से यह काम करती है। इसीसे इसे नोकषाय कहते हैं।

इसके उदय से जलरेखा के समान रागभाव होता है व मिट जाता है अप्रमत्त ध्यान में लीन साधुओं को व श्रावकों को यह ध्यान से गिरा नहीं सकती है, इतनी निर्बल है। परन्तु प्रमत्त साधुओं व श्रावकों को यह ध्यान से हटाकर शिष्यों में, पुस्तकों में, या कुटुम्ब में व मित्रों में रतिवान बना देती है, वीतरागभाव से गिरा देती है। मिथ्यात्वी जीव अनन्तानुबंधी लोभ के उदय के साथ जब रति नोकषाय का उदय पाता है तब यह विषयों की इच्छानुकूल सामग्री पाकर आसक्त हो जाता है, उन्मत्त हो जाता है, धर्म को व आत्मोन्नति को बिलकुल भूल जाता है। उसे पांचों इंद्रियों के विषय ही प्यारे लगते हैं। उनकी शक्ति के लिए, उनकी रक्षा के लिए, बाधक को हटाने के लिए यह महान पाप करते हुए सकोच नहीं करता है, सातों व्यसनों में फंस जाता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव इस नोकषाय के अनुमान को मिटाने के लिए श्रीगुरु से शिक्षा पाता है कि वीतराग भाव का लाभ करो, उसके लिए भेदविज्ञान के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वभाव का मनन करो। तब वह भव्यजीव एकांत में बैठकर मनन करता है कि यह मेरा आत्मा अन्य आत्माओ से भिन्न है। पुद्गल के परमाणु व स्कंधों से जुदा है, धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यों से भिन्न है। कर्मों के निमित से होने वाले ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म से, रागादि भाव कर्म से, शरीरादि नोकर्म से भिन्न है। यह ज्ञान का सागर है, शांति का उदधि है, आनन्द का समूह है, परम अमूर्तीक है, अविनाशी है, असंख्यात प्रदेशी होकर भी मेरे शरीर के आकार है, शरीर मंदिर है, उसमें आत्मादेव विराजमान है। शुद्ध स्फटिक भाव है या शुद्ध जलमय है। ऐसा ध्याते-ध्याते करणलब्धि को पाता है तब सम्यक्त्वी होकर आत्मा का दर्शन पाकर परम संतोषित हो जाता है। फिर तो वह जब चाहे तब अपनी आत्म-गंगा में स्नान करके परमानन्द का लाभ करता है।

८८. अरति नोकषाय

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता के विकास के लिए परतंत्रता कारक कर्मों के क्षय का व स र का उद्यमी होकर कर्मबंध के कारणों का विचार करके उनके मिटाने का उद्योग कर रहा है।

पच्चीस कषाय भावों में अरति नोकषाय भी बड़ी हानिकारक है। इसके उदय से एक प्रकार का अरुचिकर भाव हो जाता है, जिससे धर्म, अर्थ, काम तीनो पुरुषार्थों के साधन में उपयोग नही लगता है। आलस्य रूप अरति भाव पैदा हो जाता है। यह एक तरह का अरति ध्यानमय भाव है। इसका जब उदय अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती व आठवे गुणस्थानवर्ती साधु के होता है, वह इतना मन्द होता है कि साधु के ध्यान करते हुए इनका स्वाद नही आता है परन्तु केवलज्ञानी इसके उदय से प्राप्त मलीनता को जानते है। छठे प्रमत्त व पांचवे देशविरत गुणस्थानवर्ती साधु के भीतर यह ऐसा विकार उत्पन्न करती है कि एक अन्तर्मुहूर्त व अधिक के लिए उनका मन भी व्यवहार धर्म व कर्म से उदास हो जाता है। परन्तु साधु के जलरेखा के समान तुर्त मिट जाती है। श्रावक के बाल की रेखा के समान कुछ काल पीछे मिटती है।

मिथ्यात्वी के अनन्तानुबधी भाव व क्रोध के साथ जब इसका उदय होता है तब वह धार्मिक कार्यों से तीव्र अरुचि करता है। आलस्य में डूबकर धन को नहीं कमाता। वह शरीर की रक्षा के नाम के भोग भी नही करता है।

जिन किन्ही बाहरी आदमियो के कारण संकट होने से उदासी आई है उनके नाश का विचार करके तीव्र पापकर्म बाधता है। जीवन को वृथा खोकर वह अज्ञानो पशु आयु बाधकर एकेंद्रिय से पंचेद्रिय तक तिर्यंच हो जाता है।

भद्र मिथ्यात्वी जीव श्री गुरु से आत्मकल्याण का मार्ग जानकर कि मोह के दमन का उपाय आत्मा का मनन है, और वह भेद-विज्ञान

के द्वारा किया जाता है। ऐसा समझ कर वह निरंतर एकांत में तिष्ठकर भेदविज्ञान के द्वारा यह विचारता है कि आत्मा स्वयं भगवान, अविनाशी, अमूर्तीक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनंतबली, परम सुखी, परम शांत, परम कृतकृत्य, परम सन्तोषी है। मेरे ही शरीर मंदिर में आत्मदेव विराजमान हैं। वह उनको रोककर बार-बार आत्मा के भीतर अपनी बुद्धि को प्रविष्ट करता है। इस उपाय से करणलब्धि द्वारा सम्यग्दर्शन को झलका कर आत्मा का साक्षात्कार पाकर निश्चय कर लेता है कि मैं अवश्य स्वतंत्र हो जाऊंगा। इससे वह परम सन्तोषी हो जाता है।

---

८९. शोक नोकषाय

एक ज्ञानी परतंत्रताकारक भावों को विचार कर उनसे बचने का उद्यम कर रहा है। कर्मों का सयोग स्वरूप के पूर्ण भोग में बाधक है। अतएव कर्मबन्धन को काटकर स्वतंत्र होना जरूरी है। पच्चीस कषायों में शोक भी बहुत ही बाधक है। इष्टवियोग से अनिष्ट संयोग से व पीड़ा से परिणामों में शोक का उदय हो जाता है तब प्राणी असातावेदनीय कर्म को बांधता है। वास्तव में शोक करना मूर्खता है।

यह शोक नोकषाय संज्वलनकषाय के साथ आठवें अपूर्णकरण गुणस्थान तक रहता है। परन्तु वहां उतना कम होता है कि ध्यानी साधु के अनुभव में नही आता है।

अविरत सम्यक्त्वी देशविरति व प्रमत्तविरत साधुओं का प्रवृत्ति मार्ग धर्म की श्रद्धा सहित होता है। उनके शोक का उदय कदाचित् किसी इष्ट वस्तु के न होने पर हो जाता है। साधुओं का शोक जलरेखा के समान तुर्त मिटनेवाला होता है। तथापि कुछ देर तक किसी गुरु या शिष्य या पुस्तक के खो जाने का ख्याल रहता है। बालू रेत के समान शोक रहता है। आरम्भी गृहस्थों को चेतन व अचेतन परिग्रह के

वियोग पर भी शोक हो जाता है। यही हाल व्रत रहित गृहस्थों का होता है। इनका शोक हल की रेखा के समान देर में मिटने वाला होता है।

सम्यग्दृष्टी भेदविज्ञान के मनन से शोक के मैल को धो डालता है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी को अनन्तानुबंधी कषाय के साथ शोक का उदय बड़ा ही शोकित बना देता है। वे इष्ट पदार्थ के वियोग में घबड़ाकर प्राण तक दे देते हैं व मरते समय कष्ट से मरकर पशुगति में चले जाते हैं। शोक के कारण उन मानवों का जीवन बहुत ही निरर्थक बीत जाता है। वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों शुद्ध पदार्थों के लिए पंगु हो जाते हैं। शोककषायकर्म का जोर हटाने के लिए भव्य मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरु से उपाय समझते हैं कि भेदविज्ञान का मनन ही कषाय के अनुभाग को सुखाता है।

तब वे एकांत में बैठकर आत्मा का स्वभाव अनात्मा से भिन्न विचार करते हैं कि आत्मा स्वभाव से अमूर्तीक, ज्ञाता, दृष्टा, परम शांत, परमानंदमई, निर्विकारी, अनन्तबल का धनी है। इसकी सत्ता अन्य आत्माओं से, सर्व पुद्गलो से, धर्म द्रव्य से, अधर्म द्रव्य से, आकाश से, कालाणुओं से निराली है। यह ज्ञानावरणादि आठों कर्मों से, रागद्वेषादि भाव कर्मों से, शरीरादि नौकर्मों से निराला है। जैसा मेरा आत्मा है वैसा ही सर्व प्राणियों का आत्मा है। वह ज्ञानी होकर समभाव को जागृत करता है। इस तरह वीतरागता के अंशों को बढ़ाकर वह करणलब्धि को पाकर सम्यग्दृष्टी हो जाता है। तब इसे मोक्षमार्ग मिल जाता है। स्वानुभव की अग्नि जलाने की रीति विदित हो जाती है। इसी उपाय से यह जीवन को आनन्दमय बनाकर तृप्त रहता है और धीरे-धीरे स्वतंत्रता की ओर बढ़ता जाता है।

---

६०. भय नोकषाय

एक ज्ञानी अपने आत्मा को स्वतंत्र करने का उद्यमी होता हुआ परतन्त्राकारक कर्मों के बन्धनों से छूटना चाहता है। जिन भावों से कर्मों का बंधन होता है उनको विचार करके दूर करने का प्रयत्न करता है।

नोकषायों में भय नोकषाय भी बहुत ही कायर बना देती है। इसका उदय आठवें गुणस्थान तक रहता है। तो भी साधु को सातवें व आठवें गुणस्थान में यह अपनी मंदता के कारण भय संयुक्त नहीं करता है। तो भी छट्ठे गुणास्थानवर्ती प्रमत्तविरत साधु के भीतर कभी-कभी भय का झलकाव हो जाता है। परन्तु वह जल की रेखा के समान तुर्त मिट जाता है। तो भी साधु आत्मा का वीर स्वभाव विचार कर भय व कायरता से अपने को डरपोक नहीं बनाते हैं। कठिन स्थानों पर निर्जन बनों में ध्यान लगा देते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय के साथ भय कषाय के उदय से सदा भयभीत रहता है। उसी को सात प्रकार का भय सताता है—

(१) इसलोक भय—इस लोक मे मुझे लोग हँसेंगे व क्या न क्या कहेंगे, इस भय के कारण करने योग्य धर्म व उपकारी कामों को भी टाल देता है।

(२) परलोक भय—परलोक में कहीं दुर्गति न हो इसका भय रख कर दुःखो से डरता है। इस डर से धर्म का काम करता है।

(३) वेदना भय—शरीर में कहीं रोग आ पड़े तो मैं क्या करूंगा ?

(४) अरक्षा भय—मेरा रक्षक कोई नहीं, कौन मेरी रक्षा करेगा ?

(५) अगुप्ति भय—मेरा माल कोई ले जायगा तो मैं क्या करूंगा ?

(६) **मरण भय**—यदि कही मरण आ जायगा तो मुझे सब कुछ छोड़ना पड़ेगा, इसलिए मरण से डर करके इष्ट पदार्थों से बड़ा स्नेह करता है।

(७) **आकस्मिक भय**—कही कोई पानी की बाढ़, आदि यकायक आपत्ति न आ जावे, इन भयों के कारण कायर होकर मिथ्यादृष्टी कभी-कभी अनुचित उपाय भी भय निवारण के लिए करने लगता है। उसे आत्मा के अमरत्व का निश्चय नही होता है तब मरण को ही अपना मरण समझ लेता है। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरु से कषाय के नाश करने की दवा समझता है कि एक ही दवा कषाय मिटाने की है, और वह उपाय आत्मा का मनन है।

इसलिए वह भव्य जीव एकात में बैठकर थिरता के साथ अपने आत्मा के स्वभाव को पर से भिन्न विचार कर मैं ज्ञातादृष्टा, आनदमई, परमशांत, अविनाशी शुद्ध आत्मा हू। कर्मों के सयोगवश जो आत्मा मे रागद्वेषादि भाव या अशुभ या शुभ भाव होते है ये सब मेरे निज स्वभाव नही हैं। न पाप-पुण्य कर्म मेरे हैं, न यह कोई शरीर मेरा है। मेरा तो मेरा ही स्वभाव है। वह अभेद व अखण्ड है, अमिट व अविनाशी है, परम वीतराग है। इस तरह मनन करते-करते वह कभी मिथ्यात्व कर्म को उपशम करके सम्यग्दृष्टी हो जाता है। तब वह ज्ञानी होकर परम निर्भय हो जाता है। उसके भीतर बड़ी श्रद्धा रहती है कि उसका आत्मा सदा भयरहित है। उसे कोई भी नाश नहीं कर सकता है। इस सम्यक्त्व के प्रभाव से वह अपना जीवन परम सुखी बना लेता है।

---

६१. जुगुप्सा नोकषाय

एक ज्ञानी आत्मा सर्व प्रपंचजालों से छूटकर यह मनन करता है कि स्वतंत्रता का लाभ कैसे किया जाय ? स्वतंत्रता के बाधक कर्मों

का संयोग है। उन कर्मों का सम्बन्ध रागादि कषाय भावों से होता है तब उनका क्षय रागादि रहित वीतरागभाव से होता है। इन २५ प्रकार के कषायों में जुगुप्सा नोकषाय भी है जिसके उदय से अपने भीतर बड़प्पन का व पर की तरफ ग्लानि का भाव होता है।

यद्यपि इन नोकषाय का उदय आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान तक रहता है तथापि अप्रमत्त दशा मे वह इतना कम है कि ध्याता मुनि के मन में कुछ भी विकार नही पैदा होता है। प्रमत्तविरत छठे गुणस्थान तक यह ग्लानि का भाव पैदा कर देता है। साधु के भीतर यह जल में लकीर के समान होता है जो तुर्त मिट जाता है।

मिथ्यादृष्टी के इसका उदय अनतानुबंधी मान के साथ होता है तब वह अपने रूप, बल, धन, विद्या, अधिकार का व अपने कुल व जाति का महान अभिमान करके दूसरो को बहुत तुच्छ दृष्टि से देखता है। गरीब दीनो की तरफ कठोर भाव रखकर उनका तिरस्कार करता है। उपकार करना तो दूर ही रहा, वह अपने को बड़ा पवित्र समझता है। दूसरों को अपने से योग्य आचरण रखने पर भी अपवित्र समझता है।

सम्यग्दृष्टी अविरत व देशविरत भावधारी के भीतर भी इस नोकषाय का उदय हो जाता है। वह श्रद्धान की अपेक्षा इस भाव को कर्मकृत जान कर त्यागने योग्य समझता है। चारित्र की अपेक्षा कभी-कभी ग्लानि भाव कुछ देर के लिए आ जाता है, उसको यह भेद-विज्ञान के शस्त्र से काटने का उद्योग करता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्रीगुरु के द्वारा कषायो के जीतने का उपाय समझते हैं। वह उपाय एक अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप का मनन है। वह निरन्तर एकांत में बैठकर यह मनन करता है कि मैं शुद्धात्मा हूं, ज्ञाता-दृष्टा निर्विकार हूं, परम अतीन्द्रिय हूं, वीतराग हूं, परमानंदमई हूं, मेरे स्वभाव में रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म, शरीरादि नोकर्म नहीं हैं, मैं एकाकी अनन्त गुण-पर्यायवश पर-

मात्मा परमेश्वर हूं। इस तरह मनन करते हुए वह सम्यग्दर्शन के बाधक कर्मों को हटा देता है और आत्मा के प्रकाश का दर्शन पाकर परम तृप्त व आनंदित हो जाता है। स्वतन्त्रता मिल ही गई ऐसी गाढ़ रुचि हो जाती है।

---

९२. स्त्रीवेद नोकषाय

स्वतन्त्रता का अभिलाषी जीव कर्मों की शृंखला को तोड़ना चाहता है। कर्म की जंजीरें कषायों के वेग से जकड़ी जाती हैं। इन कषायों का क्षय करना जरूरी है।

२५ कषायों में स्त्रीवेद नोकषाय भी है। इसका उदय नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक होता है, परन्तु नौवें में इतना भेद होता है कि शुक्ल ध्यानधारी शुद्धोपयोगी के भावों मे कोई विकार नही पैदा होता है। छट्ठे गुणस्थानवर्ती साधु के तीव्र उदय सभव है। तब मुनि के सज्वलन लोभ के उदय के साथ कुछ विकारभाव पैदा हो जाता है। परन्तु वह जल रेखा के समान तुर्त मिट जाता है। मिथ्यादृष्टी जीव के अनन्तानुबधी लोभ के उदय के साथ जब इस वेद का उदय होता है तब वह स्त्री सम्बन्धी कामविकार से आकुलित हो जाता है। और नाना प्रकार के हाव भाव चेष्टा करके पुरुष के साथ रमण करने की कुत्सित भावना किया करता है। जिससे वह शात ब्रह्मचर्य के भीतर रमण नहीं कर सकता है। जब कामविकार मन को क्षोभित करके अन्धा बना देता है तब एक स्त्री परपुरुष रत हो जाती है। स्त्रीवेद का तीव्र उदय बाहरी निमित्तों के आधीन होता है। कामप्रभाव से प्रेरित स्त्री वैसे काम प्रेरक निमित्त बना लेती है, नाना प्रकार का शृङ्गार करती है व स्त्री भूषणों को पहनती है, बाहरी खोटी चेष्टा बताती है।

अब मिथ्यादृष्टी जीव इस कामविकार के पैदा करने वाले कषाय के प्रयत्न के लिए श्री गुरु से आत्मज्ञान की औषधि समझता है और एकांत में बैठकर भेदविज्ञान के द्वारा अपने आत्मा के स्वभाव का मनन करता है।

मेरा आत्मा स्वभाव से शुद्ध, अविनाशी, ज्ञाता, दृष्टा, परम-शांत, निर्विकार, परमानन्दमई है। यही वास्तव में परमात्मा है। यह स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण से रहित है। रागद्वेषादि भावों से रहित है। ससार को दशाओं से रहित है, पाप पुण्य के संयोग से रहित है। यह जैसा शुद्ध है वैसे सब आत्माएं शुद्ध हैं। ऐसा विचार करके समभाव का अभ्यास करता है। इसी के अभ्यास से उसका सम्यक्त्व-रोधक-कर्म उपशम होता है और वह आत्मा का साक्षात्कार पाकर सम्यग्दृष्टी हो जाता है, परम तृप्त व परम सुखी हो जाता है।

---

९३. पुरुषवेद नोकषाय

एक ज्ञानी आत्मा अपनी प्यारी स्वतंत्रता के लाभ हेतु बाधक कारणों को विचार करके हटाने को चेष्टा करता है। कर्मों के बंध के मूल कारण मोहनीय कर्म के भेद हैं। चारित्रमोहनीय के पच्चीस भेदों में पुरुषवेद भी है जिसके उदय से कामविकार ऐसा पैदा हो जाता है, जो यह प्राणी स्त्री से कामसेवन करना चाहता है। इसका उदय अनिवृत्तिकरण नौमें गुणस्थान के सवेद भाग तक है, परन्तु सातवें से यहां तक इतना मंद उदय जल में रेखा के समान है कि साधु के परिणाम में विकार नहीं होता है; क्योंकि यहां शुक्लध्यान होता है या सातवें में उत्तम धर्मध्यान होता है। छठे गुणस्थान तक सम्यग्दृष्टी के भी कामविकार उठ खड़ा होता है, उसे साधु ज्ञान, वैराग्य के बल से मिटाते हैं।

गृहस्थी श्रावक भी कामविकार को निन्दनीय समझता है व काम भाव को मिटाना चाहता है, परन्तु स्त्री के निमित्त होने पर व

पुरुषवेद के तीव्र उदय से लाचार हो, स्त्रीसेवन के प्रपंच में पड़ जाता है। इस कार्य को अपराध जानता है, क्योंकि इस समय स्वात्माराधन से दूर रह जाता है।

यह मिथ्यादृष्टि अनन्तानुबंधी लोभ के उदय के साथ-साथ पुरुषवेद का तीव्र उदय पाकर आपे से बाहर हो जाता है। उसको श्रद्धान भी यही है कि विषयसुख सच्चा सुख है, इसलिए स्व-स्त्री, पर-स्त्री, वेश्या का विवेक छोड़कर अपनी वेदना शात करके पशु के समान आचरण करता है।

यह मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरु से ज्ञान प्राप्त करके अतीन्द्रिय-सुख की चाह पैदा करते है और सत्ता में बाधे हुए कर्मों की शक्ति कम करने के लिए उपाय समझता है, वह उपाय एक वीतराग भाव का ही लाभ है।

वीतराग भाव एक गुण है. जो आत्मा के स्वभाव में रहता है। इसलिए उस वीतराग भाव के लिए यह मुमुक्षु जीव अपने आत्मा के मूल द्रव्य का स्वरूप विचारता है कि यह आत्मा अमूर्तीक, ज्ञाता-दृष्टा है, परम शात है, निर्विकार है, परमानद है, सम्यक्त्व गुणों का व अनन्तवीर्य गुण का धारी है, परम निराकुल है। शुद्ध स्फटिक के समान है। यही ईश्वर, परमात्मा, प्रभु, निरंजन व जिनेन्द्र देव है। यही सिद्ध है, यही अरहंत परमात्मा है। सब ओर से उपयोग को खींचकर इसे अपने शुद्ध स्वरूप मे मनन की धारावाही चेष्टा करता है। इसीसे करणलब्धि पाकर झट ही सम्यग्दर्शन के बाधक कर्मों का उपशम करके आत्मज्ञानी, आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टी हो जाता है और तब संसार से छूट करके स्वतन्त्रता के पथ पर चलने लगता है। और सच्चे सुख का भोग करता है।

---

६४. नपुंसकवेद नोकषाय

एक ज्ञानी आत्मा अपने को पराधीन देखकर अतिशय उदासीन है व इस प्रयत्न में है कि स्वाधीनता का लाभ करना ही चाहिए। पराधीनता का कारण कर्मों का बंधन है। कषायों से ही कर्मों में स्थिति व फलदान शक्ति पड़ती है। इन कषायों के विजय से हो स्वतंत्रता का लाभ है। २५ कषायों में नपुंसकवेद भी है। इस वेद नोकषाय का उदय नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के वेद भाग पर्यंत होता है। परन्तु ८वें से शुक्लध्यान व निर्विकल्प समाधि व शुद्धोपयोग की धारा बहने लगती है। उस धारा में बहुत ही अल्प काम का विकार ध्यान से ध्याता को पतन नहीं कर सकता, न कामभाव ही उठ सकता है। तथापि केवलज्ञान गम्य वेद के उदय की मलिनता है सो जल में रेखा के समान है।

छठे गुणस्थान तक वेद का उदय विकारभाव को प्रगट पैदा कर देता है। परन्तु यह शीघ्र ही मिट जाता है। साधुजन भेदविज्ञान से व वैराग्य से काम विकार को जीतते हैं। पाचवें गुणस्थान में काम विकार उत्पन्न होकर कुछ अधिक देर ठहरता है। चौथे में और अधिक ठहरता है। ज्ञानी ब्रह्मचर्य व्रत के स्मरण से इस विकार को यथाशक्ति जीतने का प्रयत्न करते हैं।

मिथ्यादृष्टी मोही जीव के भीतर अनन्तानुबंधी लोभ के उदय के साथ इस वेद का जब उदय होता है तब यह नपुंसक वेदधारी असैनी पंचेन्द्रियो के समान मूर्छित होकर स्त्री पुरुष की मिश्रित कामचेष्टा करके विकारी भावों से तीव्र कर्मबंध करता है और एकेन्द्रियादि-पर्याय में चला जाता है।

यह मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरु से धर्म का उपदेश सुनता है। कामभाव को आत्मीक शांति का परम बैरी जानता है। यह भी समझता है कि जब तक तीव्र कर्मों का अनुभाग सत्ता में होगा तब तक

उनका उदय में आकर भावों को बिकारी बनाना शक्य है। यहां भी श्रीगुरु समझाते हैं कि अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप के मनन से सत्ता में बैठे हुए कर्मों का रस सूख जाता है, तब यह उद्यम करके यह मनन करता है कि मैं एक अकेला आत्मा हूं, परम शांत हूं, परम निर्बिकार हू, परमानदमय हूं, पूर्ण ज्ञानदर्शन का सागर हूं, अनंत बल-वाली हूं, परम अमूर्तीक हूं, शरीररूपी मंदिर में औदारिक, तैजस, कार्माण शरीरों के भीतर परम तेजस्वी सूर्य समान ईश्वर स्वरूप बिराजमान हू। ऐसा बार-बार मनन करने से यह जीव अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व कर्मों को निर्बल कर देता है। वे ढोले पड़कर मुरझा जाते हैं, तब वह सम्यक्त्वी होकर अपनी सम्पदा का आप स्वामी बन जाता है, पर सपत्ति से बिलकुल उदासीन हो जाता है।

---

६५. सत्य मनोयोग

ज्ञानी आत्मा विचारता है कि अपनी प्यारी स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो। कर्मों का बध परतन्त्रताकारक है। कर्मों के बन्ध के कारक मिथ्यात्व, अविरत कषाय व योग है। यद्यपि कषाय से कर्मों में स्थिति व अनुभाग पड़ता है, परन्तु भोगो से ही कर्म का आस्रव होता है व प्रकृति प्रदेश बन्ध पड़ता है।

आत्मा में एक शक्ति कर्म को आकर्षित करने की है जिसको योगशक्ति कहते है। यह शरीर नामकर्म के उदय से काम करता है। जब आत्मा के प्रदेश सकप होते हैं। मन के विचार होते हुए, वचनों के बोलते हुए, कायसे कोई काम करते हुए, आत्मा सकंप हो जाता है। इन ही कर्मों का आना प्रकृति व प्रदेश बंध रूप होता है। इसलिए योगों का हलन चलन भी शत्रुओं के बुलाने के कारण है। जहां मन, वचन, काम के योग नहीं चलते हैं वहां कर्म नहीं आते हैं। मन के चार प्रकार योगो में सत्य मनोयोग है। यह सत्य मनोयोग सैनी पंचेन्द्री जीव को हो सकता है जब किसी सत्य बात का विचार किया जाता है।

यह सत्य मनोयोग संकल्प विकल्प की चंचलता की अपेक्षा १२वें क्षीणमोह गुणस्थान तक होता है व द्रव्य मनोयोग की चंचलता की अपेक्षा तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान में भी होता है। जब यह योग कषाय की कालिमा से मैला नहीं होता है तब मात्र सातावेदनीय कर्म का आस्रव आता है वह भी ईर्यापथ होता है। कर्म आते हैं व चले जाते हैं, ठहरते नहीं हैं। मिथ्यादृष्टि का अभिप्राय मिथ्या वासना से वासित होता है। इसलिए उसका सत्य मनोयोग भी, विशेष कर्मबंध का ही कारण होता है। योगों की थिरता के लिए ज्ञानी सम्यक्त्वी जीव अपने शुद्ध आत्मा का चिन्तवन करते हैं। वे एकाग्र हो मन को आत्मा के स्वभाव में लय कर देते हैं जिससे शांत भाव पैदा हो जावे और वीतरागता प्राप्ति व कर्मों के सुखाने मे कारण हो। योगों को थिर करने का अभ्यास ही योगाभ्यास है।

शुद्ध भावना ही शुद्ध योग का कारण है। मैं शुद्ध ज्ञातादृष्टा, अविनाशी, अमूर्तिक, परमानन्द मय हूं, रागद्वेष मोह से रहित हूं, यही भावना एकाग्रता का उपाय है। इसी भावना से ही भद्र मिथ्यादृष्टि को करणलब्धि की प्राप्ति होती है व सम्यक्त्व का लाभ होता है। मैं शुद्धात्मा हूं अन्य कोई नहीं हूं, यह भाव मोक्ष का बीज है, परमानन्द दाता है। यही करने योग्य है, और सब त्यागने योग्य हैं।

---

९६. असत्य मनोयोग

ज्ञानी आत्मा किसी प्रकार से परतंत्रता को मिटाकर स्वतंत्र होना चाहता है। वह जानता है कि कर्मों के बंधनों से आत्मा परतंत्र रहता है। कर्मों के आने को रोकना जरूरी है। आस्रव का कारण देह का सकंप होना है। मन योग चार प्रकार का होता है। असत्य मनोयोग भी बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक रहता है। अबुद्धिपूर्वक असत्य विचार का संस्कार रहता है क्योंकि ज्ञान अल्प है। केवलज्ञान

नहीं हुआ है। सैनी पंचेन्द्रिय जीव किसी प्रयोजनवश असत्य का विचार करते हैं। मिथ्यादृष्टी जीव असत्य कल्पनाओं से जगत में मायाचार पूर्वक घोर अन्याय फैलाते हैं। महान कर्म का बंध करते हैं। सम्यग्दृष्टी भव्यों के भीतर ज्ञान में चौथे से छठे गुणस्थान तक कर्मों के उदय में असत्य विचार हो जाते हैं, तब इतने अंश मे वे भी हानिकारक हो हैं, असत्य विचार ही रहते हैं। बुद्धिपूर्वक आत्मा की झलक के लिए यह मिथ्यादृष्टि जीव श्रीगुरु से यह समझकर कि शुद्ध भावों के मनन से आत्मा की सत्ता मे बैठे हुए अशुभ कर्म क्षीण होते हैं, यह भव्य जीव एकांत में बैठकर निश्चयनय के द्वारा जन्म को परमात्मा के समान ज्ञाता दृष्टा, अविचारी, आनन्दमय, वीतरागी, अमूर्तीक, शुद्ध, परम पवित्र, निरंजन, निर्दोष शुद्ध जल के समान ध्याता है। तब परिणामो की उन्नति होती जाती है। कुछ काल प्रमाद करने से वह करणलब्धि के परिणामों को प्राप्त कर लेता है। और यकायक अन्धकार से प्रकाश में आ जाता है, सम्यक्त्वी होकर सुखी हो जाता है।

---

९७. उभय मनोयोग

ज्ञानी जीव अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप को पहचान कर उसकी कर्मबंध रूप दशा से उदासीन हो रहा है। व यही दृढ भावना करता है कि मैं शीघ्र स्वतत्र हो जाऊ। कर्मों का बन्ध योगों से व कषायों से होता है व कर्मों का सब योग, निरोधरूप शुद्धात्मानुभव से होता है। पन्द्रह योगों में उभय मनोयोग भी है। इस योग में सैनी प्राणी ऐसी बातों को विचार करता है जिनमें सत्य व असत्य अभिप्राय मिला हुआ है। कषाय की प्रेरणा से ऐसा अभिप्राय छठे प्रमत्तसयत गुणस्थान तक हो सकता है। इसके आगे बारहवें गुणस्थान तक यह योग है, सो केवलज्ञान के अभाव में अज्ञानजनित है। केवलज्ञानी के उभय मनोयोग नहीं हो सकता है।

छठे गुणस्थानवर्ती साधु किसी व्यवहार धर्म की प्रभावना के हेतु कभी उभय मनोयोग से प्रवृत्ति कर सकते हैं। आरम्भी श्रावक व अविरत सम्यग्दृष्टी गृहस्थ न्याय पर चलते हुए भी कभी-कभी मिश्रित मनोयोग कर लिया करते हैं। सत्य के साथ असत्य को मिलाने का अभिप्राय करना पड़ता है तो भी ये निन्दा गर्हा से मुक्त हैं। मिथ्यादृष्टी अज्ञान से अपना लौकिक स्वार्थ अन्यायपूर्वक करता रहता है वह झूठ-सच्च मिला हुआ बहुत-सा विचार भी करता है। कषायों की तीव्रता से घोर पापकर्म बाधता है।

भद्र मिथ्यादृष्टि जीव श्रीगुरु से भेद विज्ञान का मन्त्र सीखता है, जिससे उसे आत्मा का असत्य स्वभाव सर्व परभावों से भिन्न नजर आता है। प्रतीति पूर्वक वह लगातार मनन करता है कि मैं आत्मा हूं, निर्विकार हूं, ज्ञाता दृष्टा, परमशांत, परमानदमय हूं। मेरा कोई सम्बन्ध किसी भी अन्य आत्मा से किसी पुद्‌गल के परमाणु से व धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यो से, रागद्वेषादि भावकर्मों का शरीरादि कुटुम्ब व मित्रो से कोई भी संबंध नहीं है। सर्व पर से उदास होकर तब सम्यग्दर्शन के सन्मुख रहने वाला भद्र जीव बार-बार अपने ही आत्मा का मनन करता है, जब धीरे-धीरे कषाय का बल घटता जाता है। एक समय आ जाता है जब यह सम्यग्दर्शन रूपी रत्न का प्रकाश घटता जाता है तब यह परम संतोषी हो जाता है तब इसको स्वतंत्रता देवी का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से नित्य दर्शन होता है। यह शीघ्र ही पूर्ण स्वतंत्र हो जायेगा। वास्तव में शुद्धात्मा का मनन ही परम कार्यकारी है, यही सुखशांति का स्रोत है, यही परम मगलकारी है व यही सब तरह से करने योग्य काम है। जो अपने आत्मीक घर में विश्राम करते हैं वे ही सुखी हैं।

---

१८. अनुभय मनोयोग

एक ज्ञानी आत्मा अपने अनादिकालीन शत्रुओं के नाश के लिए उद्यम कर रहा है। जिन कारणों से कर्मों का आस्रव होता है उनको

पहचान कर उनके मिटाने का प्रयत्न करना जरूरी है। १५ योगों में अनुभय मनोयोग भी है। किसी ऐसी बात का विचार करना जिसको सत्य व असत्य कुछ भी नहीं कह सकते, अनुभय मनोयोग है। बुद्धि-पूर्वक यह योग छठे प्रमत्त गुणस्थान तक होता है। अबुद्धिपूर्वक इसका सम्बन्ध बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक है। यद्यपि तेरहवें सयोग गुणस्थान में भी यह है, तथापि श्रुतज्ञान व मतिज्ञान न होने से कुछ कार्यकारी नहीं है। द्रव्य मनोयोग है इस अपेक्षा भाव मन भी कहा हो, ऐसा दीखता है वहा मन के सकल्प विकल्प नही है।

अनुभय मनोयोग मिथ्यादृष्टि के भी होता है, परन्तु उसका आशय मिथ्यात्व सहित है। इससे उसके भीतर जो किसी बात के जानने की इच्छा होती है या कुछ प्रगट करने की इच्छा होती है, उसमें विषय कषायों की पुष्टि का ही अभिप्राय रहता है, इससे वह संसारवर्धक कर्मास्रव ही करता है।

सम्यग्दृष्टी चौथे से छट्ठे गुणस्थान तक जो प्रश्नादि करने का विचार करता है उसमे अवश्य रत्नत्रय का साधन ही है। कषायवश कभी यह आत्मकार्य के सिवाय अन्य कामों के सम्बन्ध में विचार करता है। उस समय भी उपयोग की चंचलता उसकी कामना के सिवाय होती है। इसलिए वह संसारवर्धक बंध का पात्र नही होता है।

भव्य मिथ्यादृष्टि जीव श्रीगुरु से यह समझता है कि अनुभय मनोयोग भी कर्म के उदय का कार्य है, आत्मा का स्वभाव नहीं अत-एव त्यागने योग्य है, ग्रहण करने योग्य नही है। अपने ही आत्मा का सर्वस्व जो पूर्ण ज्ञान, दर्शन, वीतराग व आनन्द स्वभाव है, आत्मा बिलकुल अमूर्तीक है, सर्व सांसरिक विकारों से बाहर है। चौदह गुणस्थानों से भी कर्मबन्ध प्रतीत है। केवल स्वसंवेदनगम्य एक शुद्ध आत्मीक भाव है। इसी भावना के करने से वह पूर्वबद्ध कर्मों का आस्रव रोकता है, आत्मा के मनन के प्रताप से मिथ्यात्व विष का वमन करता है। सम्यग्दर्शनरूपी रत्न प्रगट हो जाता है। इस रत्न के प्रगट होते ही ज्ञान का सच्चा प्रकाश आता है, तब स्वतंत्रता का दर्शन

अपने ही भीतर होने लगता है, वही मोक्ष का सोपान परम सुख का स्थान है।

---

६६. सत्य वचनयोग

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वतंत्रता का लाभ चाहता हुआ परतंत्रता-कारक कर्मों से पीछा छुडाना चाहता है। नए कर्मों के आने को रोकने के लिए उनके कारण आस्रव भावो का विचार करके उनसे वैराग्यभाव लाता है। १५ योगों में सत्य वचन योग भी है।

जहाँ सत्य, पर पीड़ा रहित, हितकारी अभिप्राय सहित वचन कहा जावे वह सत्य वचन है। सत्य वचन को कहते हुए आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना व कर्म नोकर्म आकर्षण शक्तियों का काम करना सत्य वचन योग है। यह सत्य वचन योग तेरहवे गुणस्थान तक रहता है। यद्यपि केवली की वाणी अनुभय वचन योग है तथापि श्रोताओं के ग्रहण की अपेक्षा सत्य वचनमई है।

छट्ठे प्रमत्त गुणस्थान तक अभिप्रायपूर्वक व इच्छापूर्वक सत्य वचन का प्रयोग होता है। सम्यग्दृष्टी की भूमिका ज्ञानमई होती है। भेदविज्ञान की कला से वह शुभोपयोग से प्रेरित सत्य वचन कहता है। तथापि वह वचन के सर्व प्रकार के वर्तन से परम उदास रहता है। उसका भीतरी अभिप्राय एक मात्र अपने शुद्धात्मा का ही अनुभव व परमानंद का योग है। वह कर्मोदय की बरजोरी से वचन बोलता है। मिथ्यादृष्टी सैनी भी सत्य वचन योग रखता है। पर-पीडाकारी वचन नहीं बोलता है तथापि मैं सत्यवादो हूं इस अहंकार से मुक्त नहीं होता है। इस लिए संसार के कारणीभूत बन्ध से नही छूटता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी श्री गुरु के द्वारा कर्मास्रव के कारण योगों की प्रणालिका को बन्द करने के लिए आत्मा के शुद्ध स्वरूप के मनन के उपाय सीख लेता है। यह भव्यजीव सम्यक्त्व के सन्मुख होता है तब

यह मनन करता है कि मैं केवल एक शुद्ध आत्मद्रव्य हूं। मेरा स्वभाव परम निरञ्जन, निर्विकार, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यवान, अमूर्तीक है। रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म सब निराले हैं। मेरे आत्मा की सत्ता सर्व आत्माओ से व पुद्गलादि पांच द्रव्यो से भिन्न है। सिद्ध सम शुद्ध स्वरूप का मनन करने से परम वैराग्य की धारा बहती है। करणलब्धि का लाभ होता है। क्षायक सम्यक्त्व ज्योति का प्रकाश हो जाता है। तब इसको अपने आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है यह परम तृप्त हो जाता है। आनन्दामृत पीने की कला प्रगट हो जाती है। तब स्वतन्त्रता देवी का दर्शन करके परम सन्तोषी रहता है।

---

१००. असत्य वचन योग

एक स्वतन्त्रता वांछक ज्ञानी भले प्रकार जानता है कि जब तक कर्मबंध के कारक भावो को नही रोका जायगा तब तक परतन्त्रता-कारी कर्मों का आना बन्द नही होगा।

१५ योगों मे असत्य वचन योग भी है। परपीडाकारी व पर को अहितकारी वचन कहना असत्य वचन कहलाता है। उसके निमित्त से आत्मा के प्रदेशो की चचलता होकर कर्माकर्षण करने वाली भाव योग शक्ति कर्मों को खीचती है।

यह असत्य वचन योग अबुद्धिपूर्वक बारहवे क्षीणमोह गुण-स्थान तक रहता है। प्रमाद के वशीभूत होने से सम्यग्दृष्टी, श्रावक व साधु से भी कभी असत्य वचन निकल जाता है। ये ज्ञानी महात्मा-गण अपने दोष को दोष जानते हैं। निन्दा गर्हा करके प्रतिक्रमण करते रहते हैं।

मिथ्यादृष्टी अज्ञानी विषयासक्त असत्य वचनों से स्वार्थ साधन करता हुआ पर प्राणियों को बहुत कष्ट देता है। दयाभाव रहित तीव्र

कठोर भाव सहित होता है। इसलिए वह असत्य वचन योग के द्वारा तीव्र कर्मों का बंध करता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी श्रीगुरु से समझता है कि जब तक सत्ता में बैठे हुए कषाय कर्मों का अनुभाग न सुखाया जायगा तब तक असत्य भाषण का मैल दूर नहीं हो सकता है। वह यह भी समझता है कि इसका उपाय शुद्धात्मा का मनन है। भेद विज्ञान द्वारा अपने आत्मा में पर से भिन्न यथार्थ आत्मद्रव्य पहचानना चाहिए कि यह आत्मा स्वभाव से परमात्मा के तुल्य पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र का धनी है। वह अविनाशी, अमूर्तीक, असंख्यातप्रदेशी शरीर-व्यापक एक अनुपम द्रव्य है। यह न रागी है, न द्वेषी है, न मोही है। यह तो परम वीतरागी है। इस तरह निज आत्मा का मनन करते-करते करणलब्धि के परिणामों का लाभ होता है तब भद्र मिथ्यादृष्टी सम्यक्त्वबाधक प्रकृतियो को उपशम करके सम्यग्दृष्टी हो जाता है। अन्धकार से प्रकाश में आ जाता है। स्वतंत्रता को निश्चय से अपने पास ही रखकर परम संतोषी हो जाता है।

---

१०१. उभय वचन योग

ज्ञानी आत्मा अपने स्वाभाविक स्वतंत्रता का परम प्रेमी होकर बाधक कारणों को हटाना चाहता है। बिना विरोधीदल के दमन के किसी को स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकती है। कर्मवर्गणाएं यद्यपि पुद्गल हैं तथापि जीवो के राग द्वेष मोहादि भाव सुखों के निमित्त से अपनी उपादान शक्ति को ऐसी प्रगटता करती हैं कि जीव के ज्ञानादि गुणों का घात करती हैं व उसे शरीर मे कैद रहने का साधन जोड़ देती हैं। इन कर्मवैरियों का नवीन संग्रह न हो इसलिए अशुभ भावों को विचार कर दमन करना जरूरी है।

१५ योगों में उभय वचन योग भी है। सत्य वचन के साथ असत्य का मेल उभय वचनयोग है। इसका ठिकाना बारहवें क्षीणमोह

गुणस्थान तक है। छद्मस्थ होने से सातवे से बारहवें तक अबुद्धिपूर्वक उभय वचन योग सम्भव है। बुद्धिपूर्वक उभय वचन योग छठे प्रमत्त गुणस्थान तक है। सम्यग्दृष्टी गृहस्थ या प्रवृत्तिमार्गी मुनि किसी न्याय व धर्मयुक्त प्रयोजन की सिद्धि के लिए, धर्म प्रचार व शिष्यों को सुयोग पर लाने के लिए असत्य को मिलाकर सत्य बोलते है। अविरत-सम्यग्दृष्टी व्रत रहित होने पर अर्थ व काम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए कभी-कभी उभय वचन से काम लेता है। परन्तु फिर अपनी निंदा गर्हा करता है।

मिथ्यादृष्टी स्वच्छंद होकर विषय कषाय की पुष्टि के लिए उभय वचन बोलता हुआ बड़ा आनदित होता है जब उसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। इस कारण वह अज्ञानी तीव्र कर्म का बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टी संसारवर्धक कर्म को नही बांधता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव सत्ता में बैठे हुए कर्मों की जड़ काटने का मंत्र श्रीगुरु से सीख लेता है, जिससे वह आस्रव भावो को ही प्राप्त न हो सके। यह मंत्र एक भेद विज्ञान पूर्वक निज आत्मा का मनन है। वह एकांत में बैठकर श्रद्धापूर्वक यह मनन करता है कि मैं मात्र एक ही शुद्धात्मा हू। सर्व कर्मजनित विकारो से दूर हू, अविनाशी ज्ञाता-दृष्टा एक निराला तत्व हू, न परभाव का कर्ता हूं न परभाव का भोक्ता हूं। अपने ही शुद्ध गुणों में नित्य वर्तन करने वाला हू। मेरा सम्बन्ध किसी भी परद्रव्य, परगुण, परपर्याय से नही है। मैं एक अभेद द्रव्य हूं। केवल स्वानुभवगम्य हूं। इस तरह नित्य मनन करते रहने से वह भी करणलब्धि के परिणामो को प्राप्त कर सम्यग्दृष्टी हो जाता है, स्वतंत्रता को प्राप्त कर पूर्ण विश्वासपात्र हो जाता है। तब से जब चाहे तब अतींद्रिय आनद का लाभ करता रहता है।

---

१०२. अनुभय वचनयोग

एक ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता का प्रेमी होकर आत्मा के बाधक कर्मशत्रुओं के विजय का उद्यम कर रहा है। जिन क्रियाओं से व परिणामों से कर्मों का संचय होता है उनका स्वरूप विचार कर उनसे वैराग्यभाव ला रहा है। १५ योगो में अनुभय वचनयोग भी है, जहां सत्य व असत्य की कोई कल्पना मायाचार या आर्जव भावपूर्वक न की जा सके। प्राकृतिक रूप में वचनों का प्रयोग हो वही अनुभय वचन है। इस अनुभय वचन के होते हुए भी आत्मा के प्रदेश परिस्पन्द होते हैं व कर्म आकर्षणकारक योग शक्ति काम करती है। द्वीद्रिय से पंचेन्द्रिय असैनी तक सबके अनुभय वचनयोग पाया जाता है। मन रहित के सत्य असत्य को कल्पना नही होती है। केवली अरहन्त की दिव्य ध्वनि भी अनुभय वचनयोग है।

केवली के भाव-मन सम्बन्धी संकल्प विकल्प नहीं होता है। कर्मोदय से प्रकृति रूप से वाणी खिरती है जैसे—सोते हुए प्रायः मानव बहकने लगते है। सैनी पंचेन्द्रियों के भी अनुभय वचनयोग होता है। जब कोई वाणी ऐसी हो कि जिसमें सत्य व असत्य की कोई कल्पना न हो जैसे अयाचिणी भाषा—यहाँ आज्ञा देना, याचनीय भाषा मुझे कुछ दीजिए, सूचनात्मक भाषा उसने यह सूचना की है आदि-आदि।

सम्यग्दृष्टी जीवो को भूमिका ज्ञानमई हो जाने से उनके सर्व ही योगों से जो आस्रव होता है वह संसारवर्द्धक नही है किन्तु मिथ्या दृष्टी जीवों की भूमिका अज्ञान से रंगी हुई होती है, इसलिए उनका कर्मास्रव संसारवर्द्धक सांपरायिक होता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरु से धर्मोपदेश सुनकर आत्मा अनात्मा का विवेक प्राप्त करता है। आत्मा को द्रव्य-दृष्टि से सिद्ध भगवान के समान परम शुद्ध ज्ञाता दृष्टा परमानंदमय निर्विकार परम

वीतराग, अमूर्तीक, असंख्यात प्रदेशी, गुणपर्यायवान, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक जैसा का तैसा जानता है। और यह भी समझता है कि वचनों से उनका स्वरूप सकेत रूप भाव कहा जाता है। जब इद्रियो को व मन को रोककर आप से आप मे ठहरा जाता है तब ही वह आत्मतत्त्व अपने अनुभव मे आ जाता है। इस शिक्षा को गाठ बाधकर वह भद्र जीव नित्य दो घड़ी एकांत मे बैठकर आत्मा अनात्मा का पृथक्-पृथक् विचार करता है। इस भेद विज्ञान के अभ्यास से एक दिन वह सम्यग्दर्शन गुण का प्रकाश कर लेता है तब वह यथार्थ मे स्वतंत्रता का दर्शन पाकर कृतकृत्य हो जाता है। वह सासारिक भूमि को उल्लघ कर मोक्षभूमि में चलने लगता है।

---

१०३. औदारिक काययोग

ज्ञानी आत्मा इस बात की पूर्ण ही उत्कठा कर चुका है कि आत्मा को स्वतत्र कर देना चाहिए। स्वतत्रता का बाधक आठ कर्मो का संयोग है। प्राचीन कर्म जो आत्मध्यान से हटाये जा सकते हैं। परन्तु नवीन कर्मों के आने को रोकने के लिए उन कारणो की जानना चाहिये जिससे कर्मों का आस्रव होता है।

पन्द्रह योगों मे औदारिक काययोग भी है। औदारिक शरीर के निमित्त से आत्मा के प्रदेशो का सम्बन्ध होकर योगशक्ति द्वारा कर्मों का ग्रहण होता है।

यह औदारिक काययोग निगोद एकेद्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तिर्यंचों के, सर्व मानवो के तेरहवे सयोगकेवलीजिन गुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है। कषाय मिश्रित योग सापरायिक आस्रव करता है। कषाय रहित योग केवल ईर्यापथ आस्रव करता है जिससे एक समय की स्थिति वाले सातावेदनीय कर्मों का ही आस्रव होता है।

मिथ्यादृष्टि मर्यादासक्त बहिरात्मा अज्ञानी जीवो का अभिप्राय मलीन व विषयभोगों की तरफ झुका होता है। वे आहार, भय, मैथुन,

परिग्रह संज्ञाओं से बाधित होकर अपना हित साधन करते हैं। वहाँ आत्महित कुछ भी नहीं होता है, इसलिए कषाय सहित औदारिक योग कषाय के प्रमाण से स्थिति अनुभाग बंध कराता है।

सम्यग्दृष्टी जीवो का भावानुराग स्वतन्त्रता की ओर होता है इससे वे संसार भ्रमणकारी बंध नही करते हैं। वीतरागी सम्यग्दृष्टियों के शुद्धिपूर्वक कषाय सहित औदारिक योग होता है जिससे अल्प बंध होना है। सराग सम्यग्दृष्टि के अशुभ-शुभ दोनो ही उपयोग समान हैं। तदनुसार बध होता है। मिथ्यात्व व अनतानुबधो कषाय के बिना ससार का कारण बध नही होता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरु से धर्म का उपदेश सुनकर संसार से भयभीत हो जाते हैं और संसारनाशक औषधि एक मुख्य सम्यग्दर्शन है ऐसा समझकर उसकी प्राप्ति का यत्न करते हैं। भेद-विज्ञान ही सम्यक्त्व हाने का उपाय है।

इसलिये वह प्रयत्न करके यह भावना निरन्तर करता है कि मैं आत्मा द्रव्य हूं, बिलकुल अकेला हूं, मेरा प्रदेश समूह अखण्ड है, मैं कभी बना नही, कभी बिगडने का नही। मेरा सम्बन्ध अनादि से अनन्तकाल तक मेरे ही ज्ञान, सुख, वीर्य, चारित्रादि गुणो से है। मैं इन गुणो को पीये बैठा हू, मै वास्तव में अपने गुणों का अभेद पिंडो हूं मेरे साथ पुद्गल का कोई सम्बन्ध नहीं है। पुद्गलमय ही सर्व पांचों शरीर है। रागादि वकार पुद्गल की कलुषता है। मैं पूर्ण वीतराग, व पूर्ण आनन्दमय हू। मुझसे सर्व अन्य आत्माए व अन्यरूप पांचो द्रव्य निराले है। मैं तो स्वरूप से परम शुद्ध हूं। मैं ही परम आत्मा हू, इस तरह ध्याते-ध्याले एक दिन आता है जब वह सम्यक्त्वी हो जाता है, तब जो आनन्द का अनुभव पाता है वह वचन अगोचर है। वह स्वतत्र होने का पूर्ण विश्वासी हो जाता है।

---

१०४. औदारिक मिश्र काययोग

ज्ञानी स्वतंत्रता का प्रेमी होकर उन सब कारणों को विचारता है जिनके कारण से यह ससारी जीव कर्मवर्गणाओं का आस्रव करके बंधन मे प्राप्त होता है।

१५ योगो मे औदारिक मिश्र काययोग भी है। यह तिर्यंच व मानवो को अपर्याप्त अवस्था मे चाहे श्वास मे १८ वार जन्म मरण कराने वाले लब्धपर्याप्त अवस्था में हो, चाहे शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होने तक निवृ त्यपर्याप्त अवस्था मे हो, प्राप्त होता है। एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल नही है। तेरहवे गुणस्थानवर्ती समुद्घात केवली को भी यह प्राप्त होता है। कार्माण शरीर से मिश्रित औदारिक शरीर को मिश्र कहते है। उसके निमित्त से आत्मा के प्रदेश चचल होकर योग-शक्ति के परिणमन द्वारा कर्मो का व नोकर्मो का आस्रव होता है। कषाय का उदय भी साथ-साथ पहले, दूसरे व चौथे गुणस्थान मे होने पर सांपरायिक आस्रव होता है। केवली के कषाय का उदय न होने पर ईर्यापथ आस्रव होता है। जिससे एक समय की स्थितिरूप साता-वेदनीय कर्म का ही आस्रव होता है।

मिथ्यादृष्टि जीव के अज्ञान व अनन्तानुबधी कषाय की भूमिका न होने से ससार के कारणीभूत बध होता है। सम्यग्दृष्टि के भीतर पूर्ण व यथार्थ तत्वज्ञान होता है व पूर्ण वैराग्य होता है वह सिवाय निजात्म स्वरूप लाभ के और किसी वस्तु को नही चाहता। उसका योग परिण-मन कर्मोदय से उसकी वाछा विना होता है अतएव वह अल्प स्थिति व अनुभाग सहित कर्मों का बध करता है।

भद्र मिथ्यादृष्टि जीव कर्मास्रव के निरोध का उपाय एक सम्य-क्त्व का लाभ है ऐसा श्री गुरु परम दयालु से सुनता है तब वह संसार के भ्रमण से भयभीत होकर भेदविज्ञान की भावना भाता है कि मैं द्रव्य-दृष्टि से सिद्ध भगवान के समान शुद्ध हूं। भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म

ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि से सर्वथा निराला हूं। मैं अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त सुख, परम शुद्ध चारित्र, परम शुद्ध सम्यक्त्व आदि सर्व ही शुद्ध गुणों का एक अमिट व अखंड भंडार हूं। इस प्रकार के सतत मनन से वह एक समय में सम्यक्त्वबाधक कर्मों का उपशमन करके सम्यग्दर्शन गुण का प्रकाश कर देता है, अन्धकार से प्रकाश में आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का भोग पाकर परम कृतार्थ हो जाता है।

---

१०५. वैक्रियिक काययोग

ज्ञानी आत्मा परतन्त्रताकारक कर्मबंधनो के द्वार को रोकना चाहता है। नव योगो में वैक्रियिक काय योग भी है। देव व नारकी पर्याप्त अवस्था मे वैक्रियिक शरीर के आलम्बन से अपने आत्मा के प्रदेशो को सकम्प करते हुए योग शक्ति की प्रबलता या मंदता के अनुसार कर्म व नोकर्मवर्गणाओं के आकर्षण करके स्वयं अपने आत्मा के बाधक बन्धनो को दृढ़ करते हैं। जहां तक कषायों का औदायिक भाव रहता है वहां तक कर्मों का संचय होता है। सम्यग्दृष्टि देव व नारकी नही चाहते कि राग द्वेष करना पड़े। वे तो एक ज्ञान चेतना के सुन्दर वीतराग आसन् पर निश्चित तिष्ठ करके परमानन्द का भोग करना चाहते हैं। सर्व सांसारिक पर्यायों को वे तुच्छ, हेय, व अनर्थकारी देखते हैं। उनको एक मात्र लो सिद्ध पदवी पर रहती है। तथापि रोगी मानव को न चाहते हुए भी जैसे रोग की वेदना सहना व उसका इलाज करना पड़ता है वैसे सम्यग्दृष्टी तत्वज्ञानियों को न चाहते हुए भी कषाय रोग की वेदना सहनी पड़ती है व उपाय करना पड़ता है। अतएव वैक्रियिक योग से वर्तन करते हुए क्रीड़ादि करते हुए अल्प स्थिति अनुभाग को लिए हुए कर्मों का बन्ध करते हैं।

जब कि मिथ्यादृष्टी देव विषयों को पाकर परम सन्तोष मानते हैं। अनन्तरागी हो भोग करते हैं। इष्ट पदार्थ के वियोग में महान्

शोक करते हैं। संसारासक्त होने से दीर्घ स्थिति व तीव्र अनुभागवाले पापकर्म बांधते हैं। नारको मिथ्यादृष्टी विषयों की कामना से रात-दिन आतुर रहते हुए इष्ट वस्तु न पाकर सतापित रहते हैं व संक्लेश परिणामो से तीव्र कर्मबध करते हैं।

भद्र मिथ्यादृष्टी, श्रीगुरु से कर्म के छेदन को कुल्हाड़ों के समान प्रज्ञा की प्राप्ति कर लेता है। एकात मे बठकर मनन करता है कि मैं तो केवल एक शुद्ध ग्रात्म द्रव्य हू। मैं ज्ञायक भी हू, ज्ञेय भी हूं, मैं अपनी ही शुद्ध परिणति का ही कर्त्ता हू व अपने ही वीतराग विज्ञानमय धर्म से प्रकाशित अपने हो अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता हूं। मैं पुद्गल से कोई सम्बन्ध नही रखता हू, अतएव ज्ञानावरणादि कर्म निराले हैं, शरीरादि नोकर्म निराले है, रागद्वेषादि भावकर्म निराले है व सर्व अन्य आत्माएं व धर्माधर्माकाशकाल चार अमूर्तिक द्रव्य ये सब निराले है। इद्रियजन्य सुख असन्तोषकारी हैं, तृष्णावर्द्धक हैं, विषके समान त्याज्य हैं। ऐसी भावना करने से यह करणलब्धि को पाकर अनन्तानुबधी कषाय व मिथ्यात्व कर्म का उपशम करके सम्यग्दृष्टी हो जाता है, स्वतत्रता का स्वामी बन जाता है, सिद्धपद को अपने मे ही देखकर परम सन्तोषी हो जाता है।

---

१०६. वैक्रियिक मिश्र काययोग

ज्ञानी जीव कर्म-शत्रुओ के बाहर करने का निश्चय कर चुका है। उसके उपायो को ध्यान मे लेते हुए उसका आगमन रोकना जरूरी है। कर्मों के आस्रव के कारण ५७ आस्रव है। उनमें १५ योग भी हैं।

वैक्रियिक मिश्र काय योग भी देव व नारकियों को निवृत्य पर्याप्तक अवस्था में आत्मा के प्रदेशों को सकम्प कराने में निमित्त कारण है। जब आत्मा के भीतर हलन चलन पैदा होती है तब योग

शक्ति का काम होता है। वह शक्ति कर्मवर्गणाओं नोकर्मवर्गणाओं को आकर्षण करती है। योगों के साथ कषायों की कलुषता भी होती है। इससे स्थिति व अनुभाग बन्ध पड़ जाते हैं। सम्यग्दृष्टी देव व नारकियो के भी इस प्रकार के योग से कर्मों का आस्रव होता है। उन ज्ञानियों के भीतर पूर्ण सम्यग्ज्ञान व पूर्ण वैराग्य रहता है। उनकी भूमिका ज्ञान-चेतना से निर्मापित है। वे निरन्तर इस धारणा ज्ञान से विभूषित रहते हैं कि मैं तो एक केवल शुद्ध आत्मा द्रव्य हू। मेरा सम्बन्ध न तो किसी जीव से है न पुद्गल के किसी भी तरह के परमाणु से है। वे असयंत गुणस्थान सम्बन्धी भावों को रखते हुए मंद कषाय के कारण अल्प स्थिति व अनुभाग का बन्ध करते हैं। आत्मा के स्वभाव के घातक ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्म हैं। इनका बहुत थोड़ी स्थिति का व मन्द अनुभाग पड़ता है। वह सम्यग्दर्शन गुण के प्रकाश की महिमा है।

मिथ्यादृष्टी देव नारकियो को भी यह काययोग होता है। उनकी भूमिका अज्ञान चेतना से मलीन है। वे निरन्तर-कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतना में फसे रहते है। वे परमुखी होते हैं, प्राप्त पर्याय मे आसक्त होते है। इसलिए तीव्र कषाय के कारण घातीय कर्मों में स्थिति व अनुभाग अधिक प्राप्त करते हैं। भद्र मिथ्यादृष्टी जीव किसी आत्मज्ञानी गुरु से यह मत्र सीख लेता है जिस मत्र के मनन से मिथ्यात्व कर्म व अनन्तानुबधी कषाय का बल क्षीण किया जावे। यह एक भेद-विज्ञान है। वह मुमुक्षु इसलिये नित्य ही एकात में बैठकर मनन करता है कि मै तो एक शुद्ध आत्मा द्रव्य हूं। कार्माण, तैजस व औदारिक शरीर से केवल सयोग सम्बन्ध है। रागादि विकार मोहनीय कर्म का मल है। मैं तो सिद्ध भगवान के समान शुद्ध हूं। सर्व ही पर-कृत भावो से शून्य हूं। ज्ञान, चारित्र व आनन्द का सागर हूं। इस तरह बिना स्वरूप पर प्रेम करने से व पर स्वरूप से उदास रहने से एक समय आ जाता है कि जब सम्यक्त्व घातक कर्म दबाता और

सम्यक्त्व गुण का प्रकाश हो जाता है। स्वतंत्रता का बीज मिल जाता है।

---

१०७. आहारक काययोग

ज्ञानी आत्मा पूर्ण स्वतन्त्रता का चाहने वाला है। परतंत्रता-कारक कर्मबन्धनो का सम्बन्ध बिलकुल नही चाहता है। उसको जैसे पापकर्म शत्रु दीखते है वैसे ही पुण्यकर्म। वह शुभ योगो से भी वैसे ही उदास है जैसे अशुभ योगो से। इन योगो मे आहारक काय योग भी है। यह प्रमत्तविरत नामक छठे गुणस्थानवर्ती साधु के उस समय होता है जब उसने आहारक ऋद्धि की प्रगटताकारक पुण्य कर्म का बन्ध, सातवे व आठवे गुणस्थान मे कर लिया हो। इस शक्ति के प्रताप से साधु एक हाथ प्रमाण पुरुषाकार पुतला आहारक वर्गणाओ से बनाता है, जो मस्तक से आत्मा के प्रदेशों को लिये हुए फैलकर निकलता है। मूल शरीर को न छोड़ते हुए आत्मा के प्रदेशो की डोर को लिए हुए वह शरीर ढाई द्वीप भर मे किसी अरहत के या श्रुत-केवली के दर्शनार्थ जाता है। यदि केवली या श्रुतकेवली का समागम उस काल मे नही हुआ तो फिर दूसरा पुतला उससे बन जाता है। अंतर्मुहूर्त के भीतर व लौटकर खिर जाता है। प्रदेश मूल शरीरप्रमाण हो जाते है।

इस काल मे आहारक योग होता है। आहारक शरीर के निमित्त से आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं। योगशक्ति तब कर्म व नोकर्म को ग्रहण करती है। घातीय कर्मों का बन्ध तो इस पुण्यमय आहारक योग के समय मे भी होता है। सम्यग्दृष्टी जीव शुद्धात्मा के अनुभव मे बाधक समझ कर इस कर्म के बन्ध योग्य योग व कषाय को भी नहीं चाहता है। यह मिथ्यादृष्टी जीव भी पूर्ण स्वतंत्रता का प्रेमी होकर श्री गुरु से कर्मशक्ति दमनकारक मन्त्र सीखकर उस मन्त्र का

बारबार मनन करता है कि मेरा आत्मा स्वभाव से पूर्ण ज्ञान, दर्शन सुख, वीर्य का धनी परम अमूर्तीक सर्व विकारी भावों से शून्य परम वीतराग है, सिद्ध के समान है। यही ईश्वर परमात्मा परब्रह्म परम शान्त व परम शुद्ध सर्व पाप व पुण्य कर्मों से अलिप्त है। सांसारिक इंद्रियजन्य सुख त्यागने योग्य है, व परम आत्मीक अतीन्द्रिय सुख ही ग्रहण योग्य है। इस शुद्ध भावना के प्रताप से वह सम्यग्दर्शन का प्रकाश पा लेता है, तब अपने को कृतकृत्य समझकर परम संतोषी हो जाता है, तब से स्वतन्त्रता के पथ पर चलकर उन्नतिशील रहता है व सदा ही आनन्द का अनुभव करता है।

---

१०८. आहारक मिश्र काययोग

ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि आत्मा की स्वतंत्रता यद्यपि आत्मा ही के पास है तथापि जब तक इसके साथ पर पदार्थ का संयोग है तब तक स्वतंत्रता के विकास मे भारी बाधा खड़ी हो रही है। कर्म-पुद्गलों मे भी अचिंत्य शक्ति है। ससार अवस्था मे कर्म व आत्मा का परस्पर ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि कर्म के फल से आत्मा के भाव बिगड़ जाते हैं व भावो के विकार से कर्म बँध जाते हैं, जो उदय में आकर कटुक फल प्रगट करते हैं। पुरुषार्थ के द्वारा कर्म के बल को घटाया जा सकता है। व कर्म के बंध के कारणों को रोका जा सकता है।

कर्मों के आस्रव के कारण १५ प्रकार के योग हैं उन्हीं में एक आहारक मिश्रकाय योग है। आहारक ऋद्धिधारी प्रमत्त संयमी साधु जब आहारक शरीर बनाते हैं उसके बनने में कुछ काल एक अंतर्मुहूर्त लगता है। उतनी देर तक आहारक मिश्रकाय योग होता है। आहा-रक के साथ औदारिक मिश्रण होता है। जब तक आहारक शरीर न बने इस मिश्रकाय के द्वारा आत्मा के प्रदेश सकंप होते हैं तब योग-

शक्ति काम करती है। कर्म व नोकर्मवर्गणाओं को खींचती है। इस समय शुभोपयोग होने से कर्म का बन्ध भी साधु के होता है। अघातीय में पुण्य प्रकृति व घातीय मे पाप प्रकृतियो का बन्ध होता है। यह भी योग परतन्त्रता का कारण है, इसलिए त्यागने योग्य है। निश्चल स्वभाव मे रहकर निजात्मानन्द का उपभोग आत्मा की स्वतन्त्रता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्रीगुरु के द्वारा बध व मोक्ष के स्वरूप को समझकर बध से उदासीन व मोक्ष से प्रेमालु हो जाता है। तब यह श्रीगुरु से बध के निरोध का व बन्ध के छेद का उपाय सीख लेता है। वह उपाय यही है कि भेदज्ञानपूर्वक अपने ही आत्मा का मनन किया जावे व नित्य एकात मे बैठकर विचारा जावे कि मेरा आत्मा एक निराला सत् पदार्थ है। अपने ही शुद्ध गुणो का व अपनी ही शुद्ध पर्यायो का समूह है। यह अपने गुणो से अभेद है। इसके ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुण इसकी अपूर्व महिमा को झलकाते है। मै सदा ही शुद्ध हूं, एक हू, परम वीतरागी हू। यही भावना सम्यक्त्व घातक कर्म का रस सुखाती है और एक समय आता है जब सम्यक्त्व गुण प्रगट कराकर आत्मा को स्वतत्र पथगामी बना देती है।

---

१०६. कार्माण काययोग

ज्ञानी आत्मा अपना स्वतत्रता को पाने के लिए परतन्त्रताकारक कार्यों के आस्रव से अपने को बचाना चाहता है। इसलिये आस्रव के कारणो का विचार करता है। १५ योगो मे कार्माण योग भी है। कार्माण शरीर के निमित्त से आत्मा के प्रदेशो के सम्यक्त्व होने को कार्माण योग कहते हैं। तब योगशक्ति कर्मों को व तैजस वर्गणाओ को विग्रह गति में आकर्षण करती है। केवली भगवान जब केवलि समुद्घात करते हैं तब प्रतर द्वय और लोकपूर्ण तीन समय तक कार्माण योग

रहता है। केवली के कषायों का उदय नहीं है, इससे ईर्यापथ आस्रव होता है। विग्रह गति में मिथ्यात्व, सासादन व अविरत सम्यक्त्व ऐसा पहला दूसरा व चौथा गुणस्थान होता है, तब जिन कषाय सहित परिणामो को लिये हुये जीव होते हैं उन परिणामों से कर्मों का आस्रव होता है। रागद्वेष मोह भाव को चिकनाई जब तक है तब तक कर्मों का बंध हुआ करता है, परतंत्रता का जाल बनता रहता है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी के भीतर मिथ्यादर्शन का मैल नहीं होता है, इससे उसका मोक्ष मार्ग से गमन रुकता नहीं है मिथ्यादृष्टी का संसार बढता जाता है।

भद्र मिथ्यादृष्टी जीव श्री गुरु से कर्मास्रव निरोधक व कर्मछेदक मंत्र सीख लेता है। उसका नित्य मनन करता है। वह मंत्र यही है कि आत्मा का स्वभाव निश्चय से परम शुद्ध, ज्ञानदर्शन गुणो से पूर्ण, परम वीतराग, परमानंदमय, अविकारी है। इसके साथ पुद्गल का सयोग सम्बन्ध होते हुये भी जैसे धान्य से चावल अलग है, तिल की भूसी से तेल अलग है, सुवर्ण से रजत अलग है, काष्ठ से अग्नि अलग है, पानी से दूध अलग है, इसी तरह आत्मा का स्वभाव पुद्गल से व रागद्वेषमई विकारों से व सर्व प्रकार के गुणस्थानादि से अलग है। जो कोई इस आत्मा के स्वभाव का बारबार मनन करता है, आत्मा का परम प्रेमी हो जाता है। संसार से उदास हो जाता है। वह मन्द कषाय से प्राप्त विशुद्धता के बल से अनन्तानुबंधी कषाय व मिथ्यात्व का बल घटाते-घटाते एक दिन उनका शमन करके सम्यग्दृष्टी हो जाता है तब अपने को परम कृतार्थ समझकर सन्तोषी हो जाता है और सच्चा सुख पैदा करता है।

---

११०. प्रकृति बन्ध

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता की प्राप्ति का प्रेमी होकर कर्मों के आस्रव द्वारा कोई विचार करके उनसे उदास हो गया है। मिथ्यात्व

पांच प्रकार, अविरति बारह प्रकार, कषाय पच्चीस प्रकार, योग १५ प्रकार। इस तरह ५७ आस्रव द्वार हैं। ये ही कर्मबन्ध के भी कारण हैं। भावास्रव व भावबन्ध में कोई अन्तर नही है। क्योंकि जो समय कर्मों के आस्रव का है वही समय कर्मो के बन्ध का है। जिस गुणस्थान में जहां तक बंध है व बन्ध व्युच्छित्ति है वही तक आस्रव है व आस्रव व्युच्छित्ति है। आगे पीछे का समय नही है।

जिस समय कर्म वर्गणाए खिचकर बंधती हैं, तब चार प्रकार का बंध एक साथ होता है। कर्मों में प्रकृति या स्वभाव का प्रगट होना प्रकृति बन्ध है। कितने काल तक उनकी कर्मरूप प्रकृति बनी रहेगी सो स्थितिबन्ध है। कर्मों के भीतर तीव्र या मद फल दान शक्ति पाना अनुभाग बंध है। किस कर्म प्रकृति की कितनी कर्म वर्गणाएं बधी सो प्रदेश बन्ध है। प्रकृतिबन्ध में मूल आठ प्रकार का स्वभाव विचारना चाहिये। चार स्वभाव तो ऐसे हैं जो आत्मा के गुणो को ढँकते हैं, प्रगट नहीं होने देते। उन कर्मप्रकृतियों को घातीय कर्मप्रकृति कहते हैं। चार स्वभाव आत्मा के गुणों को विकारी नही बनाते हैं परन्तु आत्मा के लिये बाहरी सामग्री शरीरादि का सम्बन्ध अच्छा या बुरा मिलाते है, उनको अघातीय कर्मप्रकृति कहते हैं।

ज्ञान को ढँकने वाला ज्ञानावरण कर्म है। दर्शन को ढँकने वाला दर्शनावरण कर्म है। सम्यग्दर्शन या आत्मप्रतीति या वीतराग चारित्र को रोकने वाला मोहनीय कर्म है। आत्मा के अनंत-बल को ढँकने वाला अन्तरायकर्म है। ये ही चार घातीयकर्म हैं। जितना उनका परदा हटा होता है उतना आत्मीक गुण प्रगट रहता है। स्थूल शरीर मे कैद रखने वाला आयु कर्म है। शरीर की रचना बनाने वाला नाम कर्म है। किसी कुल में डालने वाला गोत्र कर्म है। साता व असाता-कारी पदार्थ का अनुभव कराने वाला वेदनीयकर्म है।

इन मूल प्रकृतियो के द्वारा ही संसारी जीव भवभ्रमण में कष्ट उठाते रहते हैं। इनके बंध का मूल प्रबल हेतु मिथ्यात्व भाव है।

इसलिए भद्र मिथ्यादृष्टि जीव भेद विज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को बिलकुल एकाकी शुद्ध ज्ञातादृष्टा अविनाशी, परमात्मा रूप, परमानंद-मय ध्याता है। बार-बार आत्मा के मनन से मिथ्यात्व का व चार अनंतानुबंधी कषायों का बल क्षीण होता है और यकायक सम्यग्दर्शन ज्योति का प्रकाश हो जाता है तब उस ज्ञानी को आत्मा का साक्षात्कार हुआ करता है। वह स्वतंत्रता यात्री हो जाता है।

---

१११. स्थितिबंध

ज्ञानी आत्मा परतंत्रता कारक बंध का स्वरूप विचार रहा है। स्थितिबंध उस काल की मर्यादा को कहते हैं जो कर्म प्रकृतियों में प्रकृति रूप बने रहने को होता है। जब काल की स्थिति समाप्त हो जाती है तब वह बंध प्राप्त कर्म अपनी प्रकृति के स्वभाव को छोड़ कर केवल अबंधकर्म वर्गणाओं के रूप में ही रह जाते हैं।

एक समय कभी आठों कर्मों का, कभी आयु बिना सात कर्मों का बन्ध नौवें गुण स्थान तक होता है। हर एक समय जितनी मूल व उत्तर प्रकृतियों का बन्ध होता है उनके लिए कर्मवर्गणाओं की संख्या नियत होती है। योगों के द्वारा कम व अधिक वर्गणाएं आकर्षित होकर आती हैं। जिस कर्म प्रकृति की जितनी वर्गणाएं बन्धती हैं उनमें कषायों की तीव्रता व मंदता के अनुसार स्थिति पड़ती है। उस स्थिति के अनुरूप आबाधाकाल होता है। एक कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति पर सौ वर्ष का आबाधा काल होता है। इसी हिसाब से कम स्थिति का कम व अधिक स्थिति का अधिक आबाधाकाल होता है। आबाधाकाल पकने के काल को कहते हैं। तब तक बन्ध प्राप्त कोई वर्गणाएं नहीं गिरतीं। आबाधाकाल के पूरे होने पर आबाधाकाल रहित जितनी स्थिति बन्धती है उस स्थिति के समय में वर्गणाएं बंट जाती हैं। पहले अधिक फिर कम-कम होते हुए अंतिम स्थिति के समय

में सबसे कम वर्गणाएं झड़ती हैं। इसलिए अंतिम समय में झड़ने वाली वर्गणाओं की स्थिति बन्ध के समय उतनी पड़ती है। पहले झड़ने वाली वर्गणाओं की एक एक समय कम मर्यादा समझनी चाहिए। यदि कोई परिवर्तन न हो तो स्थिति के समयो मे बटवारे के अनुसार वर्गणाएं गिरती रहेंगी। अनुकूल सामग्री होने पर फल देकर नहीं तो बिना फल दिए झडेगी।

आयु कर्म के सिवाय सातों ही कर्मो मे कषाय की तीव्रता से अधिक व मंदता से कम स्थिति पडती है, चाहे पुण्य प्रकृति हो या पाप प्रकृ त हो। आयुकर्म का हिसाब यह है कि नर्क आयु की स्थिति तीव्र कषाय से अधिक व मन्द कषाय से कम पड़ती है। परन्तु तिर्यंच, मनुष्य व देव आयु की स्थिति मद कषाय से अधिक व तीव्र कषाय से कम पड़ती है। कषाय भावो के ही कारण कर्मों का ठहरना होता हैं। कषाय ही स्थितिबध के लिए निमित्त कारण है।

कषाय रहित जीवो के न ठहरने वाला ईर्यापथ आस्रव होता है। कषाय आत्मा के शत्रु है।

भद्र मिथ्यादृष्टी को श्री गुरु के प्रताप से कषाय व मान का उपाय हाथ लग जाता है। वह भेद विज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को शुद्ध, निष्कषाय, परमानंद द्रव्य मानकर निरन्तर मनन करता है। शुभ अशुभ सर्व मंद व तीव्र कषाय के भावों को कर्म विकार समझ कर उनसे वैरागी हो जाता है। इसी आत्ममनन से वह एक सम्यग्दर्शन को पाकर परम कृतार्थ हो जाता है, स्वतंत्रता का द्वार खोल लेता है।

---

११२. अनुभाग बन्ध

ज्ञानी आत्मा परतन्त्रताकारक कारणों का बार बार विचार करके उनसे बचने की भावना करता है।

चार प्रकार बंध में जो एक ही साथ योग और कषायो के

अनुसार होता है। अनुभाग बंध उसे कहते हैं जिससे बंधती हुई कर्म-वर्गणाओं में तीव्र मंद फलदान शक्ति पडती है। जैसे चावल पकते हुए अपने भीतर तीव्र या मंद स्वाद रखते हैं। कषायो के भीतर जिन अंशों से स्थिति पड़ती है उनको स्थितिबन्ध अध्यवसाय स्थान कहते हैं व जिन कषायों के अंशों से उन कर्मों मे रस पड़ता है उनको अनुभाग-बन्ध अध्यवसान कहते हैं। घातीय चार कर्मों में रस प्रदान के चार दृष्टांत हैं—लता रूप अर्थात मंदतर, दारु या काष्ठ रूप अर्थात् मंद, अस्थि या हड्डी रूप या तीव्र, पाषाण रूप अर्थात् तीव्रतर। अघातीय पाप प्रकृतियों मे रस प्रदान के भी चार उदाहरण हैं। नीम, कांजीर, विष, हालाहल के समान मंदतर, मंद, तीव्र, तीव्रतर कटुक।

अघातीय पुण्य प्रकृतियों में रस के चार दृष्टांत हैं। गुड़, खांड, शक्कर व अमृत के समान मंदतर, मद, तीव्र, तीव्रतरमिष्ट।

जिन वर्गणाओं में जैसा रस पड़ता है वैसा उनका अच्छा या बुरा फल प्रगट होता है। मद कषायो के होने पर घातीय चार कर्मों में और अघातीय पापरूप कर्मों में मंद अनुभाग व तीव्र कषायों के होने पर उनमें तीव्र अनुभाग पड़ता है। किन्तु अघातीय पुण्य रूप कर्मों में मन्द कषायों के निमित्त होने पर तीव्र व तीव्र कषायों के द्वारा मंद अनुभाग पडता है। कषायो का दमन ही बन्ध छेद का व बंध के निरोध का एक मात्र उपाय है।

जैसे तप्त शरीर शीतल जल के भीतर अवगाह पाने से शांत हो जाता है वैसे कषायाविष्ट जीव परम शांत आत्मा के स्वभाव के भीतर मगन होने से शात व वीतराग हो जाता है। यही वीतराग परिणति सत्ता में बैठे कर्मों की शक्ति को बदल देती है। इसलिये भद्र-मिथ्यादृष्टि जीव एकांत में बैठकर एकमात्र शुद्ध नय के द्वारा अपने आत्मा को निरंजन, निर्विकार, परमानन्दमय, ज्ञातादृष्टा, शुद्ध ज्ञाता है। इसी भावना में निरत होने से वह अपने सम्यक्त्व गुण का प्रकाश

पा लेता है। आत्मानुभव की कला मिल जाती है, स्वतंत्र होने की युक्ति हाथ में आ जाती है। वह अपने कर कृतार्थ मान कर परम सन्तोषी हो जाता है।

---

११३. प्रदेश बंध

ज्ञानी आत्मा परतन्त्रता के निवारण के लिये कर्मबन्ध से बचने की भावना भाता है। चार प्रकार के बंध में प्रदेश बंध भी है। आत्मा के प्रदेशों में सर्वत्र पूर्व बंधे हुये कर्मों का सयोग कार्माण शरीर रूप में रहता है। यह कार्माण शरीर सर्व आत्मा के प्रदेशों मे व्याप्त रहता है। नये कर्मों का बंध इस ही कार्माण शरीर के साथ हो जाता है। जितनी कर्मवर्गणाओं का बध होता है उस संख्या को नियुक्ति को प्रदेश बंध कहते हैं।

एक समयप्रबद्ध मात्र कर्मवर्गणाये समय-समय आती है। वे संख्या में अनन्त होता हैं। अनन्त के अनन्त भेद होते हैं। योगशक्ति के मन्द होने से समयबद्ध कम सख्या का व योगशक्ति के तीव्र होने पर समय प्रबद्ध अधिक सख्या का आता है। निगोदिया लब्ध्यपर्याप्त जीव कर्मवर्गणाओं को ग्रहण करता है। एक ध्यानारूढ योगी साधु के योगबल अधिक होता है तब उसके अधिक संख्या का समय प्रबद्ध बन्धता है। एक समय में बांधे हुए कर्म आठ मूल कर्मों में या कभी सात मूल कर्मों में बंठ जाते हैं।

यदि आठ कर्मो का बन्ध हो तो सबसे अधिक बंटवारा वेदनीय-कर्म में आएगा। उससे कम मोहनीय कर्म में। उससे कम ज्ञानावरण में उतना ही दर्शनावरण में। उससे कम अन्तराय कर्म में। उससे कम गोत्रकर्म मे। उतना ही नाम कर्म में। सबसे कम आयु कर्म में बंट-वारा जायगा।

गोम्मटसार कर्मकांड में प्रदेश बंध का जानने योग्य वर्णन लिखा है। कम कर्मप्रकृति बाधने वाले कम कर्मों का संचय करते हैं। अधिक

प्रकृति बांधने वाले अधिक। क्योंकि उनके योगशक्ति हीन होती है। योगों का काम तेरहवें सयोग केवली गुणस्थान तक होता है। वहां पर अनंत कर्मवर्गणाएं आती हैं। परन्तु एक समय पीछे झड़ जाती है।

बन्ध हानिकारक ही है ऐसा विचार कर भद्र मिथ्यादृष्टी जीव बंध के नाश का मंत्र श्री गुरु से सीख लेता है। वह मंत्र मात्र एक भेदविज्ञान है। मैं एक आत्मा अखड, अविनाशी, पूर्णज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्रादि शुद्ध गुणो का स्वामी हू। मैं ही परमेश्वर, परमात्मा, परम निरंजन, प्रभु, परम शांत, परम कृतकृत्य, परभाव का अकर्ता व अभोक्ता हूं। मैं आठो कर्मों से व राग द्वेषादि भावकर्मों से व शरीरादि नोकर्मों से बिलकुल निराला हूं।

इस तरह जो अपने आत्मा का मनन करता है उसका दर्शनमोह क्षीण होने लगता है। वह कषायों का रस सुखाता है। यह एक दिन सम्यग्दर्शन को पाकर मोक्षमार्गी हो जाता है। तब स्वतंत्रता का पथ साक्षात्कार कर लेता है। जो मात्र शुद्धात्मानुभव रूप है, यही परमानन्द पद परम हितकारी है। जो इसे पाता है वही परम धनी हो जाता है।

---

११४. सम्यग्दर्शन संवरभाव

स्वतन्त्रता प्रेमी स्वतंत्र होने का उपाय विचार है। कर्मों के आस्रव व बन्ध के सम्बन्ध मे मनन करके अब यहां संवरका विचार करता है। जिन भावो से कर्मों का आस्रव व बंध रुकता है, उन भावों को सवर भाव कहते हैं। उस भाव सवर से जिन कर्म प्रकृतियों का आस्रव व बंध रुकता है उनके रुकने को द्रव्य संवर कहते हैं। सबसे महान संवरभाव एक सम्यग्दर्शन है। यह आत्मा का अभिन्न गुण है। यह एक ही प्रकार का है परन्तु मलीनता व शिथिलता की अपेक्षा इस सम्यक्त्व के तीन भेद हैं। परम निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व है, जहां

सम्यक्त्व विरोधी चार अनन्तानुबन्धी कषाय का व दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियो का कर्मद्रव्य सत्ता में से निकल जाता है। उपशम सम्यक्त्व निर्मल तो है परन्तु शिथिल है। यहा सातों प्रकृतियों का उपशम केवल एक अन्तर्मूहूर्त मात्र रहता है। फिर उज्वलता कम हो जाती है या बिलकुल जाती रहतो है। तीसरा क्षयोपशम या वेदक सम्यक्त्व है। यहा छ: प्रकृतियो का उदय नही होता है किन्तु एक सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होता है जिससे शंका, कॉक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा अन्यदृष्टिसस्तव ऐसे पाँच तरह के अतीचार लगते हैं। तीनो ही प्रकार के सम्यक्त्व चौथे अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान मे हो सकते हैं। इस सम्यक्त्व की ज्योति के प्रकाश से ज्ञानी को अपना आत्मा सदा ही शुद्ध व मुक्त अनुभव मे आता है।

वह ज्ञानो जगत के कर्मों का व कर्म के उदय का साक्षोभूत रहता है मन वचन काय की किसी भी क्रिया का स्वामी अपने को नही मानता है। वह जब चाहे तब आत्मस्थ होकर आत्मानन्द का स्वाद लेता रहता है, भोतर से परम वैरागो होता है, चारित्रमोहनीय कर्म के उदयवश व्यवहार कार्य करता है। भावना यह रहती है कि कब वह कर्मरोग मिटे, कब मैं कर्म के विषयभोग से छूटू। ऐसा भाव-धारी गृहस्थ युद्ध व विषयभाग व नीति कार्य करता हुआ भी ऐसा महात्मा होता है कि अपनी भीतरी भूमिका में ४६ कर्म प्रकृतियो को नही आने देता है। बन्ध योग्य १४८ में से १२० प्रकृति गिनी गई हैं। क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमोहनीय दो का ही बन्ध नही होता है। पाँच बन्धन, पाँच संघात पांच शरीरों में गर्भित हैं। बीस वर्णादि में चार गिने जाते हैं, सोलह नही। इस तरह २८ घटाकर १२० बंध में रह जाती हैं। सम्यक्त्वी ४१ प्रकृतियो का बन्ध नही करता है। १ मिथ्यात्व + ४ अनन्ता० कषाय+सम० सिवाय ५ पाँच संस्थान + वज्रवृषभ नाराच सहनन सिवाय ५ पाँच संहनन+४ जाति एकेन्द्रिय से चौइन्द्रिय तक + २ षंड० व स्त्री वेद + ४ स्त्यानगृद्धि आदि

निद्रा + १ स्थावर + १ सूक्ष्म + १ साधारण + १ अपर्याप्त + नरक-गति व गत्या० + २ तिर्यंच गति व गत्या० + २ नारक व तिर्यंच आयु + १ दुर्भग + १ दुस्वर + १ अनादेय + १ उद्योत + १ आताप + १ नीच गोत्र + १ अप्रशस्त विहायोगति = ४१। आहारक २ का बंध यहाँ नहीं होता तब १२०—४३ = ७७ प्रकृतियो का बध हो होता है। यह कथन नाना जीवों की अपेक्षा से है। एक जीव की अपेक्षा चौथे गुणस्थान मे ६४, ६५ या ६६ का बध होगा। ५ ज्ञान + ६ दर्शन + १ वेदनीय + १७ मोहनीय + १ आयु + १ गोत्र + ५ अंतराय + नामकी २८, २९ या ३० = ६४, ६५ या ६६।

यह सम्यक्त्वी कुगति को नही बाँधता है। धन्य है सम्यक्त्व जिसके प्रताप से आस्रव का निरोध होता है और अपने आत्मप्रभु का दर्शन अपने देह-मंदिर मे सदा होता है। यह सम्यक्त्वी परम सन्तोषी रहता है। यह मुक्ति-कन्या का मुख सदा देखकर प्रसन्न रहता है।

---

११५. देशविरत संवर भाव

ज्ञानी आत्मा संवर तत्व का विचार कर रहा है। दूसरा संवर भाव देशविरत है। यहाँ पाँचवे गुणस्थान मे श्रावक होकर बाहरी पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतो को पालता है व व्यवहार चारित्र का विभाग दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्ताहार त्याग, रात्रि-भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रह त्याग, अनुमति त्याग, उद्दिष्ट त्याग, इन ग्यारह प्रतिमाओ या श्रेणियों में करके यथाशक्ति पालता है। इस सब चारित्र को केवल निर्मम कारण मानता है।

उपादान साधन एक आत्मानुभव को ही झलकाता है। इसलिये उसका अभ्यास बढ़ाता है। इस गुणस्थान में १० प्रकृतियों का संवर कर देता है। अप्रत्याख्यान चार कषाय + वज्रवृषभ नाराच संहनन +

औदारिक शरीर + औ० अंगोपांग + मनुष्यायु + मनुष्यगति + मनुष्य + गत्यानुयोग = १० ।

चौथे गुणस्थान मे ७७ का बंध होता था, यहाँ केवल ६७ का ही होता है । यह बंध नाना जीवापेक्षा है । एक जीव की अपेक्षा देश-विरत भावधारी मनुष्य या तिर्यंच ६० या ६१ का ही बन्ध करता है । अर्थात ज्ञा० ५+दर्शन ६ + वेदनीय १ + मोहनीय २३ + आयु १ +नाम कर्म की २८ या २९+गोत्र १ + अन्तराय ५=६० या ६१ ।

वास्तव मे जितना मोह कर्म का उदय है वह औदयिक भाव ही बन्ध का कारण है । संवर भाव तो वह निर्मलता है जो रत्नत्रय धर्म के अभ्यास से प्राप्त है । स्वानुभव की ज्योति ही संवर तत्व है । उसके आलबन से ही यह श्रावक मोक्षमार्गी हो रहा है । यह बड़ा उद्योगी है । सविकल्प ध्यान से निर्विकल्प ध्यान में चढ़ता रहता है । यह मनन करता है कि मैं एकाकी शुद्ध आत्मा द्रव्य हू, मेरा संयोग किसी परद्रव्य से नही है । न ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से न शरीरादि नोकर्मो से न रागादि भाव कर्मों से कोई सम्बन्ध है । मै ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र आदि अपने से न कभी छूटने वाले गुणों का अटूट व अत्यन्त भण्डार हू, परम कृतकृत्य हू, अपने ही आत्मा की शुद्ध परिणति का कर्ता हू व शुद्ध अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता हू । इस तरह मनन करते हुए वह यकायक एक अद्‌भुत अनिर्वचनीय आत्मा के क्रीड़ावन में पहुंच जाता है । वहा ऐसा गुप्त हो जाता है कि जगत का कोई व्यवहार व मन, वचन, काय का वर्तन उसका पता ही नही पा सकते । यह सुख सागर मे मानो मगन होकर परम संतोषी हो जाता है ।

---

११६. प्रमत्तविरत संवर भाव

ज्ञानी संवर तत्व का विचार करता है और यह जानता है कि एक वीतराग भाव ही संवर का कारण है । यह वीतराग भाव तब ही

प्राप्त होता है जब कि आत्मा पर भावों से उदासीन होकर निजी आत्मा के शुद्ध भाव में लीन होता है, स्वानुभव प्राप्त करता है। यह स्वानुभव अविरत सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर बढ़ता जाता है। देशविरत में श्रावक के योग्य स्वानुभव था। छठे प्रमत्त-विरत गुणस्थान में प्रत्याख्यान चार कशायो का भी उदय नहीं है, इसमें वीतरागता का अश अधिक है। पाँचवें में ६७ प्रकृतियों का आस्रव था। यहां चार प्रत्याख्यान कषाय का आस्रव बद हो जाता है। केवल ६३ प्रकृतियों का ही आस्रव होता है, यह नाना जोवो की अपेक्षा से है। एक जीव की अपेक्षा से उस साधु के—ज्ञा० ५ + दर्श० ६ + वेदनीय १ + मोह ६ + आयु १ + नाम २८ या २९ + गोत्र १ + अंत० ५=५६ या ५७ प्रकृतियों का ही आस्रव होता है। १२०—५७=६३ का बिलकुल नही होता है, ६० का संवर है। यद्यपि ५६ का या ५७ का आस्रव है, तथापि जब वह साधु ध्यान-मग्न होकर स्वानुभव मे होता है तब मंद अनुभाग व स्थिति को लिये घातीय कर्मों को व तीव्र अनुभाग लिए अल्पस्थिति लिये अघातीय पुण्य प्रकृतियों को बांधता है। शेष काल में प्रकृति के समय बंध अधिक स्थिति व अनुभाग का होता है, पुराने मे अनुभाग कम पड़ता है।

ज्ञानी संवर तत्त्व का विचार करता हुआ यह भले प्रकार जानता है कि जहां आत्मा आत्मारूप परिणमन करता है वहाँ ही वास्तव में सवर तत्त्व है। आत्मा के मनन से आत्मा आत्मारूप हो जाता है।

आत्मा अपनी सत्ता अनादि से रखता है। यह किसी से बना नहीं इसलिए यह कार्य नहीं है। यह किसी द्रव्य को उत्पन्न नही करता है इसलिये यह कारण भी नहीं है। यह हर एक उच्च आत्मा से, सर्व पुद्गल के भेदों से, आकाश से, धर्मास्तिकाय से, अधर्मास्तिकाय से व असंख्यात कालाणुओं से व कर्मकृत होने वाले अपने भीतर रागादि विकारों से बिलकुल भिन्न है यह ज्ञायक पदार्थ है। सूर्य के समान

स्व-पर प्रकाशक है, चन्द्रमा के समान परम शांत है व आनन्दामृत का वर्षाने वाला है, आकाश समान असग है व अग्नि के समान तेजस्वी है व पृथ्वी के समान परम क्षमावान है, स्फटिकमणि के समान स्वच्छ है, दर्पण के समान निर्विकार है। यही परमेश्वर है। यही परमात्मा है, ऐसा ध्यान में लेकर जो इसको ध्याता है वह परम सतोषी होकर निरन्तर आनद का स्वाद पाता है। बध व मोक्ष की कल्पना से रहित होकर स्वरूप-गुप्त रहता है।

---

११७. अप्रमत्तविरत संवर भाव

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रता के लाभ के लिए संवर के कारणों का विचार करता है। यह जानता है कि जहा तक कर्मो का सम्बन्ध है वहाँ तक आत्मा स्वतंत्र नही है। प्रमत्तविरत भाव मे १२० कर्मों मे से ६३ का आस्रव होता था। सातवे अप्रमत्त गुणस्थान मे सज्वलन कषाय के मद उदय से विशुद्धता व वीतरागता बढ़ गई है। इस कारण यहा अस्थिर, अशुभ, अयश, असाता, अरति, शोक इन ६ का आस्रव नही होता परन्तु आहारक शरीर व आगोपाग कर्मों का आस्रव होता है। एक कषाय की अपेक्षा ज्ञाना० ५ + दर्श० ६ + वेदनीय १ + मोहनीय ६ नाम २८ या २९ या ३० या ३१ + गोत्र १ + अन्तराय ५ + आयु १ = ५६, ५७, ५८, ५९ का आस्रव होता है। १२० मे से ६१ का नही होता है।

स्वस्थान अप्रमत्त से प्रमत्त मे व प्रमत्त से स्वस्थान मे बार-बार गमनागमन होता है। यह साधु इस अप्रमत्त भाव से प्रमाद रहित ध्यानस्थ रहता है।

भेदविज्ञान के प्रताप से यह अपने आत्मा को बिलकुल निराला परम शुद्ध रागादि रहित, अखण्ड, ज्ञानानंदमय मनन करता है। यहा स्वसंवेदन ज्ञान होता है।

आपसे आपको आपके द्वारा वेदन करता है। यहां कोई बुद्धि-पूर्वक विकल्प नही होते हैं। यह ध्याता अपने उपयोग को अपने ही आत्मा में ऐसा मग्न कर देता है कि ध्याता ध्येय का भेद नहीं रहता है। लवण की डली जसे पानी में घुल जाती है वैसे यह स्वानुभव में एकतान हो जाता है। जब तक इस संवर भाव'मे रहता है तब तक अतीन्द्रिय आनन्द का अमृतपान करता है। यह परम निष्काम है। माया, मिथ्या, निदान शल्य से रहित सच्चा निर्ग्रन्थ साधु है। अपने को असंग, निरंजन, निर्लेप ही स्वाद में लेता है। इसको शुद्ध आत्मा का निर्मल स्वाद आता है। मानो, यह मोक्ष का मार्गी होकर भी मोक्षरूप ही हो रहा है।

इसको गाढ़ निश्चय है कि यह स्वयं परमात्मा व परमेश्वर है। यहा मन थिर है, वचन मौन हैं, काय थिर है। एक अकेला आत्मा ही नाम रहित, लिंग रहित, कारक रहित, चिन्तवन रहित, जैसा का तैसा स्वाद में आ रहा है। धन्य है स्वानुभव, यही संवर तत्व है, इसी का स्वामी परम रत्नत्रय निधि का स्वामी है, परम सतोषी है।

---

११८. अपूर्वकरण संवर भाव

ज्ञानी स्वतंत्रता के लाभ के लिए कर्मों की संगति से बचना चाहता है। इसलिए सवरत्व का विचार करता है। अप्रमत्तविरत संवरभाव मे १२० में से ५६ प्रकृतियों का ही आस्रव रह गया था। अब यह साधु उपशम या क्षपकश्रेणि पर चढ़कर आठवे अपूर्वकरण गुणस्थान पर आ गया है। समय-समय परिणामों की अनन्तगुणी विशुद्धि करता जाता है। यहां देवायु का आस्रव बन्द हो जाता है केवल ५८ का आस्रव नाना जीवों की अपेक्षा से होता है। एक जीव की अपेक्षा ज्ञान० ५ + दर्श० ६ या ४ + वेदनीय १ + मोहनीय ९ + नाम २८, २९, ३०, ३१ या १ + गोत्र १ + अंत० ५ =

५५, ५६, ५७, ५८, या २६ अपूर्वकरण के प्रथम भाग तक दर्शन में निद्रा या प्रचला का बन्ध होता है, शेष भागो मे २ घट जायँगी।

जितनी-जितनी कषाय की मंदता आत्मध्यान के प्रताप से होती है उतना-उतना ही सवर भाव बढ़ता जाता है। यहाँ ज्ञानावरणादि पाप प्रकृतियों में अनुभाग बहुत कम पड़ता है, स्थिति तो सर्व ही कर्मों मे कम पड़ती है। जहाँ ध्याता शुक्लध्यान के प्रथम भेद को प्राप्त कर चुका है। शुद्ध भाव में लीन है। ध्याता बिलकुल आत्मस्थ है। अबुद्धिपूर्वक उपयोग का पलटना होता है, इसलिये आत्मद्रव्य ध्येय से ज्ञानगुण पर या सिद्धपर्याय पर आ जाता है। शब्द का आलम्बन भी पलट जाता है। जैसे जीव झट से आत्मा पर आ जावे। मन, वचन, काय योग भी पलट जाते है। तथापि ध्याता को पता नही चलता है। यहा इतनी कषाय की मदता है कि ध्याता को उसका फल अनुभव-गोचर होता है।

धन्य है आत्मा का ध्यान। आत्मा का द्रव्य स्वभाव बिलकुल शुद्ध है। सिद्ध के समान है। कोई पर द्रव्य का, पर भाव का, पर गुण का, पर पर्याय का सम्बन्ध नही है। अगुरुलघु सामान्य गुण के कारण यह आत्मद्रव्य सदा ही अपने अपने अनन्तगुण व स्वभावों को लिये हुये उनमे तन्मय रहता है, न कभी किसी गुण या स्वभाव की हानि होती है। अपनी सत्ता को अखण्ड व अमिट रखता हुआ यह आत्मा अपने ज्ञान के प्रकाश में सदा चमकता रहता है। कोई रागादि विकार व कामनाए आत्मा को स्पर्श नही करती है। यह ज्ञानी मन, वचन, काय के विकल्पो को बुद्धिपूर्वक छोड़े हुये आत्मा ही के द्वारा अपने आत्मा में ही लीन है। निश्चल होकर आनन्दामृत का पान करता रहता है। यह परम सन्तोषी है व निर्विकारी है। मोक्ष महल की तरफ बढ़ा चला जा रहा है।

---

११९. अनिवृत्तिकरण संवर भाव

ज्ञानी आत्मा कर्म के संयोग से बचने के लिए संवर भाव का विचार करता है। अपूर्व करण में प्रथम भाग तक निद्रा प्रचला का बंध था, आगे वही व छठे भाग तक तीर्थंकर+निर्माण+प्रशस्त वि० + पंचेन्द्रिय जाति + तैजस शरीर + कार्माण शरीर + आहारक २ + समचतुरस्र संस्थान + देवगति + कुदेवगत्या० + वैक्रियिक २ + वर्णादि ४ + अगुरुलघु + उपघात + परघात + उच्छ्वास + त्रस + बादर+पर्याप्त+ प्रत्येक + स्थिर + शुभ + सुभग+ सुस्वर + आदेय=३० का बंध होता है, फिर सातवें भाग तक हास्य, रति, भय, जुगुप्सा ४ का बन्ध होता है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ५८—३६ तक बाईस प्रकृतियों का ही बन्ध है। एक जीव की अपेक्षा से ज्ञाना० ५ + दर्श० ४ + वेदनीय १ + मोह० ५, ४, ३, २ या १ + नाम १ + गोत्र १ + अन्त० ५=२२, २१, २०, १९, १८ का ही बंध होता है। शेष १२० में से ९८ का संवर है।

यहां ज्ञानी शुक्लध्यान के प्रताप से परम विशुद्ध भावों की वृद्धि कर रहा है। उपशम श्रेणी पर मोह का उपशम, क्षपक श्रेणी पर मोह का क्षय कर रहा है। मोह का बंध नौवें तक ही होता है आगे नहीं। यह वीतरागी साधु शुद्धोपयोग में लीन है। अबुद्धिपूर्वक उपयोग की पलटन हो, परन्तु ध्याता को अनुभव केवल अपने एक शुद्ध आत्मा का ही हो रहा है।

यह तो केवल अपने आत्मीक आनन्दरस का ही पान कर रहा है। वास्तव में शुद्ध दृष्टि की अपूर्व महिमा है। एक मलीन आत्मा भी शुद्ध नयके प्रताप से अपने आत्मा को सर्व द्रव्य कर्म, भावकर्म नोकर्म से भिन्न, एक अखण्ड व अभेद, चिदाकार, अमूर्तीक ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य का पिंड परम निर्मल देखता है इसी दर्शन से धर्म-ध्यानी श्रेणी पर आकर शुक्लध्यानी हो जाता है।

ज्ञानी विचारता है कि कब मैं इस अनिवृत्तिकरण सेवाभाव की प्राप्ति करूंगा। विवेक बुद्धि कहती है कि सब बंध व मोक्ष की चर्चा को छोड़कर व ग्रहण त्याग का विचार बंद करके एक मात्र आत्मा के ही सन्मुख होकर, अपनी आत्मीक गुफा मे तिष्ठकर मौन से समभाव को प्राप्त कर लेना चाहिये। यही उपाय है, यही स्वतन्त्रता का साधन है। स्वतंत्रता का अनुभव ही स्वतत्रता का उपाय है व परमानंद का दायक है।

---

१२०. सूक्ष्मसांपराय संवर भाव

ज्ञानी आत्मा के कर्मों के भयानक आक्रमण से बचने के लिये उनके आगमन के कारणो का विचार कर रहा है।

अनिवृत्तिकरण सवर भाव मे २२ कर्म प्रकृतियो का आस्रव होता था, वहाँ से चढकर जब कोई महात्मा साधु उपशम या क्षपक श्रेणी वाला दशवे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान पर आता है तब ५ प्रकृतियो का–चार सज्वलन कषाय+पुरुष वेद का संवर रहता है। केवल १७ प्रकृतियों का ही आस्रव होता है। एक जीव की अपेक्षा विचार करे तो ज्ञा० ५+दर्शना० ४+वेदनीय १+नाम १+गोत्र १+अंत०, ५ = १७ का ही आस्रव यहाँ होता है। यहाँ मूल ६ कर्मों का ही आस्रव है। आयु व मोहकर्म का बिलकुल सवर है। बहुत हलके लोभ कषाय के कारण १७ कर्म का बन्ध होता है। ज्ञानी जानता है कि कषाय का अशमात्र भी मल है, सो हटाने लायक है। आत्मा के शुद्ध तत्त्व का ज्ञान तथा उसी में तीव्र रुचि सहित वर्तन अर्थात् शुद्ध-आत्मानुभव ही कषायो के दमन का एक अमोघ मंत्र है। यह बार-बार भावना भाता है कि मेरा आत्मा अकेला है। उसकी सत्ता निराली है, अन्य अनत आत्माओं की सत्ता निराली है, सर्व पुद्गल के परमाणुओ की सत्ता निराली है। इसी तरह ४ अमूर्तीक उदासीन व

थिर द्रव्यों की अर्थात् धर्म, अधर्म, काल, आकाश की सत्ता निराली है। मैं एकाकी पूर्ण कांक्षा रहित हूं। मैंने अपनी स्वरूप संपदा आप में ही पा ली है। मुझे सर्व जगत की वस्तुओं का, उनकी त्रिकालगोचर गुणपर्याय का ज्ञान है उन्ही का दर्शन है, मैं स्वतंत्र अनुभवने योग्य आनन्दामृत का निरंतर स्वाद लेता हूं, मेरे में अनन्त वीर्य है, मैं कभी थकन को नहीं वेदता हूं, मुझे अपने स्वरूप के रमण में पूर्ण तृप्ति है। इसलिए मेरा प्रेम किसी पर से नहीं है। मेरे स्वरूप रमण में कोई बाधक नहीं है। इससे मेरा द्वेष किसी के साथ नहीं है। मैं कर्मों से भी निराला हूं, कर्मकृत विकारी भावों से भी निराला हूं, शरीर से भी निराला हूं, मैं एकाकी जैसा हूं वैसे ही सर्व आत्माएं हैं, इस भावना के बल से मैं आपमें ही ठहर कर समताभाव को ध्याता हूं, समरस में मगन होता हूं, परमानंद का विलास करता हूं।

---

१२१. उपशांतमोह संवर भाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के निरोध के भावों का विचार कर रहा है। दशवे गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का आस्रव था। ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थान में मोह के उदय का मल बिलकुल नहीं रहा। इसलिए ज्ञा० ५ + दर्श० ४ + अतराय ५ + यश १ + उच्च गोत्र १ इन १६ प्रकृतियों का संवर है। केवल एक सातावेदनीय का ही आस्रव रह गया है। यह आस्रव ईर्यापथ कहलाता है। कर्म आते हैं, दूसरे समय में चले जाते हैं, स्थिति नहीं पाते क्योंकि कषाय के मल बिना स्थिति नहीं पड़ती है।

यह उपशमक साधु कषायों को दबाये हुये है। अन्तर्मुहूर्त के पीछे कषाय का उदय आने से यह दशवें में गिर जाता है। तब फिर १७ का आस्रव होने लगता है। यदि कदाचित् मरण हो जाय तो विग्रहगति में चौथा गुणस्थान पाकर देवगति मे चला जाता है तो भी

वह सम्यग्दृष्टि है, आत्मज्ञानी है, उसने अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर लिया है। यदि कदाचित् मिथ्यात्व गुणस्थान में गिर जावे तो भी वह कभी न कभी निर्वाण का भोक्ता हो जायगा। इस ज्ञानी को गाढ़ निश्चय है कि मैं आत्मद्रव्य हूं, मेरे अनंत गुण व उनकी अनन्त पर्यायें सब मेरे ही पास हैं। मैं परमज्ञान, परमदर्शन, परमचारित्र, परमानंद का धनी पूर्ण स्वतंत्र हू। मेरा संयोग किसी भी पर-भाव से वा परद्रव्य से नहीं है। कर्म पुद्‌गलों के मुख में पड़ा हूं तो भी उसी तरह निराला हूं जैसे कुन्दनस्वर्ण कीच में पड़ा हुआ भी शुद्ध व निर्लेप है या हीरे की कणी बालू नही हो जाती है। मेरे में एक अगुरुलघुगुण है जिसके प्रताप से मैं कभी अपनी संपदा को न तो कम करता हूं न उसमें कुछ वृद्धि करता हूं। जितने गुण हैं उनको अखण्ड व शुद्ध अपने में पूर्ण रखता हूं। मेरे में न कर्मबंध है न मुझे बंध के काटने की चिन्ता है। मैं सदा निर्बंध, नि:कलंक, निरञ्जन, अव्याबाध, अविनाशी, अमूर्तीक, सत् पदार्थ ज्ञानानन्दमय हूं। ईश्वर या परमात्मा मैं ही हूं। इस तरह ज्ञानी पुरुष आत्मा के अपने द्रव्य स्वभाव को जानता हुआ परम तृप्त रहता है। न कोई पर से बिगडने का भय है न किसी पद की चाह है। आपसे ही आपमें अपने ही द्वारा आपके ही लिए आपको आप ही धारण करता है। निर्विकल्प भाव में रत है, यही स्वतंत्र भाव है व स्वतंत्रता का उपाय है।

---

१२२. क्षीणमोह संवर भाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओं के निरोध के लिए उन भावों का विचार करता है जिनसे कर्मों का संवर होता है। जो साधु क्षायिक-सम्यग्दृष्टी होता हुआ व वज्रवृषभनाराचसंहनन का धारी होता हुआ क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होता है वह दशवें गुणस्थान में आता है। यहां योगों का हलन-चलन है। इससे केवल एक सातावेदनीय कर्म

का ही आस्रव ११ वें गुणस्थान के समान होता है। १२१ प्रकृतियों का आस्रव नहीं होता है। वह वीतरागी शुद्ध भावों में परम एकाग्र हो जाता है। दूसरे शुक्लध्यान को ध्याता है। वह कभी पतन नहीं करता है। यह शीघ्र ही केवलज्ञानी होने वाला है। यही उत्कृष्ट अन्तरात्मा या महात्मा है। मोहकर्मरूपी राजा का क्षय कर चुका है। धन्य है आत्मज्ञान की महिमा जिसके प्रताप से एक अज्ञानी सज्ञानी हो जाता है। मिथ्यादृष्टी सम्यग्दृष्टी व असंयमी संयमी हो जाता है। स्वतंत्रता को अपने आत्मा में ही पाता है। वह साक्षात्कार कर लेता है कि मैं कर्मरहित, रागादि रहित, परम ज्ञान स्वरूप परमात्मा हूं। द्रव्यदृष्टि से वह देखता है। अब उसे अपना आत्मा भी शुद्ध व पर की आत्मा से भी शुद्ध दीखता है। कोई हितकारी व अहितकारी नहीं भासता है, कोई इष्ट कोई अनिष्ट नहीं दिखता है। जहां कहीं भी वह देखता है उसे एक शांत स्वरूपी आत्मा का ही दर्शन होता है। वह विश्वव्यापी शांत ज्ञानमय सागर में मग्न हो जाता है। संसार का सब आताप शमन हो जाता है।

वह ज्ञानी एक शुद्ध भाव की पाषाणमय दृढ़ गुफा में तिष्ठता है। वहीं पर आप बिलकुल नग्न निर्ग्रन्थ हो जाता है। आठ कर्मों का उच्छेदन कर, तैजस शरीर के संयोग को व औदारिक शरीर के बंधन को, रागद्वेषादि भाव कर्मों को बिलकुल फेंक देता है। आत्मीक प्रदेशों को शुद्ध स्फटिक मणि के समान कर लेता है तब अपने आत्मदर्पण में सर्व विश्व की वस्तुओं को वीतराग भाव से जैसे वे हैं, वैसा उनको देखता है। किसी पदार्थ में प्रीति व अप्रीति नहीं करता है। इस तरह वीतराग भाव का उपासक नूतन कर्मों को रोकता है व पुरातन को उदासीन भाव से क्षय करता है। स्वतंत्रतामय भाव की उत्कंठा ही स्वतंत्रता को प्रकाश करने वाली है। जो आत्मज्ञानी हैं वे आत्मानन्द भोगते हुए सदा सुखी हैं।

---

१२३. अनित्यभावना संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के संवर का पूरा-पूरा विचार कर रहा है। कर्म की संगति आत्मा की स्वतंत्रता में बाधक है। वह विचारता है कि बारह भावनाएं परिणामों को कोमल करने वाली हैं। आत्मा के उपवन में रमण कराने की प्रेरणा कराने वाली हैं। अतएव उनका विचार भी करना उचित है। यह लोक जीव अजीव छः द्रव्यों का समुदाय है। ये सब द्रव्य परिणमनशील हैं। समय-समय सूक्ष्म पर्याय सब द्रव्यों में होती है, पर्याय पलट जाती है। समय समय पुरानी पर्याय का नाश व नई पर्याय का उत्पाद होता है। पर्याय इसलिए अनित्य है। मोही प्राणी की दृष्टि सूक्ष्म पर्याय पर नहीं जाती है। तो जीव तथा पुद्गल की मिश्रित स्थूल पर्यायों को व अकेले पुद्गल की स्थूल पर्यायो को अपनी पाचों इन्द्रियों से विषयभोग के हेतु से देखता है तब सुन्दर स्त्री, पुत्र, पुत्री, उपकारी मित्र, सुन्दर मकान, आभूषण, वस्त्र, माला, सुगंध, गीत आदि व खेल तमाश रागरंग अच्छे लगते हैं। उनको लेकर विषयभोग करता हुआ उनको थिर रखना चाहता है व अनिष्ट चेतन अचेतन पदार्थों को देखकर द्वेषभाव पैदा करके उनका सम्बन्ध नही चाहता है। पुण्य के उदय बिना इष्ट पदार्थों का समागम नही रहता है तथा सब चेतन व अचेतन स्थूल पर्याए क्षणभंगुर हैं। बिजली के चमकार के समान हैं। उनका वियोग हो जाने पर अज्ञानी जीव शोक करता है व पुनः उसका समागम होने के लिए तृष्णातुर बन जाता है। जैसे-जैसे पदार्थ मिलते हैं और भी तृष्णा की दाह को बढ़ा लेते हैं।

एक दिन अज्ञानी को निराश होकर स्वयं मर जाना पड़ता है। रागद्वेष से तीव्र कर्मों का बंध करता है।

जगत में यौवन जरा से रोग से क्षय होता है। धन अनेक कारणों से जाता रहता है। कुटुम्ब अपने-अपने आयु कर्म के आधीन

है, वियोग हो जाता है। सर्व संयोग देखते-देखते स्वप्न के समान हो जाता है। ऐसा विचार कर ज्ञानी आत्मा सर्व ही स्थूल व सूक्ष्म पर्यायों को नाशवंत मानकर उनसे मोह त्याग देता है। द्रव्य दृष्टि को सामने रखकर देखता है तब सर्व ही छः द्रव्य परम शुद्ध स्वभाव में दिखते हैं। धर्म अधर्म आकाश काल तो सदा ही शुद्ध रहते हैं। पुद्गलों की स्कंध पर्याय को अनित्य जानकर परमाणुरूप से देखकर समभाव लाता है। सब आत्माओं को परम शुद्ध देखकर रागद्वेष मिटा देता है। जैसा मैं ज्ञानानंदमय परम वीतराग हू वैसे ही सर्व आत्माएं हैं। ऐसा देखकर समता के सागर में मगन हो जाता है, परम संवरभाव को पा लेता है। इसी भाव मे मगन होकर आनन्द का अद्भुत स्वाद लेकर परम संतोषी रहता है।

---

१२४. अशरणभावना संवरभाव

ज्ञानी जीव कर्मों का आत्मा का शत्रु समझ कर उनके आगमन के विरोध का उपाय विचार रहा है।

अशरण भावना में विचारता है कि संसारी जीव को जब आयु-कर्म के समाप्त होने पर शरीर छोड़ना पड़ता है तब कोई मरण से बचा नही सकता। माता, पिता, भाई, बहन, सेना, वैद्य, शास्त्री देखते ही रहते हैं, कोई रक्षित नही कर सकता। मनोज्ञ स्त्री पुत्र संपदा होते हुए भी सबको छोड़कर जाना पड़ता है। इसी तरह जब तीव्र पाप का उदय होता है व विपत्तियां या रोगादि क्लेश घेर लेते हैं तो भी उस जीव को कोई दुख सहन से बचा नहीं सकता। इसलिए संसार-भ्रमण में यह जीव अशरण है। यदि कोई शरण है तो श्री अरहंत, सिद्ध, साधु हैं, जिनकी भक्ति से पाप कटते हैं व पुण्य का लाभ होता है। अथवा अपना आत्मा ही अपना शरण है। जो कोई अपने आत्मा की शरण में रहता है, सर्व पर शरण को त्याग कर एक अपने आत्मा में

ही विश्राम करता है, वह कर्मों के उदय में भी या बाहरी आसाता-कारी निमित्त होने पर भी आत्मीक सुख भोगता है, पाप कर्म को छुड़ाता है, संसार का नाश करता है। आत्मा की ही शरण लेने से यह जीव सर्व कर्म से रहित शुद्ध हो जाता है। आत्मशरण ही असली शरण है।

आत्मा ही परम तत्व है, परम पदार्थ है, परम द्रव्य है, परम अस्तिकाय है, परम आनन्दधाम है, परम चारित्रवान है, सम्यक्त्व निधान है, परम वीर्यवान है, परम ज्ञानवान है, परम दर्शनवान है, परम ज्ञान चेतना का निधान है। परम भगवान है, परम समयसार है, परम रमताराम है, सहज स्वभाववान है, परम पारिणामिक भाव-वान है, परम शांति का स्थान है, परम समता का सागर है, गुणों का रत्नाकर है, अज्ञान तत्वनाशक दिवाकर है, परमामृतवर्षक चन्द्रप्रभा-कर है। सर्व मन, वचन, काय के विकल्पों से दूर है। ऐसे स्वानुभव-गम्य आत्मा में जो रमण करता है वही सर्व अशुभकारक कारणों को मेटकर आपसे ही अपना शरणभूत होकर नित्य सूर्य स्वयं प्रकाशता है। यही भावना अशरण भावना है व सवरतत्व है, जिससे समसुख होता है।

---

१२५. संसारभावना संवरभाव

यह ज्ञानी जीव कर्मों के निरोध के उपायों का विचार कर रहा है। तीसरी संसार भावना है। जहां जीव कर्मों के उदय के अधीन हो व चारों गतियों में भ्रमण करे, सो संसार है। हर एक गति में इन्द्रिय भोग की लालसा से भोग करने का उद्यम करे। कहीं भोग पाकर कहीं न पाकर अतृप्त भाव में ही मरण करके दूसरी गति में चला जावे, कहीं पर भी तृप्ति न पावे। देवगति के व नारायण चक्रवर्ती के भोगों से भी जब तृप्ति नहीं तब संसार के भीतर कहीं भी तृप्ति नहीं है। इसीलिये संसार को केले के खंभ के समान असार कहते हैं। अज्ञानी

मोही को कहीं भी सत्य सुख नहीं मिलता है। मोह के नशे में चूर होकर इसने देह से प्रीति करी तब देह बार-बार प्राप्त हुई।

अनादिकाल के चक्कर में इसने अनंतबार पांच परिवर्तन किये हैं। कर्म पुद्गल का कोई परमाणु शेष नहीं जो इसने बार-बार ग्रहण करके त्यागा न हो, यह द्रव्य परिवर्तन है। लोकाकाश का कोई प्रदेश बाकी नहीं है, जहां इसने जन्म न लिया हो, यह क्षेत्र परिवर्तन है। उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल के बीस कोड़ाकोड़ी सागर का कोई समय नहीं बचा जहां बार-बार जन्म मरण न किया हो, यह काल परिवर्तन है। नरक तिर्यंच मनुष्य व ग्रैवेयिक तक देवगति में, इस तरह चार गति में कोई भव शेष नहीं जिसका बार-बार धारण न किया हो, यह भव परिवर्तन है।

मिथ्यादृष्टि के संभावित आठों प्रकार के कर्मों के बंध के कारण योग व कषाय भावों में कोई स्थान शेष नहीं रहा जो इसने धारण न किया हो, यह भाव परिवर्तन है। संसार में कहीं भी शांति नहीं परंतु जो आत्मज्ञानी हैं वे संसार की किसी भी दशा में रहें सदा ही सुखी रहते हैं।

आत्मज्ञानी को परवस्तु के अधीन नहीं किन्तु स्वाधीन आत्मिक सुख मिलता है। वह संसार के सुख को खारा पानी पीना समझता है। ज्ञानी संसार के कारण राग-द्वेष मोह भावों से प्रेम छोड़कर एक अपने ही आत्मा से परम प्रेम करते हैं। वे आत्मा को ही परमात्मा, परमेश्वर, चिदानंद, सुखसागर, परम निश्चल, परम वीतराग, निर्विकारी, सर्वांग-शुद्ध, अमूर्तीक, परम तत्व जान कर उसी में विश्राम करके आनंदामृत का पान करते हैं। वे मुक्ति के प्रेमी होकर निरन्तर निज आत्मा की शुद्ध भावना करते हैं। परम संतोष से व सम भाव से रहते हैं। संसार से उदासीन रहकर भी परम पुरुषार्थी बने रहते हैं। वे ही संवर ज्ञान रहकर कर्मों के भयानक आक्रमण से बचते हैं।

---

१२६. एकत्वभावना संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों की परतंत्रता मिटाने के लिये उन संवर स्वभावों को विचार करता है जिनसे कर्मों का आना रुकता है।

एकत्व भावना का विचार करता है कि यह जीव कर्मों के बंध में पड़ा हुआ अकेला ही भ्रमण करता है, अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है अकेला ही पाप कर्म का फल दुख व पुण्य कर्म का फल सुख भोगता है कोई इसके पाप को बँटा नहीं सकता है। यदि कुटुम्ब के मोह में सब मोही जीव अनेक पाप कर्म करके धन सामग्री लाता है तो इस पाप कर्म का फल उस ही अकेले को भोगना पड़ेगा, कुटुम्ब सहायक नहीं हो सकता। मरते के साथ कोई मरता नहीं। संसार मे विपत्तियां एक अकेले को ही झेलना पड़ती है। अपने का अकेला अपने भावों से बंधने वाले पाप पुण्य का अधिकारी समझकर पर के मोह मे पड़कर पाप सचय से बचाना चाहिये व किसी भी पर से मोह भाव न रखना चाहिये। सबकी सत्ता निराली है। अपनी भलाई-बुराई का आप ही आधार है। कुटुम्ब परिवार मित्रादि शरीर के हैं आत्मा के नहीं। व्यवहार से भी यह आत्मा अकेला है, निश्चय नय से भी अकेला है। अपने आत्मा का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अन्य आत्माओ के सब, पुद्गलो के, धर्म द्रव्य के, अधर्म द्रव्य के, आकाश द्रव्य के असख्यात कालाणु द्रव्यो के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से न्यारा है। अपना आत्मा द्रव्य अखण्ड, अभेद, अनन्त गुण पर्यायों का पिण्ड है, कभी बिगड़ नहीं सकता है।

अपने आत्मा का असख्यात प्रदेश रूपी क्षेत्र निराला है। यद्यपि एक-एक प्रदेश के अनन्त पुद्गलों का संयोग है तो भी उनके क्षेत्र से इस आत्मा का क्षेत्र भिन्न है। अपने आत्मा के भीतर रहने वाले गुणों का समय-समय परिणाम अपने मे ही है। यही अपना स्व-काल है। अपने आत्मा के भाव अनेक हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व

अगुरुलघुत्व, ये तो सामान्य गुण हैं व शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, अनन्त वीर्य, अनंत आनन्द, शुद्ध सम्यक्त्व, वीतराग चारित्र आदि विशेष गुण हैं। आत्मा के सर्व गुण द्रव्य इस एक आत्मा में हैं, पर में नहीं हैं, पर आत्मा के गुण रूप अपने आत्मा में नही हैं। सिद्ध परमात्मा के समान अपना आत्मा है तो भी सिद्ध की सत्ता निराली है। अपने आत्मा की सत्ता निराली है। इस तरह अपना एकत्व विचार करके ज्ञानी अपने ही भीतर विश्राम करता है, परम संतोषित रहता है, शान्त भाव में मगन रहता है, परमानन्द का स्वाद पाता है। अपनी स्वतन्त्रता का अनुभव करना ही एकत्व भाव है, यही परम शरण है, यही ज्ञानी का कर्म है।

---

१२७. अन्यत्वभावना संवरभाव

ज्ञानी जीव कर्मों के आक्रमण से बचने के लिये उनके संवर के उपायों को विचार कर रहा है।

अन्यत्व भावना भी संवर का उपाय है। इसका विचार व्यवहार व निश्चय दोनों नयों से करना उचित है। व्यवहार नय से हमारे व्यक्तित्व से हमारा परिवार कुटुम्ब निराला है। स्त्री पुत्रादि सब जुदे हैं। मित्र, शत्रु, सेवक, धन, धान्य, मकान, वस्त्रादि सब भिन्न हैं। चेतन व अचेतन पदार्थों का संयोग होकर वियोग हो जाता है। अन्य कोई भी अपना नहीं है, जिसे अपना करके माना जावे। पुण्य के उदय से पर मनोज्ञ संयोग रहता है, पाप के उदय पर बिघट जाता है। सब ही जनों का संयोग स्वार्थ के अधीन है। स्वार्थ सधता न होने पर जिनको अपना जानते थे वे सब पर हो जाते है। ज्ञानी जीव को पर-पदार्थों से मोह न करना चाहिये। निरपेक्ष प्रेम भाव रखके शक्ति के अनुसार उनकी सेवा करनी योग्य है। उनको अपना उपकारी बनाने के लिये नहीं। जब कोई अपना नहीं है तब प्रीति करना आगामी दुःख का

कारण है। अपने को अकेला समझकर अपने हित का विचार अपने को ही करना योग्य है।

निश्चय नय से विचारे तो मेरा आत्मा अपनी सत्ता जुदी रखता है। इससे अन्य सर्व आत्माएं हैं, सर्व पुद्गल हैं, धर्मादि चार द्रव्य हैं, आठों कर्म पुद्गल हैं, उनका फल भी पुद्गल है, रागादि विकार भी कर्म के उदय से होते हैं, आत्मा के निज स्वभाव से भिन्न हैं।

मेरा नाता किसी भी पर द्रव्य से रञ्चमात्र नहीं है। मैं अन्य हूं अन्य सर्व मुझसे अन्य हैं। मुझे तब अपने ही सत्व में रहना चाहिये। स्व-समय में ही आचरण करना चाहिये। अपने ही ज्ञानानन्द रूप अटूट धन में संतोषित रहना चाहिये। पर की तृष्णा हटाना चाहिये। पर को पर जान सर्व मोह का त्याग करना चाहिये। अपने आनन्द स्वभाव का निश्चय रखके परम वैराग्यमय होकर अपने स्वभाव में रमण करना चाहिये। राग, द्वेष, मोह को सर्वथा त्याग देना चाहिये। वीतराग विज्ञानमय स्वभाव को अपना जानकर उसी का ज्ञान चेतना एक होकर स्वाद लेना चाहिये। पर से उपयोग हटाकर अपने आनद स्वभाव में लीन होकर अद्वैत भाव का धनी होना चाहिये। अपना एकत्व विचार हटा लेने पर यह परम ग्लानियुक्त विदित होता है। स्वयं अपने को भी घृणा आवे।

यह शरीर महान अपवित्र है। इसका सयोग पवित्र आत्मा से रखना किसी भी तरह प्रशसनीय नही है। इस शरीर के द्वारा ही आत्मा ऐसा पुरुषार्थ कर लेता है जो फिर शरीर का सयोग कभी नहीं हो। इसलिये इस शरीर को सेवक के समान रखकर इसके द्वारा अपने ही आत्मा का अनुभव करना चाहिये। यह आत्मा निश्चय से परम पवित्र परमात्मा है, ज्ञाता दृष्टा है, अविनाशी है। सर्व ही रागादि भावों से रहित है। शुद्धोऽहं, सिद्धोऽहं, निरञ्जनोऽहं, ऐसी भावना करते रहने से जब थिरता होती है तब स्वानुभव जागता है। यही

शरीर से छूटने का उपाय है। स्वानुभव परमानन्दमय है, परम शांति-दाता है, परम धर्म है।

---

१२९. आस्रवभावना संवरभाव

ज्ञानी आत्मा के कर्मों के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए कर्मों के निरोध के उपायों को विचारता है।

बारह भावनाएं परम उपकार करने वाली हैं। आस्रव भावना में कर्मास्रव के कारण भावोंका विचार है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय योग ये चार प्रसिद्ध आस्रव भाव हैं। आत्मा व अनात्मा का यथार्थ श्रद्धान न होना व सांसारिक सुख को उपादेय मानना, आत्मीक सुख की रुचि न प्राप्त करना, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चार संज्ञाओं में फंसे रहना व रात-दिन विषय-भोग की रुचि रखनी व इसी रुचि के अधीन होकर धर्म का साधन करना। सुदेव, सुगुरु व सुधर्म को न पहचान करके सुदेव, कुदेव, सुगुरु, कुगुरु, सुधर्म, कुधर्म का सेवन न करना सर्व मिथ्यात्व भाव है। जहाँ तक शुद्धात्मानुभव की गाढ़ रुचि न हो, व साक्षात् स्वानुभव न हो वहां तक मिथ्यात्व भाव का मैल नहीं छूटता है। कतिपय मुनि जैन शास्त्रानुसार आचारको ठीक-ठीक पालते हुए भी आत्मानुभव के बिना मिथ्यात्व मल से नहीं छूटकर मोक्षमार्गी नहीं हो सकते हैं। जगत में स्व-पर दुखदायी पाँच पाप हैं। हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रह की मूर्छा; इनसे विरक्त न होना अविरतिभाव है। चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ, आत्मा के महान शत्रु हैं। इनसे आये हुए कर्मों में स्थिति व अनुभाग बंध पड़ता है। मन, वचन, काय के वर्तते हुए आत्मा के प्रदेशों का कंपन होता है, उस समय योगशक्ति कर्मों को खींचती है व इसी से प्रकृति व प्रदेश बन्ध होता है। आस्रव व बन्ध का कार्य एक ही है। बारह भावनाओं में आस्रव भावना ही है, बंध भावना नहीं है।

ये चारों ही आस्रव भाव औपाधिक भाव हैं। कर्मों के उदय से होते हैं। आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं। ये ही संसार के बीज हैं। इनसे उदासोन लोग, ज्ञानी निरास्रव व निर्बंध एक अपने ही आत्मा की ही शरण में आता है, गुणगुणी विकल्पो के द्वारा निर्विकल्प हो जाता है। भावना हो आत्मानुभव पुत्र की जननी है। आत्मा ज्ञानमय, दर्शन मय, परम वीतराग, परमानन्दी, परम वीर्यवान है। सर्व रागादि से रहित है, परम निरंजन निर्विकार है, अभेद व अखण्ड है, अपने शरीर व्यापक परम अविनाशी देव है। जो इस देव की हो आराधना करता है वह स्वानुभव का लाभ करके परम आनन्दमय हो जाता है।

---

१३०. संवरभावना संवरभाव

ज्ञानी जीव कर्मों के आस्रव के निरोधकारक भावों का विचार कर रहा है।

संवर भाव मे विचारता है कि यह आस्रव प्राणो का विरोधी है। जब यह जीव अविरत सम्यग्दृष्टी होता है तब अनन्तानुबंधी चार कषाय और दर्शनमोह के कारण जिन कर्मों का बध होता था उनका संवर हो जाता है। पाचवे देशविरत गुणस्थान में अप्रत्याख्यान चार कषाय के कारण जिन कर्मों का आना होता था वे कर्म नही आते है। छठे, सातवे प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थानों में प्रत्याख्यान चार कषायो के आने वाले कर्म रुक जाते है। नौवें गुणस्थान मे हास्यादि छः नोकषायों के द्वारा आने वाले कर्म नही आते हैं। केवल चार सज्वलन कषाय व तीन वेद सम्बन्धी कर्म आते हैं। जितना-जितना इनका उदय हटता जाता है, संवर होता जाता है। दसवें में सूक्ष्म लोभ सम्बन्धी आस्रव होता है। ग्यारहवें, बारहवे, तेरहवें गुणस्थानों में कषायों का मेल नहीं रहता है। केवल योगों का परिणमन है। इससे केवल सातावेद-नीय कर्म का आस्रव होता है। चौदहवे मे पूर्ण संवर हो जाता है।

मोह व योग ही कर्मों के आस्रव के कारण हैं। इनका निरोध एक शुद्धात्मा की भावना से होता है। सम्यग्दृष्टी के भीतर चार योग से अपने आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। उसे ज्ञान के द्वारा यह निश्चय है कि मेरा आत्मा सर्व पर-पदार्थ से भिन्न है, इसकी सत्ता निराली है, पुद्गल का कोई परमाणु मेरे में नहीं है, न मेरे में कार्माण शरीर हैं न तैजस शरीर हैं, न आहारक, न औदारिक न वैक्रियिक शरीर है, न मेरे में कर्म के विकृत रागादि भाव हैं, न मेरे में कोई अशुभ भाव है, न कोई शुभ भाव है, न कोई गुणस्थान है, न मार्गणा-स्थान है।

मैं एक ज्ञाता, दृष्टा, अविनाशी, परम वीतरागी, परमानन्दी, एकचित्त धातु की मूर्तिमान अखण्ड द्रव्य हूं। इसी भावना की दृढ़ता के प्रभाव से वह आत्मानुभव को प्राप्त कर लेता है। यही सच्चा संवर भाव है। यही आनन्दप्रद अमृत का पान है। इसी के प्रभाव से मोह की सेना का संहार किया जाता है। आत्मीक खडग को चलाने का निरंतर अभ्यास करता है। वीर सिपाही के समान कर्म-शत्रुओं को दूर से रोकता रहता है। वीर भाव में मगन होकर परमानन्द भोगता है।

---

१९१. निर्जराभावना संवरभाव

ज्ञानी, आत्मा के ऊपर कर्मों का आक्रमण मेटने के लिए संवर भावों का विचार कर रहा है।

निर्जरा भावना बड़ी उपयोगी है। ज्ञानी विचारता है कि यद्यपि पूर्व में बांधे हुए कर्म अपने समय पर पक करके गिर जाते हैं, उसी समय राग, द्वेषादि भावों के निमित्त से और नए कर्म बंध जाते हैं। जैसे तालाब में एक तरफ से पानी निकलता है, दूसरी तरफ से नवीन पानी आता है, तब वह तालाब भरा ही मिलता है। यदि तालाब को

खाली करना हो तो नये पानी का आना रोकना पड़ेगा व पुराने पानी के निकालने के लिए एक छिद्र और करना पड़ेगा, जिससे पानी जल्दी निकल जावे।

इसी तरह आत्मा को कर्मों से मुक्त करने के लिए सविपाक निर्जरा से काम नहीं चलेगा। अविपाक निर्जरा की जरूरत है। बहुत से कर्मों को पकने के पहले झड़ा देना चाहिये। इसका उपाय तप है। वीतराग भावों की वृद्धि से कर्मों का रस सूख जाता है व कर्म झड़ जाते हैं। आत्म-ध्यान की आग मे ऐसी शक्ति है कि एक अन्तर्मुहूर्त में सर्व घातीयकर्म क्षय हो जाते है व आत्मा परमात्मा अरहन्त जिन हो जाता है। आत्म-ध्यान के लिए अपने आत्मा की बार-बार भावना करनी योग्य है। व्यवहार नय से यह अपना आत्मा कर्म-मूढ़ताओं से मिला अशुद्ध दिखता है। परन्तु जैसे मलिन जल को जल के स्वभाव की दृष्टि से देखा जावे तो जल निर्मल ही दिखता है। उसी तरह अपना आत्मा निश्चय नय से या शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से परम शुद्ध दिखता है। यही साक्षात् देव है, परम ज्ञानी है, सर्वदर्शी है, परम वीतराग है, परमानन्दमय है, परम श्रद्धावान है, अनन्त वीर्यवान है, अमूर्तीक है, स्वय सिद्ध है, असख्यात प्रदेशी है, अखण्ड है, अनन्त गुण पर्यायों का निधान है, यही कर्म-विजयी जिनेन्द्र है, यही ब्रह्मज्ञानी है, यही ज्ञानापेक्षा विष्णु है, यही मगलरूप शिव है, यही निर्विकार है, यही परम कृतकृत्य है। सर्व तृष्णा व अविद्या से परे है। जो इस दृष्टि से अपने आत्मा की भावना एकतान हो करता है वही अकस्मात् आत्म ध्यान का लाभ कर लेता है। यही निर्जरा तत्व है। इस तत्व के मनन से कर्मों का संवर होता है। ज्ञानी आत्मा गम्भीर सुखमई सागर में मगन होकर परम अमृत का पान कर तृप्त रहता है।

---

१३२. लोकभावना संवरभाव

ज्ञानी कर्मों के आस्रव के निरोध के कारणों का विचार कर रहा है। लोक भावना में विचार करता है कि लोक उस आकाश को कहते हैं जहां हर एक स्थान पर जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय व कालाणु पाये जावें। छः द्रव्यों के समुदाय को लोक कहते हैं। सर्व ही द्रव्य सत् हैं, सदा से हैं व सदा ही रहेंगे। इसलिए यह लोक सत् है। सर्व ही द्रव्य परिणमनशील हैं। स्वभाव या विभाव पर्यायों को रखते हैं। हर एक सूक्ष्म पर्याय एक समय मात्र रहती है, फिर दूसरी हो जाती है, इस कारण छहों द्रव्य अनित्य भी हैं वैसे ही यह लोक भी अनित्य है। इस नित्य अनित्यमय लोक का कोई एक कर्ता नहीं है। यह छः द्रव्य अकृत्रिम हैं तब लोक भी अकृत्रिम है। ऊर्ध्व, मध्य, अधो ऐसे तीन भेद हैं। अधो लोक में नर्क है, मध्य में मनुष्य तिर्यञ्च है। ऊर्ध्व में स्वर्गादि व अन्त में सिद्धक्षेत्र है। सिद्धक्षेत्र में अनन्त सिद्ध भगवान अपने स्वभाव में मगन नित्य परमानन्द योगी विराजमान हैं। लोक के भीतर जितनी आत्माएं हैं वे भी सब स्वभाव से सिद्ध के समान शुद्ध हैं, परन्तु उनकी पर्याय या दशा कर्म पुद्गलों के संयोगवश राग, द्वेष, मोह से मलीन व आकुलित हो रही हैं। तथापि यदि किसी अशुद्ध आत्मा को शुद्धता प्राप्त करनी हो तो उसे अपने केवल एक मूल स्वभाव का ही मनन करना चाहिये जिससे संसार, शरीर, भोगों से वैराग्य आ जावे व अपने ही शुद्ध स्वभाव के लाभ का गाढ़ उत्साह प्राप्त हो जावे।

अतएव शुद्ध निश्चयनय को सामने रखकर अपने को एक अखण्ड, अमूर्तीक, चैतन्यमई, अविनाशी पदार्थ मानकर यह मनन करना चाहिये कि मैं सदा ही निर्मल हूं, मेरा कोई सम्बन्ध आठ कर्मों से, शरीरादि नोकर्मों से व रागादि भाव कर्मों से नहीं है। मैं परम वीतरागी हूं, परमानन्द हूं, अनन्त वीर्यवान हूं, ज्ञान चेतना का स्वाद

लेने वाला हूं, परम कृतकृत्य हूं, निरञ्जन निर्विकार हूं। इस तरह मनन करते हुए ज्ञानी अभ्यास के बल से जब कभी स्वरूप में स्थिति प्राप्त कर लेता है तब स्वानुभव पा लेता है। यही निश्चय मोक्ष का मार्ग है, यही स्वतंत्रता का उपाय है, संवर भाव है।

---

१३३. बोधिदुर्लभभावना संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओं के आगमन के द्वार को रोकना चाहता है, इसलिये संवर के कारणो का विचार करता है।

बारह भावनाओं में बोधि-दुर्लभ भावना बहुत ही उपकार करने वाली है। आत्मानुभव की शक्ति को या आत्मज्ञान को या सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, रत्नत्रय की एकता को बोधि कहते हैं। इसका लाभ होना बहुत दुर्लभ है। यह परमानंदमई अमृत पिलाने वाली धारा है। आत्मा को पवित्र करने का मसाला है। सम्यग्दर्शन के लाभ होते ही इसका लाभ होता है। एकेन्द्रिय से असैनी पचेन्द्रिय-पर्यंत के जीव इस बोधि को नही पा सकते हैं। क्योकि उनके भीतर ज्ञान की प्रगटता मनसहाय के बिना ऐसी नही होती है जिससे वे अपने आत्मा को जो इन्द्रियो का विषय नही है उसको पहचान सकें, वह यह समझ सकें कि यह आत्मा अज्ञान से अपने को पाप व पुण्य-जनित भाव वा अवस्था का धारी मान रहा है। असल मे यह आत्मा द्रव्य स्वयं सिद्ध सत् पदार्थ है, पूर्ण ज्ञान का भंडार है, पूर्ण शांति का समुद्र है, पूर्ण आनन्द का सागर है। द्रव्य की अपेक्षा नित्य है, तथापि पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व्ययरूप है। असख्यात प्रदेशी होकर भी अमूर्तीक है। यही स्वभाव से परमात्मा, परमेश्वर, परमतत्व व समय सार है तथा यदि व्यवहार दृष्टि से देखे तो यही कर्म फल होने से अशुद्ध दिखता है व शुद्धि का उपाय बोधि का लाभ है, आत्मज्ञान है व आत्मानुभव है।

भव्य जीव को निकट संसार होनेपर इस बोधि का लाभ होता है। यही नौका एक ऐसी अभेद व अचूक है कि जो इस बोधि नौका पर आरूढ़ हो जाता है वह बिना कर्म मल के आस्रव के साधा शि(द्वीप में पहुंच जाता है। एक दफे बड़े भाग्य से व बड़े पुरुषार्थ से यदि बोधि का लाभ हो जावे तो उसे महान लाभ समझना चाहिये। अनादि काल से जो वस्तु न मिली थी उसका लाभ महान दुष्कर जानकर उस लाभ को स्थिर रखना चाहिये। भूल से या प्रमाद से इसको कहीं गमा न बैठना चाहिये, परम आदर से रखना चाहिये व इस पर आरूढ़ होकर स्वानुभव के मंगल गीत गाने चाहिये। मिथ्यादर्शन परम शत्रु है उसके आक्रमण से इसे बचाना चाहिये। अमृत सागर में निरन्तर मगन कराने वाली बोधि की दुर्लभता का विचार वीतरागता को बढ़ाता है जिसमें संवर होता है। इस भावना को चाहनें वाला बोधि के गाढ़ प्रेम से सहजानन्द का लाभ करता है।

---

१३४. धर्मभावना संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के आने के द्वारों को बन्द करने के लिये उपायों का विचार कर रहा है।

बारहवीं भावना धर्म के स्वरूप का चिन्तवन है। धर्म आत्मा का स्वभाव है या आत्मा के विकास का जो उपाय है वही धर्म है।

शुद्धात्मानुभव धर्म है, इसी से कर्म का बल घटता है और आत्मा शुद्ध होता है। इसी को वीतराग विज्ञानभाव या निर्विकल्प समाधि या स्वसंवेदना ज्ञान या निश्चय रत्नत्रय या कारण समय-सार या स्वसमय कहते हैं। जब कोई भेद विज्ञानी अपने आत्मा को आत्मा रूप यथार्थ परम शुद्ध सर्व पर के संयोग से रहित एकाकी व पूर्ण कलश की तरह अपनें ज्ञानादि गुणों से पूर्ण, परम निश्चल श्रद्धान

करता है व ऐसा ही जानता है व इसी ज्ञान श्रद्धान में चर्या करता है तब स्वानुभव धर्म प्रगट होता है।

यदि यह कषाय की कलुषता से शून्य होता है तो यह कर्ममल को काटता ही है। दसवें सूक्ष्म-सांपराय-गुणस्थान तक कषाय का उदय उपयोग में रहता है वहाँ तक कर्म का बंध भी होता है। धर्म का जितना अंश जिस ज्ञानी में प्रगट होता है वह बंधकारक न होकर बंधनाशक है।

स्वानुभव धर्म के लाभ के समय कर्म भी क्षय होते हैं व परम अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भी आता है इसीलिए इस धर्म को अमृत व धर्माराधन को अमृत पान कहते हैं। यह धर्म अपने ही आत्मा के भीतर प्रकाश करता है। न यह शास्त्र में, न मंदिर में, न तीर्थ में, न वाणी मे, न मन में, न मूर्ति में, न किसी शरीराश्रित तपादि में प्रगट होता है। यह धर्म तो आत्मा के द्वारा आत्मा में ही प्रकाशित होता है। मन का विचार, वाणी का प्रकाश, काय का वर्ताव व इन तीनों के आश्रित मुनि व श्रावक का चारित्र देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप व दान आदि बाहरी निमित्त होते हैं। ज्ञानी इन कारणों के मध्य में स्वानुभव का खोजी होकर स्वानुभव को पाकर परम सुखी हो जाता है। स्वानुभव-धर्म परम अनुपम जहाज है, इसी पर आरूढ़ होकर मोक्ष के पथिक भवसागर से पार हो जाते हैं।

स्वानुभव-धर्म की जय हो। यही स्वतन्त्रता का उपाय है। यही ध्यान की आग है, जो विकारों के कारणभूत कर्मों को क्षण मात्र में जला डालती है। इस धर्म का धारी ही धर्मात्मा है।

---

१३५. उत्तम क्षमा—संवर भाव

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रता के लिये परम उत्सुक है। स्वतंत्रता आत्मा का निज धर्म है। अनादिकाल से पुद्गल का संयोग है इसलिये कर्मों के आक्रमण से स्वतंत्रता दब रही है।

कर्म रूपी शत्रुओं का विजय करना उचित है। इनके आने को रोकने के लिए संवर भावों की जरूरत है। उन संवर भावों में उत्तम क्षमा को प्रधानता है। क्रोध इसका बैरी है। जब क्रोध आक्रमण करता है तब इस संवर भाव का पराजय हो जाता है—कर्मों का आना प्रारम्भ हो जाता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी, वीर, मोक्ष-साधक बड़ी सावधानी से उत्तम क्षमा की ढाल से क्रोध के वेग को रोक देता है। दूसरों के द्वारा दुर्वचन कहे जाने पर, मारपीट होने पर, लौकिक या धार्मिक पदार्थ के नष्ट किये जाने पर क्रोध बड़ी तीव्रता से उछलता है। उत्तम क्षमा के साथ एक भाव से आलिंगन करने वाला चेतन राम ऐसा स्वानुभव के स्वाद में मगन होता है कि उसके दृढ़ शुद्धोपयोग पर क्रोध के बम्बगोलों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वे उत्तम क्षमा के वज्र से स्वयं छिन्न-भिन्न हो दूर गिर पड़ते हैं। जो कोई स्वानुभव के किले से बाहर होता है वह भावना के शांत प्रयोगों से क्रोध शक्ति को जीतता है।

मैं आत्मा अमूर्तीक चेतनमय परम वीतराग आनन्दमय हूं, मेरी सम्पत्ति भी अमूर्तीक चेतनामय है। न तो आत्मा पर जड़ स्वरूप कुशब्दों का स्पर्श हो सकता है न किसी हाथ पग या शस्त्र का स्पर्श हो सकता है, न कोई जड़ स्वरूप सम्पत्ति आत्मा की है, दूसरा तो केवल जड़ को ही नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है। मेरी ज्ञान दर्शन सुख वीर्य सम्पत्ति का कोई बिगाड़ नहीं कर सकता। निर्मोही सम्यग्दृष्टी इस तरह क्रोध को विजय कर उत्तम क्षमा के साथ बड़ा ही प्रेम रखता है। इसी के प्रताप से परम शांत निज आत्मीक आनन्द-सरोवर में मगन रहकर परम सन्तोष का लाभ करता है।

१३६, उत्तममार्दव संवरभाव

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए स्वतंत्रता के बाधक कर्मों के क्षय का व उनके आगमन के निरोध का

उपाय विचार कर रहा है। उत्तम मार्दव भी एक बढ़िया संवर भाव है। परम कोमलता आत्मा का स्वभाव है—आत्मा में मान कषाय की रंचमात्र कठोरता नहीं है। जब मान कषाय का उदय होता है तब अज्ञानी आत्मा अपने स्वभाव से भिन्न पर वस्तुओं की निकटता में बावला होकर कभी शरीर की जाति का, कभी शरीर के कुल का, कभी शरीर के रूप का, कभी शरीर के बल का, कभी शरीर को उपकारी लक्ष्मी का, कभी शरीर को लाभकारी अधिकार का, कभी शरीर की पांच इन्द्रिय और मन की सहायता से प्राप्त अनेक प्रकार की विद्याओं का व कलाओ का, कभी शरीर को सुखाने वाले अनेक प्रकार के तापों का घमण्ड करके अपने को ऊंचा व दूसरों को नीचा देखता है। इस अन्धकार से मलीन होकर नाना प्रकार कर्मों का सचय करता है।

ज्ञानी आत्मा शरीर को ही अपने आत्मा से जुदा जानता है तब शरीर के संयोग से प्राप्त सर्व विभूतियो को भी पर जानता है। इन शरीरादि का संयोग वियोग के सन्मुख है, नाशवत है, ज्ञानी इनके सम्बन्ध का कोई अहंकार नही करता है, ज्ञानी अपनी अविनाशी आत्मा में व उसकी अविनाशी विभूतियों मे ही परमसन्तोष को रखता है। उसकी अहंबुद्धि अपनी ही न छूटने वाली, न मिटने वाली सहज ज्ञान, सहज दर्शन, सहज सुख, सहज वीर्य, सहज शांति, सहज सम्यक्त्व आदि परमोत्तम गुण-रत्नो की सम्पदाओ में होती है। इनके सिवाय आठ कर्मों के उदयादि से प्राप्त नाशवंत विभूतियो मे ज्ञानी परम उदासीन रहता है। सत्कार के किये जाने पर वैसे ही समभाव रखता है। जब ज्ञानी उत्तम मार्दव के भाव में एकतान हो, स्वानुभव रस का पान करता है तब सत्कार व तिरस्कार का कोई विकल्प ही नही होता है। परम संवर भाव में आरूढ़ रहता है। कदाचित् स्वानुभव के बाहर हुए तो शुद्ध आत्मा के स्वरूप की भावना से मान के कारणों का विजय करता है। आत्मा में परकृत मानापमान प्रवेश ही नहीं करते हैं। मैं

एकाकी, परब्रह्म, परम पुरुष परमात्मा हूं, इस भाव में तन्मय होकर मान का अभाव करता हुआ परम तृप्ति को पाता है।

---

१३७. उत्तमआर्जव, संवरभाव

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए परतंत्रता कारक कर्म-पुद्गलों के आस्रव के निरोध का उपाय विचार रहा है। दशलक्षण धर्म में उतम आर्जव भी परम संवर भाव है। उतम या उत्कृष्ट या श्रेष्ठ ऋजुता या सरलता या सहज स्वाभाविकता हर एक आत्मा का अपना ही गुण है। उसमें कोई प्रकार की विकारता या कुटिलता या वक्रता नहीं है। यह एक साम्यभाव है, जहाँ राग द्वेष मोह की या अज्ञान की या वीर्यहीनता को कोई विकृति नही है, परम अखंड ज्ञान व अतीन्द्रिय आनन्द का आत्मा एक परम गंभीर रत्नाकर है, जहां आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव में या निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता में ठहरता है। पर में प्रवृत्ति का अभाव करता है। स्वानुभवमय हो जाता है। परम निराकुलता से आनन्दामृत का पान करता है। वहाँ उत्तम आर्जव धर्म झलकता है। मायाचार पिशाचिनी का आक्रमण कुछ भी दोष उत्पन्न नहीं कर सकता। जो अज्ञानी हैं, संसारासक्त हैं, धन कण परग्रह में मोही हैं, पांचों इंद्रियों के सुख के लोभी हैं, वे परपदार्थों का संयोग मिलाने के लिए मन में मायाचार को बिठाकर हिंसात्मक भावों में परिणमन करते हैं। पर को ठगने के लिए विषभरे मिष्ट वचन बोलते हैं। काय से वंचना करके व्यवहार करते हैं। पर को अपना विश्वास दिलाकर प्रेम दिखाकर ठग लेते हैं। पर पीड़ाकारी वर्तन से व कुभावों से अशुभ कर्मों का आस्रव करते हैं। संसार में कर्माधीन होकर स्वाधीनता खोकर घोर कष्ट पाते हैं। उत्तम आर्जव धर्म को माया की मलीनता से अशुचि कर लेते हैं।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव माया के दोष से अपने को बचाते हैं। जब वे सर्व परसे विमुख होकर अपने शुद्धात्मा के स्वभाव में रमण करते हैं, निर्विकल्प समाधि का लाभ करते हैं तब उदय प्राप्त माया-कषाय ही उस ज्ञानी की शांत छबि को देखते ही भाग जाती है, निर्जीर्ण हो गिर पड़ती है। जब ज्ञानी स्वानुभव से बाहर होता है तब यदि माया कषाय का उद्वेग होता है तो यह ज्ञानी शुद्धात्मा की भावना रूपी खड्ग से उसके वेगसे अपने को बचाता है। उस ज्ञानी को यह भावना होती है कि जिस सुख के लिए सर्व संसारी प्राणी तृषातुर हैं वह सुख तो मेरे ही आत्मा का स्वभाव है। मुझे बिना किसी पर द्रव्य की मदद के स्वयं प्राप्त होता है। मैं उस सत्य सुख को पाकर परम कृतार्थ व संतोषी हूं। फिर मैं पर वस्तु की चाह करके क्यों मायाचारी हिंसक बनूं। अज्ञानी इन्द्रिय-सुख को ही सुख मान करके भूल से भूले हुए मायाचारी होकर कर्मों की परतंत्रता में बन्धते हैं। ज्ञानी स्वसुख में सन्तोषी रहकर उत्तम आर्जव धर्म का स्वाद लेते हैं, संवर भाव से माया के द्वारा होने वाले कर्मास्रवों से बचते हुए व शांत रस का पान करते हुए स्वतंत्रता के मार्ग पर बढ़ते जाते हैं।

---

१३८. उत्तमसत्य-संवरभाव

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता के विरोधी पुद्गलमई कर्मों को जानकर उनके आगमन को रोकने के लिए, उनके संवर के कारण भावों का मनन कर रहा है। दशलक्षण धर्म में उत्तमसत्य आत्मा का स्वभाव परम संवर भाव है, उत्तम सत्यरूपी सूर्य के सामने किसी भी असत्यमय अन्धकार के आने की संभावना नहीं है। जैसा जो पदार्थ है, जैसा उस पदार्थ का मूल स्वभाव है, वही उसका उत्तम सत्य धर्म है। आत्मा एक अभेद अखण्ड अमूर्तीक पदार्थ है, स्वानुभव-गम्य है। मन के तर्कों से, वचन के जल्पों से, काय के संकेतों से परे है,

नय प्रमाण निक्षेपों के विचार से बाहर है। एक ज्ञायक परम वीतराग आनन्दमय पदार्थ है। जो आत्मा के यथार्थ अनुभव से बाहर हैं, आत्मज्ञान रहित हैं, वे मन, वचन, काय द्वारा शास्त्रों की या अनुभवी गुरु की सहायता से आत्मा के सत्य स्वभाव को पहचानने का उद्यम करते हैं तब गुण, गुणी, या धर्म धर्मी भेद करके पुद्गलादि पांच द्रव्यों से भिन्न स्वयं उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप या गुण पर्याय सत् स्वरूप आत्मा को समझते हैं कि यह नित्य अनित्य व एक अनेक रूप है। परिणमनशील होने से अनित्य व गुण व स्वभाव को सदा स्थिर रखने की अपेक्षा नित्य है, अखण्ड अभेद होने से एक है, अनेक गुणों को व्यापक रूप रखने से अनेक है। निश्चयनय से यह परम एकत्व में लीन व परम शुद्ध है। जो कोई ज्ञानी अपने आत्मा के सत्य स्वभाव को जानकर उसमें मगन होता है वहाँ अज्ञान व माया कषाय के उदय का कोई असत्य विकार प्रगट नहीं होता है।

अज्ञानी जीव आत्मा के उत्तम सत्य धर्म को न जानकर विनाशीक व असत्य इन्द्रियसुख की तृष्णा से मोहित होकर धनादि पर-वस्तुओं की कामना करते हैं, उनके लाभ के लिये असत्य मायाचार पूर्णविचार करते हैं, असत्य मायावी वचन बोलते हैं। असत्य मायापूर्ण क्रियाएँ करते हैं, अपने सत्य धर्म को व पर प्राणियों को कष्ट देकर उनके भाव व द्रव्य प्राणों की हिंसा करके कर्मों का संचय करके भव में भ्रमण करते हैं। ज्ञानी अपने सत्य स्वभाव में संतोषी रहते हैं। किसी भी परभाव की पुण्य या पाप की या किसी भी पर पदार्थ की, इन्द्र चक्रवर्ती की विभूति की या खण्ड ज्ञान की व नाशवंत सुख की कामना नहीं करते हैं। जब वे ज्ञानी अपने उत्तम सत्य धर्म में आरूढ़ होकर परम एकत्व में लीन हो आत्मानंद का स्वाद लेते हैं तब कोई असत्य मन वचन काय के विकल्प ही नहीं उठते हैं, कर्मों के आक्रमण से बचे रहते हैं। जब कभी ज्ञानी जीव आत्मा के उपवन से बाहर होते हैं तब पूर्वबद्ध कषायों के उदय से असत्य कल्पनाओं का आक्रमण होने लगता है तब

वे उत्तम सत्य धर्म की भावना से उसे निरोध करते हैं। मैं एकाकी, असंग, परम शुद्ध व निरंजन परमात्मतत्त्व हू, परम निस्पृह हूं, मुझे कोई पर से कोई प्रयोजन नही, यही भावना परम संतोषप्रद व सुखदाई है।

---

१३९. उत्तमशौच का सवंरभाव

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये अपने स्वभाव के विराधक कर्मो का सबन्ध मेटना चाहता है, उनके आगमन के द्वारो को बन्द करना चाहता है।

दशलक्षणधर्म में उत्तम शौच परम संवरभाव है। आत्मा परम शुचि है। इसमे किसी प्रकार लोभ की मलीनता नही है। आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चारों से परम पवित्र है। यह आत्मा अपने अनेक पवित्र गुणो का व स्वभावो का समूह रूप अभेद व अखंड व अमिट अविनाशी द्रव्य है। इसके अमूर्तीक असंख्यात प्रदेश चिदाकार परम पवित्र हैं। इस तरह का इसका क्षेत्र पवित्र है। इसके शुद्ध गुणो का समय समय परिणमन भी शुद्ध है। इस तरह इसका काल पवित्र है। इसके ज्ञान दर्शन सुख वीर्य सम्यक्त्व चारित्र आदि सर्व ही भाव पवित्र है। अपवित्रता परद्रव्य के प्रवेश से व सपर्क से आती है। आत्मा सत् पदार्थ है, इसमें अपने आत्मचतुष्टय की सत्ता है। इसके भीतर अन्य अनन्त आत्माओ की अनत परमाणु व नाना प्रकार कार्माण, तैजस, आहारक व भाषा व मनोवर्गणादि स्कन्धा की, धर्मास्तिकाय की, अधर्मास्तिकाय की, आकाश द्रव्य की व असंख्यात कालाणुओ की सत्ता नही है। इस सत्ता का द्रव्य क्षेत्र काल भाव एक सत्ताधारी आत्मा मे नहीं है।

इसलिये निश्चय से या वस्तु—स्वभाव से हर एक आत्मा परम पवित्र है। रागद्वेष मोहादि अशुद्ध भावों का तो कहीं पता नहीं

है। हर एक आत्मा परम तृप्त है, अपने अतीन्द्रिय आनन्द में मग्न है, परम सन्तोषी है, परम कृत्कृत्य है। इस तरह उत्तम शौच धर्म आत्मा का स्वभाव है। जहां इस शौच धर्म का साम्राज्य होता है वहां कोई कर्म का आस्रव नही हो सकता। अज्ञानी जीव अपने अटूट व अनन्त ज्ञानानंद के भंडार को भूलकर सांसारिक सुख व मान के भूखे होकर महान लोभ कषाय के वशीभूत हो जाते हैं। अपनी उपयोग की भूमिका को मलीन कर डालते हैं तब विश्व भर की सम्पदा की कामना करते हैं लोभ से मलीन होकर न्याय अन्याय के विचार को, अहिंसा व दया के भाव को भूल जाते हैं। जगत के प्राणियों को घोर कष्ट देते हैं। कर्मो की पराधीनता में बंध जाते हैं। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव वस्तु स्वभाव को पहचानते हैं। निर्मोही व वैराग्यवान होते हुए पूर्व बद्ध कर्मों के उदय से लाचार होकर मन, बचन; काय से वर्तन करते हैं तब कुछ कर्म आता है परन्तु सम्यक्त्व के प्रभाव से वह ससार में दीर्घकाल रुलाने वाला नही होता है।

ज्ञानी जीव जब अपने उत्तम शौच धर्म को सम्हाल करके अपने स्वभाव में तन्मय होकर परम संतोष से अपने शुद्ध आत्मिक आनन्द का स्वाद लेता हैं तब लोभ कषाय का आक्रमण व्यर्थ जाता है। कर्मों का बहुत कुछ संवर करता है। जब कभी यह ज्ञानी अपने आत्मिक उपवन से बाहर होता है तब लोभ कषाय के वेगों को रोकने के लिये पवित्र भावना भाता है। मैं एकाकी, निर्भय, अमूर्तीक, परम वीतराग व परम ज्ञानी, परमानंदमय, सर्व ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म से रहित परम पवित्र परमात्मा रूप परम संतोषी व परम धर्मी हूं। यही भावना संवर की श्रेणी है।

---

१४०. उत्तम संयम संवरभाव

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता के लाभ के लिये परतंत्रताकारक कर्मों से अपनी रक्षा चाहता है। इसलिये उनके आगमन के द्वारों को बन्द करने के लिए संवरतत्व की भावना करता है।

उत्तम संयम भी एक अपूर्व संवर भाव है। आत्मा स्वभाव से उत्तम सयमरूप ही है, यहां असंयम का कोई कारण नही है। आत्मा अमूर्तिक है, इन्द्रियो से अतीत है। अतीन्द्रिय स्वाभाविक आत्मा में इंद्रियों के विषयो की राग रूप कामनाए सम्भव नही है।

वह तो अतीन्द्रिय स्वाभाविक आनन्द मे परम तृप्त है। असत्य व विभाव रूप इंद्रिय सुख की न तो कामना है न उसका कोई प्रयत्न है। आत्मा के द्वारा प्राणों का घात भी सम्भव नही है। पृथ्वी आदि छः काय के प्राणियो के घात का विचार रागी मन करता है। घात का वचन वाणी से होता है, घात की क्रिया शरीर से होती है अथवा घात का कारण कषाय के उदय से प्राप्त अविरत भाव है।

आत्मा में न तो पुद्गल के कारण रचे हुए मन, वचन, काय के योग हैं न उनका हलन-चलन है न मोहनीय कर्म का ही संयोग है। केवल शुद्ध आत्मा द्वारा न तो अपने ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि शुद्ध प्राणों का घात है न अन्य पृथ्वी आदि जंतुओ के प्राणो का घात है, इसलिए आत्मा असयम से दूर परम सयम भाव का धारी है।

आत्मा एक ऐसा अखड व गुप्त दुर्ग है जिसमें किसी भी पर-भाव या द्रव्य की शक्ति नहीं है जो उसमे प्रवेश करके कोई बाधा कर सके। आत्मा परम अव्याबाध है। उत्तम संयम के प्रभाव से कोई भी असंयम कृत आस्रव सभव नहीं है। जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टी उस निश्चय व सत्य तत्व की श्रद्धा रखते हैं वे इन्द्रिय व प्राण असंयम से दूर होकर व मन, वचन, काय की क्रिया को बुद्धि पूर्वक निरोध करके भेद विज्ञान पूर्वक शुद्धात्मा के अनुभव में रमण करते हुए सवर भाव का उदय रखते हैं।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टी आत्म-संयम की महिमा को न जानते हुए पांचों इन्द्रियो के सुख की अभिलाषा से प्रेरित हो इन्द्रियों के भोग में व भोगने योग्य पदार्थों के संग्रह मे रात-दिन लगे रहते है। तब मन,

वचन, काय योगों से अपने व दूसरे प्राणियों के प्राणों का घात करते हैं, असंयम के कारण घोर पाप कर्मों का आस्रव करते हैं व स्वतंत्रता का घात करके परतंत्रता की बेड़ी में जकड़ते जाते हैं।

ज्ञानी जीव स्वानुभव की कला से उत्तम संयम भाव में दृढ़ता से स्थिर होकर असंयम कारक कषाय के आक्रमणों से दूर रहते हुए निर्विकार भाव से स्वाभाविक आनन्द-अमृत रस का पान करते हैं व स्वतंत्रता के मार्ग पर बढ़ते चले जाते हैं। जब कभी वे ज्ञानी स्वानुभव के परम दृढ़ किले से बाहर होकर विहार करते हैं तब अवसर पाकर इन्द्रिय असंयम व प्राण असंयम दोनों उसके ऊपर बड़े वेग से चढ़ाई करते हैं तब यह ज्ञानी निश्चय नय की भावना रूपी खड्ग से अपनी रक्षा करता है।

भावना यह है कि मैं एक अमूर्तीक, अविनाशी, निरंजन, वीत-राग, आनन्दमय परम पदार्थ हूं। मुझे किसी भी पदार्थ से रंच मात्र राग नहीं है। मैं अतीन्द्रिय आनन्द मे मगन हूं। मेरा स्वभाव परम शुद्ध है। यही भावना असंयम की कीच से रक्षा करने वाली परम सखी है। व यही भावना स्वतंत्रता का लाभ करने में परम सहायक है व सदा सन्तोषकारक है।

---

१४१. उत्तमतप, संवरभाव

ज्ञानी जीव स्वतंत्रता के लाभ के लिए उसके बाधक कर्मों के आगमन के निरोध के लिए उपाय का विचार कर रहा है। दशलक्षण धर्म में उत्तम तप महान प्रभावशाली व प्रतापशाली धर्म है। उसके तेज के सामने किसी शत्रु के पास आने की हिम्मत नहीं होती। आत्मा का तेज परम सहज ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य है। इस तेज के प्रताप से यह आत्मा अपने स्वभाव में ही तपा करता है या प्रज्वलित रहता है। इच्छाओं के निरोध को तप कहते हैं। यहां आत्मा में ऐसी अपूर्व

अतीन्द्रिय आनन्द में तृप्ति है या सन्तोष है कि इसके किसी पराधीन इन्द्रिय विषय सुख की या किसी मानादि पोषण करने की कामना खड़ी नहीं हो सकती है, न वहाँ मोह कर्म का संयोग है, जिसके कारण इच्छाओं का रोग उत्पन्न होता है। यह उत्तम तप स्वभाव में तपते रहना है—परम संवर भाव है। किसी भी कर्म के परमाणु मात्र के आगमन का अवकाश नही है। यह महान तप है।

जो साधुजन कर्म रज के निरोध के लिए व संचित कर्म-रज के दूर करने के लिए मन, वचन, काय का निरोध करके एकांत में आसन जमाकर स्वानुभव रूपी धर्म-ध्यान व शुक्ल-ध्यान करते हैं उसी तप का फल यह परम उत्तम तप है जो आत्मा का निज धर्म है। इस उत्तम तप धर्म को जो नहीं जानते हैं व जिन अज्ञानी जीवों को स्वानुभव रूपी तप का पता नही है ऐसे द्रव्यलिंगी जैन साधु मोक्ष की कामना रखते हुए व मोक्ष में अनन्त सुख पाने की लालसा रखते हुये जैन-सिद्धांत के व्यवहार तप का—उपवासादि ध्यान पर्यंत बारह प्रकार के तप को साधन करते हैं परन्तु अतीन्द्रिय सुख का ज्ञान व स्वाद न पाने से मिथ्या तप के ही साधक होते हैं।

जो कोई अज्ञानी बहिरात्मा विषय सुख की चाह रखकर इन्द्र, अहमिन्द्र पद, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलदेव पद या अन्य विषय भोग—सम्पन्न पदों के हेतु नाना प्रकार के शरीर के शोषण रूप तप करते हैं, वे कर्मों को सचय करके भव भ्रमण मे ही रहते है। वे कर्मों की पराधीनता से अधिक जकड़े जाते हैं। कभी भी स्वतन्त्रता का लाभ नही कर सकते हैं।

जो सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्मरस के स्वादी हैं वे सर्व प्रकार की इच्छाओं को बन्द करके एक स्वतंत्रता देवी की ही उपासना में मगन रहते हैं व इसी की अंतरंग भावना से प्रेरित हो मन, वचन, काय की गुप्ति रूपी किला बनाकर उसी में प्रवेश करके अपने शुद्धात्मा के भीतर परम समभाव से एकतान हो जाते हैं। उनके भीतर कर्मों का

प्रवेश होना बन्द होता जाता है। ये संवर के मार्ग पर आरूढ़ हैं। जब कभी वे आत्म-समाधि के किले के बाहर होकर विहार करते हैं तब कर्मों को प्रवेश होने का अवसर मिलता है। उस समय वे ज्ञानी आत्मा के स्वभाव की भावना भा करके उनसे बचने का उद्यम करते हैं।

मैं एकाकी परम शुद्ध निरञ्जन निर्विकार हूं, परम ज्ञानी हूं। अपने सहजानन्द में मगन हूं। सर्व जगत के विनाशीक पदार्थों की या भावों की चाहना से शून्य हूं। परम कृतकृत्य हूं। परम स्वतंत्र हूं। सुख सत्ता चैतन्य इन प्राणों को धारता हुआ सदा जीने वाला हूं। यही भावना संवर की उत्तम श्रेणी है व समसुख व शान्ति की प्रदाता है।

---

१४२. उत्तमत्याग, संवरभाव

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता के प्रकाश के लिये बाधक कर्मों के आगमन के निरोध के कारणों का विचार कर रहा है,-दशलक्षण धर्म में उत्तम त्याग एक अपूर्व संवर भाव है। यह आत्मा का स्वभाव ही है। आत्मा अपने अखण्ड व ध्रुव स्वभाव में रहा हुआ अपने ही शुद्ध गुणों को और शुद्ध पर्यायों को रखता हुआ अपने ही ज्ञानानन्द के भोग में परम तृप्त है। जो कुछ अपनी सत्ता से भिन्न है उस सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का आत्मा से पृथक्पना है। हर एक आत्मा दूसरे आत्मा से, सर्व पुद्गल के परमाणु व स्कन्धों से, धर्मास्तिकाय से, अधर्मास्तिकाय से, आकाश से तथा काल द्रव्य के असंख्यात कालाणुओं से जुदा है—उत्तम त्याग रूप ही है। यदि त्याग के अर्थ दान किये जावें तो भी यह आत्मा परम दानी है। यह आप ही दातार है, आप ही पात्र है। यह अपनी स्वानुभूति की रसोई से आनन्दामृत का आहार बड़ी शुद्धता से आपको दान करता है। संसार-रोग कभी न आवे इसके लिये यही परम औषधि दान है। ज्ञान द्वारा ज्ञान के वेदन का दान आपको देने से यही ज्ञानदान है। यही सर्व भय-भव का निवारक परम अभय दान

है । इस तरह चारों दानों को देता हुआ यह उत्तम त्याग धर्म से विभूषित है । ऐसे धर्म के सामने कोई कर्म-शत्रु प्रवेश नहीं कर सकता है । परम संवर का राज्य है ।

वीतराग सम्यग्दृष्टी जब इस प्रकार से उत्ताम त्याग-धर्म में स्थित होता है तब निर्विकल्प समाधि में या स्वानुभव में रमण करके आपसे ही आपको अतीन्द्रिय आनन्द का दान देता है, कर्मों के आस्रव से बहुत अंश में बचा रहता है । सराग सम्यग्दृष्टी जीव प्राणी मात्र पर करुणा भाव को धारण करके व व्रती पर विशेष प्रेमालु होकर आहार, औषधि, ज्ञान व प्राणी रक्षा रूप अभयदान देता हुआ किसी फल की कामना न रखता हुआ ससार भ्रमणकारी कर्मों के आस्रव से बचा रहता है । मिथ्यादृष्टी जीव बहुत भी पात्रदान व करुणा करे, प्राणी मात्र की रक्षा करे, ईर्या समिति पाले, बिना कुछ स्वार्थ के ज्ञान दान करे, औषधि वितरण करे, आहार दान करे तथापि शुद्धात्मीक रस को न पाने से व अन्तरग मे किसी विषय की चाह रखने से—मन कषाय के या लोभ कषाय के या माया कषाय के विकार से मलीन होता हुआ संवर भाव को न पाकर आस्रव को ही बढ़ाता हुआ परतन्त्रता की रस्सी से बंधता है । क्योकि सम्यग्दृष्टि के समान इसके भाव में न यथार्थ ज्ञान है, न भेद विज्ञान है, न सहज वैराग्य है । यह अज्ञानी अनन्तानुबंधी कषाय के रोग से पीड़ित है । दानी होकर भी दानी नही है । उत्तम त्याग के अंश मे भी शून्य है । तत्व ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जीव व्यवहार-त्याग धर्म को गौण करके व बंध का कारण जान के निश्चय त्याग धर्म मे रत होते हैं । सर्व चिन्ताओं को दूर करके स्वानुभव रस का पान अपने आत्मा को कराते हैं । ज्ञानानन्द का दान करते हुए कर्मों के आक्रमण से बचते हैं । जब कभी आत्मा समाधिमय घर से बाहर होते हैं तब कर्मों के आस्रव से बचने के लिए शुद्धात्मा की भावना भाते हैं । मैं एकाकी, परम निर्भय, परम ज्ञानी, परम वीतरागी, अनन्त वीर्य का धनी, परमानन्दी हूं, आपसे आपको स्वानुभव

रस का दान करता हूं। आप ही दातार हूं, आप ही पात्र हूं। यही भावना संवर की श्रेणी व स्वतन्त्रता लाभ की परम औषधि है।

---

१४३. उत्तमआकिंचन, संवरभाव

ज्ञानी जीव स्वतन्त्रता का चाहने वाला है। बाधक कर्म हैं, उनके आगमन के रोकने का विचार कर रहा है। संवर का मुख्य उपाय दशलक्षण धर्म में उत्तम आकिंचन धर्म भी है। यह आत्मा का स्वभाव है। निष्परिग्रह भाव आत्मा में पूर्ण कलश की तरह भरा है। आत्मा में अपने शुद्ध गुणों का अवकाश है। वहां स्थान ही नहीं है जो पर वस्तु का राग अपना घर कर सके। सर्वविश्व एक ज्ञान स्वभाव में व्यापक है। इन्द्रिय व मन से जिन पदार्थों को अल्पज्ञानी क्रम से ग्रहण करते हैं उन सबको तथा इंद्रिय अगोचर सर्व पदार्थों को आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान एक ही साथ बिना क्रम के उनकी भूत, भावी, वर्तमान पर्यायों के साथ स्पष्ट व यथार्थ जानता है। किसी स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द के ज्ञान की कमी नहीं है। इसलिए ऐसे पूर्ण ज्ञान में और कुछ जानने की इच्छा रूप परिग्रह हो नहीं सकता। आत्मा में सुख-स्वभाव भी पूर्ण है, जिससे हर क्षण आत्मानन्द रूपी अमृत का भोग है। उस भोग से ऐसी तृप्ति है व प्रसाद है कि फिर उससे किसी क्षणिक इन्द्रिय-सुख की लालसा रंच मात्र भी उदय नहीं हो सकती। वीर्य के अनन्त प्रकार गुण के कारण अपनी स्वाभाविक पुष्टता सदा रहती है जिससे निर्बलताजनित आकुलता बिलकुल हो नहीं सकती। पूर्ण अपरिग्रहभाव या आकिंचन्य धर्म शोभ रहा है। इस धर्म के सामने किसी कर्म-शत्रु के आगमन का साहस नहीं हो सकता।

आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टी साधुगण इसी तत्व के विकास के लिए अंतरंग बहिरंग ग्रन्थ को त्याग कर निर्ग्रन्थ हो जाते हैं। धन, धान्य, वस्त्र, अलंकार सब त्याग कर प्राकृतिक नग्न रूप में होकर विचरते

हैं। अंतरंग में सर्व विश्व के पर-द्रव्यों से राग, द्वेष, मोह त्याग देते हैं। एकाकी विविक्त होकर मन, वचन, काय को रोककर केवल एक अपने ही आत्म-द्रव्य को व उनकी गुणसम्पदा को अपनी मानकर उसके ही अवलोकन में मगन हो जाते हैं। निर्विकल्प समाधि में रत हो, अद्वैत भाव को प्राप्त हो जाते हैं, परमानन्द का भोग करते हैं। इस सवर भाव से कर्मों के आस्रव का निरोध करते हैं।

अज्ञानी—आत्मज्ञान रहित साधु बाहरी परिग्रह को त्यागते हुये भी या पूर्ण त्याग न करते हुये भी अन्तरंग मे ममता का मैल या मिथ्यात्व भाव को न त्यागने के कारण आकिंचन्य धर्म की गध भी न पाकर कर्मास्रव से बच नही सकते। संसार भ्रमणकारी कर्म का बन्ध करते हुए चारों ही गति में रुकते हैं। जहा किसी भी कषाय के अश से राग से वहां निष्परिग्रह भाव नही हो सकता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी निश्चिन्त होकर एकांत सेवन करते हैं : सर्व से निस्पृह होकर एक अपने ही शुद्ध आत्मा के उपवन मे रमण करते हैं। जब कभी आत्मानन्द के शांत सरोवर में मज्जन करके विकल्प के मैल से रहित हो जाते हैं व उसी का अमृत पान कर निराकुल व सन्तोषी होकर पूर्ण इच्छा रहित हो जाते हैं तब उत्तम व आदर्श रूप आकिंचन्य धर्म का साधन पाकर कर्मों के आस्रव से बचे रहते हैं, संवर की सीढ़ी पर चढ़ते जाते हैं। जब कभी ज्ञानी जीव आत्मा के उपवन के बाहर होते हैं तब भी लक्ष्यबिंदु या अपनी दृष्टि आत्मा पर रखते हुये आत्मा के स्वरूप की भावना भाते हैं। मैं एकाकी, परमज्ञानी, परमानन्दी, परम-निरंजन निर्विकार हू, ज्ञान का भंडार हूं, परमनिस्पृह हूं, अपने ही स्वाभाविक धन में सन्तुष्ट हूं, पर पदार्थ की चाह से शन्य हूं, परम वीतरागी हूं। यही भावना संवर की दूसरी श्रेणी है। यह भ्रमणकारी कर्मों को दूर रखने वाली है।

---

१४४. उत्तमब्रह्मचर्य—संवरभाव

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रता के लाभ के लिये कर्मों के आगमन के कारणों का विचार कर रहा है। दशलक्षण धर्म में उत्तम ब्रह्मचर्य सर्व शिरोमणि परम संवर भाव है। यह गुण आत्मा का निज स्वभाव है। आत्मा सदा ही अपने निज ब्रह्म स्वभाव में विहार या परिणमन करता रहता है। ज्ञान चेतनामय होकर, ज्ञान ही में मगन होकर ज्ञान द्वारा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद लिया करता है। यह कभी भी कर्म-चेतना व कर्मफल चेतना रूप अज्ञान चेतना की तरफ नहीं जाता। क्योंकि इन दोनों के साधनों का ही अभाव है। न कर्म करने वाले मन, वचन काय हैं न पुण्य पापमय कर्मों का जाल है। यह आत्मा अपनी सदा साथ रहने वाली नाम भेद होने पर भी स्वरूप में एकता रखने वाली स्वानुभूति तिया के भोग में इतनी रुचिपूर्वक संलग्न है कि इसे कभी भी जगत की तियाओं के संग मैथुन करने का विकार होना सम्भव नहीं है। यह शील शिरोमणि है, वेदों के उदय से रहित है; क्योंकि यह कार्माण, तैजस, औदारिक, वक्रियिक व आहारक पांचों ही पुद्गल-मयी शरीरों से रहित है। यह सदा असंग है, अकेला है। एकांत भाव को सेवन करने वाला है। परम निर्विकार, परम वीतराग, परम वीत-मोह है। इसी के ब्रह्मत्व भाव में कर्मों के ग्रहण की कोई सम्भावना नहीं है। न योग है, न कषाय है, न कोई गुणवान है, प्रायः आदर्श उत्तम ब्रह्मचर्य रूप संवर भाव का धारी है।

ज्ञानी सम्यग्दृष्टी साधुगण इसी आदर्श की भक्ति करते हुये मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदन, नौकोटी अब्रह्म या मैथुन भाव से अलग होकर व शुद्धोपयोग की भूमिका में चलकर उत्तम ब्रह्म-चर्य धर्म का सेवन करते हुये मैथुन कृत आस्रवों के दोष से अलग रहते हैं।

अज्ञानी बहिरात्मा संसारासक्त प्राणी स्पर्श इन्द्रिय के भोग को ही सुख का कारण मानकर वेद के तीव्र उदय के कारण काम भाव से

पीड़ित होकर कुशील भाव से रंगकर व नीति अनीति को त्याग कर अब्रह्म का सेवन करके तथा ब्रह्मभाव जो आत्म-समाधि है उसे कभी भी न पाते हुए कर्मों के बंध से बंधकर उसके विपाक से भव-भ्रमण किया करते हैं। अपने ही घर में विराजित स्वात्मानुभूति रूपी परम पतिव्रता स्त्री की तरफ रंचमात्र भी लक्ष्य न देते हुए उसे पति-विरहिणी, वियोगिनी बनाये रहते हैं। सम्यग्दृष्टी गृहस्थ अणुव्रती, महाव्रती होने की कामना रखते हुये जिस तरह अपनी स्वात्मानुभूति तिया में सन्तोष रखते है वैसे ही शरीर सम्बन्धी स्व-स्त्री में सन्तोष रखते हुये अन्तरंग परभाव रमणरूप, व्यभिचार बहिरंग पर-स्त्री रमणरूप, व्यभिचार से बचे रहते हैं। अतएव भव-भ्रमणकारी कर्मों के आस्रव से कभी बाधित नहीं होते हैं।

ज्ञानी जीव निश्चय रत्नत्रय धर्म की शरण में जाकर मन, वचन काय की गुप्ति का किला बनाकर व उसी में परम निश्चत व निर्भय होकर निवास करते हैं। स्वात्मानुभूति अपनो परम पवित्र शीलस्वभावी स्त्री के भोगों में परम एकता से ऐसे संलग्न हो जाते हैं कि भोक्ता-भोग्य द्वैतभाव से परे होकर एक ही अद्वैत ब्रह्मभाव में रम जाते हैं। संवर की उच्च श्रेणी पर आरूढ हो जाते हैं। जब कभी इस गुप्तिमय किले से बाहर विहार करते हैं तब आत्मीक भावना की खड्ग से आस्रव के कारण परभव में रमणता को निवारते हैं। मैं एकाकी चिद्रूप हूं, परम शीलवान हूं, ब्रह्मरूप हूं, परमशांत व निर्विकार हूं। परम ज्ञान व परमानंद का सागर हूं, देहरहित सिद्ध के समान हूं, यही भावना संवर की द्वितीय श्रेणी है।

---

१४५. क्षुधापरीषह-संवरभाव

ज्ञानी जीव कर्मों को स्वतंत्रता में बाधक समझ कर उनके आगमन के निरोध के उपायों का विचार कर रहा है। बाईस परीषहों का जय संवारभाव बड़ा उपकारी है। जो सहनशील वीर योद्धा होता है

वही युद्धक्षेत्र में साहसपूर्वक शत्रुओं का सामना करके विजय लाभ कर सकता है। मोक्षमार्ग पर आरूढ़ यतिगण शुद्धोपयोग की व वैराग्य की भावना से कर्मोदय से उपस्थित परीषहों को शांतिपूर्वक जीतते हैं जिससे रत्नत्रय मार्ग से नहीं डिगते। ऐसे वीर साधु कर्मों का संवर करते हुए निर्जरा भी करते हैं। निश्चय से विचारा जावे तो आत्मा स्वभाव से ही क्षुधा परीषह का विजयी है। इसके पास अनन्त बल है, निरन्तर अतीन्द्रिय आनंद का भोग है जिससे परम तृप्ति व सन्तोष है। क्षुधा की बाधा बल की कमी से अन्तराय कर्म व असातावेदनीय व मोह के उदय से होती है। आत्मा अशरीर है, कर्मबन्ध रहित है, कर्मोदय की कोई सम्भावना नहीं है।

पुद्गल शरीर साथ रहने पर उसके पोषण के लिए पुद्गल ग्रहण की जरूरत पड़ती है। इसीलिए संसारी शरीरधारी प्राणी पांच प्रकार आहार करते हैं—लेपाहार, ओजाहार, कवलाहार, नोकर्माहार, कर्माहार। आत्मा के अमूर्तीक शुद्ध प्रदेशों में पुद्गल प्रवेश ही नहीं कर सकते हैं। आत्मा क्षुधा की बाधा को कभी उत्पन्न ही नहीं कर सकता है। यह तो सदा ही अनादि से अनन्त काल तक परम निस्पृही, परम वीतराग, परम निर्विकार, परम संवरभाव का कवच ओढ़े रहता है। कर्मों के आक्रमण का कोई द्वार ही नहीं है।

निश्चय से आत्मा को ऐसा समझकर निर्ग्रन्थ यतिगण मोक्ष-मार्ग पर चलते हुये जब कभी शरीर में बाहरी कारण उपवासादि आहार का अलाभादि व अन्तरङ्ग कारण तीव्रअसातावेदनीय मोहकर्म के उदय से क्षुधा की बाधा से पीड़ित हैं तब तुर्त ही शरीर को अपने से जुदा जानकर अपने आत्मा के शुद्ध स्वभाव में मन को दबा देते हैं। निर्बाध आत्मानुभव जागृत करके अतीन्द्रिय आनन्द का शांतरस पान करने लगते हैं। स्वसंवेदन के प्रभाव से क्षुधा वेदना के विकल्प से दूर हो जाते हैं। सिद्ध भगवान के समान आत्मरस मगन होकर क्षुधा परीषह के विजयी हो जाते हैं। स्वरूप रमणता अन्तर्मुहूर्त से अधिक

नहीं रख सकते हैं। तब फिर क्षुधा की बाधा का विकल्प हो उठता है उस समय साहसी धीर साधुगण कर्मोदय का विचार करके विपाक-विचय धर्मध्यान की भावना करते हैं व शरीर को सडन-गलनस्वभाव जानकर मैं आत्मा हूं, शरीर नहीं, मैं स्वभाव से परम बली, परम तृप्त व अनंत ज्ञानदर्शन व आनन्द से पूर्ण हू, शरीर तप का सहकारी है, ऐसा जानकर इस तन को भिक्षावृत्ति से प्राप्त शुद्ध आहार से ही पोषण करूगा। ऐसा समय आने तक क्षुधा की बाधा को समभाव से सहन करूंगा। संसार में अनन्तवार पराधीनपने से आहार का लाभ नहीं हुआ। उस काल की वेदना के सामने यह वेदना कुछ भी नहीं है। इस बार क्षुधा के परीषह को जीतकर कर्मों का आस्रव रोकते हैं।

अज्ञानी बहिरात्मा तपसी क्षुधा की बाधा से पीड़ित हो स्वच्छंद होकर कन्द मूल फल व अभक्ष्य भोजन दिनरात के विचार बिना ग्रहण करते हैं, वे मोक्षमार्ग से बाहर चलकर तीव्र कर्मों का बन्ध करके संसार-वन में भ्रमण करते हैं।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी सर्व ही प्रकार के कर्मों के उदय को समभाव से ज्ञातादृष्टा होकर वेदन करते हुए व मुख्यता से अपने निश्चय तत्त्व का मनन करते हुये कि मैं सर्वकर्म व नोकर्म से रहित चैतन्यमई अमूर्तीक परमात्मा हूं, क्षुधा की पीड़ा को सहते हुये भी कर्म की निर्जरा करते हैं। संसारवर्द्धक आस्रव से बचे रहकर ज्ञान की भूमिका में सदा खड़े रहकर वीर सिपाही के समान मोक्ष का मार्ग तय करते हैं व रहते है।

———

१४६. पिपासापरीषह–संवरभाव

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता के बाधक कर्मों के आगमन के निरोध के कारणो का विचार कर रहा है। बाईस परीषहों में पिपासा परीषह भी एक संवर भाव है। ज्ञानी तत्त्वदृष्टि से या निश्चयनय से विचारता

है तो ऐसा झलकता है कि मैं तो अमूर्तीक ज्ञाता हूं, परम शुद्ध हूं। मेरे में न तृष्णा का, न पानी की प्यास का कोई सन्ताप सम्भव है। मेरे में क्षयोपशमज्ञानजनित भाव-इन्द्रिय नहीं, न क्रम से जानने का विचार है, न मोहनीय कर्म है, न द्रव्य इन्द्रियें हैं। अतएव इन्द्रिय विषयसुख की तृष्णा नहीं हो सकती, न औदारिक न वैक्रियिक शरीर है, जिससे भोजनपान की आवश्यकता हो, व कभी पानी की प्यास की बाधा हो। मैं तो सदा ही अतीन्द्रिय आनन्द अमृत का सुखद व तृप्ति-कारक पान करता रहता हूं। मेरे भीतर स्वभाव ही से पिपासा परी-षह संवरभाव है। कोई आर्तभाव सम्भव नहीं है, न कर्म-पुद्गलों का प्रवेश ही सम्भव है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जैन-मुनि मोक्षमार्ग पर चलते हुए निर्जन स्थानों में आत्मतप व रूप तप करते हैं। दिवस में एकबार ही भिक्षा वृत्ति से भोजनपान करते हैं। अंतरायों को बचाकर शास्त्रोक्त शुद्ध भिक्षा हाथरूपी पात्र से करते हैं। कभी रूखा आहार लेने से व पानी कम पीने से व भोजन लेते हुये ठीक पानी न पीकर अंतराय पड़ जाने से व गर्म मौसम में पवन की उष्णता से व उपवास के कारण व अन्तरङ्ग में असातावेदनीय कर्म के तीव्र उदय से प्यास की बाधा हो जाती है, उसी समय ज्ञानी मुनि शरीर से भिन्न अपने आत्मा के स्वरूप का मनन करते-करते भावश्रुतज्ञान से स्वसंवेदन या स्वात्मानुभव में उपयोग को ऐसा एकाग्र कर देते हैं कि जिससे आत्मीक आनंदरस का स्वाद आने लगता है, शरीर की बाधा से लक्ष्य दूर चला जाता है। एक अन्तर्मुहूर्त तक आत्मीक मद में ऐसी उन्मत्त दशा रहती है। फिर प्यास का विचार हो उठता है तब जिनागम का विचार करते हैं कि यह प्यास तो बहुत कम है। मैंने तो इस संसार वन में भ्रमण करते हुये पराधीनपने नरकगति में व पशुगति में व दीनहीन मनुष्यगति में असह्य प्यास की वेदना सही है। कई-कई दिवस तक पानी की बूंद तक नहीं मिली है, प्यास से तड़फड़ाता रहा हूं। फिर यह बाधा शरीर

में है। मैं तो ज्ञाता हूं, मेरे में कोई बाधा नहीं है, मोह से कष्ट प्रतीत होता है। मुझे इस पुद्गलिक बंदीगृह के समान शरीर से मोह न करना चाहिये—मोह भाव को जीतना चाहिये।

आत्मा के स्वभाव के मनन से ही आत्म-उपवन में क्रीड़ा करनी चाहिये। इस तरह तत्त्वज्ञान के रस से प्यास की बाधा को शमन करते हुए आर्त-ध्यान से बचकर धर्म-ध्यान की शीतल छाया में विश्राम करते हुए पिपासा परीषह जय करके संवर भाव को पाते हुए अशुभ कर्मों के बंध से बचते हैं।

अज्ञानी बहिरात्मा तपसी प्यास की बाधा होने पर किसी शास्त्रोक्त नियम को न पालते हुए व रात-दिन का विचार न रखते हुए, शुद्ध, अशुद्ध पानी का विवेक न करते हुए नदी सरोवर, कूप आदि से जल पीकर तृष्णा को बुझा लेते हैं व जब तक प्यास सताती है, आर्त-ध्यान से पीड़ित रहते हैं। अज्ञान, मिथ्यात्व व अविरत मान व लोभ कषाय व योग की चंचलता से तीव्र कर्म का आस्रव करते हैं, कर्म के उदय से भव में भ्रमण करते हैं, वे पिपासा परीषह संवर भाव को कभी नही पाते।

सम्यग्दृष्टी जीव कैसी भी अवस्था में हो शरीर से व शरीर में परिणमन से अपने आत्मा को सर्वथा भिन्न व पृथक् देखता है। कहां जड़त्व, कहां मैं ज्ञानी आत्मा, कहां मूर्तीक सड़न गलनस्वभावी शरीर कहां मैं अमूर्तीक अविनाशी आत्मा, कहां यह अपवित्र शरीर, कहां मैं ज्ञानी परम पवित्र आत्मा। दुःखकारी शरीर में व सदा ही सुखी आत्मा। इस तरह आत्मा के मनन से वे शरीर की बाधा से उदास रह संतोषमय वारि का पान करते हैं व संवर की भूमि में गमन करते हैं।

---

१४७. शीत परीषह संवरभाव

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रता के लाभ हेतु बाधक कर्म-शत्रुओं के प्रवेश के द्वारों को बन्द करने का विचार कर रहा है। तीसरी परीषह शीत है। वीर मोक्षमार्गी साधुजन कर्मों का क्षय करने के लिए निर्ग्रन्थ पद को, सर्व परिग्रह रहित नग्न प्राकृतिक रूप को, तब ही धारण करते हैं जब अपने ही शरीर को शीत ऋतु के सहने योग्य आर्तभाव रहित सानन्द रूप में तैयार पाते हैं। वे वीर तत्व-ज्ञानी जब तक शरीर को शीत-बाधा सहने योग्य नहीं पाते हैं तब तक वस्त्र परिधान करके श्रावक के परिग्रह परिमाणव्रत को धारकर यथायोग्य ध्यान स्वाध्याय करते हैं। परन्तु उतने चारित्र से प्रत्याख्यान कषाय का बल सर्वथा निरोध नहीं कर सकते, जिस कषाय के त्याग बिना निर्ग्रन्थ यति का वीर बाना धारण नहीं किया जा सकता।

जब शरीर को शीत स्पर्श सहने योग्य पाते हैं तब उत्तम जिन-लिंग सहर्ष स्वीकार करके पक्षी के समान यत्र-तत्र विहार करके नदी-तट व मैदान में ध्यान का आसन लगाकर आत्मा के शीतल उपवन में रमण करते हैं। ऐसा होने पर भी यदि हिम पड़ने से वायु अति ठण्डी हो जाती है, शरीर को बाधाकारी प्रतीत होती है, तब वे वीर-साधु शरीर के ममत्व से रहित होकर मैं आत्मा अमूर्तीक हूं, इस भाव में प्रवेश करके विचरते हैं कि निश्चय से मेरा आत्मा असंग है—कार्माण, तैजस, आहारक, वैक्रियिक, औदारिक पांचों प्रकार के पौद्गलिक शरीरों से रहित है तथा परम गुप्त आत्मानुभव की गुफा में तिष्ठकर स्वानुभव की उष्णता से इतना गर्म है कि वहां प्रमाद-जनित शिथिलता व कोई शीत स्पर्श की बाधा सम्भव नहीं है, अनन्त वीर्य से परम पुष्ट है, ज्ञान दर्शन के निर्मल नेत्रों से सर्व विश्व का ज्ञाता दृष्टा है, परम ईश्वर स्वरूप परम वीतरागी है, ऐसा मनन करके वह साधु मन, वचन, काय की गुप्ति को सम्हाल कर निज आत्मा की परम गम्भीर व पुद्गल के स्पर्श रहित गुफा में प्रवेश करके आपसे ही

आपको आपमें ग्रहण करके एकतान हो, निर्विकल्प समाधि भाव को प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त के लिए अप्रमत्त गुणस्थान में आरूढ़ हो, साक्षात् भावलिंगी हो जाते हैं, तब शीत स्पर्श के विकार से भी रहित हो जाते हैं, परमानन्द अमृत का पान करते है।

पश्चात् जब फिर प्रमत्तगुणस्थान मे आते हैं तब शीत स्पर्श की बाधा को वेदते हुए ज्ञान के प्रभाव से आर्तध्यान न करके धर्मध्यान करते है। शरीर की ममता ही दु ख वेदन में कारण है, शरीर से वैराग्य भावना भाते हैं व दीर्घ संसार में पराधीनपने शीत की बाधा सहन करके, विचारते है कि उस महान असहनीय शीत के सामने यह शीत बहुत अल्प है, मुझे वीर सिपाही के समान कर्म के उदय को समता से सहन करना चाहिये। इस भावना से शीत परीषह पर विजय करते हैं।

मिथ्यादृष्टी अज्ञानी तपस्वी घोर शीत पड़ने पर स्वयं अग्नि जलाकर तापते है, अनेक प्रकार वस्त्रों को ओढ़ते है, शीतपरिषह से जीते जाकर, मोह-शत्रु के नचाये भव वर्न मे नाचते हैं, वे कभी भी परम शीतल मोक्ष महल के भीतर प्रवेश नही कर सकते। क्योंकि वे यथार्थ मोक्ष मार्ग से विरुद्ध चलते हैं।

सम्यग्दृष्टी जीव गृहस्थ हो व साधु हर अवस्था में शुद्ध निश्चय नय की दृष्टि से अपने को परमात्मा के समान अशरीर व शीतादि स्पर्श की बाधा से रहित परम वीतराग परमानन्दमय देखकर सन्तोषी व सुखी रहते हैं। शरीर द्वारा वेदना को कर्मजनित व परकृत जानकर उसमें उदास भाव रखते हुए संसार को पीठ देते हुए वे ज्ञानी सम्यक्त्वी मोक्ष की तरफ मुख किये हुए बढ़ते जाते है।

---

१४८. उष्णपरीषह संवरभाव

ज्ञानी जीव स्वतन्त्रता के बाधक कर्मों के आस्रव के निरोध का विचार कर रहा है। निर्ग्रन्थ जैन मुनि प्राकृतिक भेष में यथाजात-

उपधारी हो कर्मों को भस्म करने के लिये आत्म-ध्यान की अग्नि जलाते हैं व कठिन-कठिन प्रदेशों में तपस्या करके संवर व निर्जरा का उपाय करते हैं। कभी उष्ण ऋतु में गर्म पवन के चलने से उष्ण परीषह का प्रकाश हो जाता है तब धीर-वीर मुनि शांतभाव से उस परीषह का विजय करते हैं। वे निश्चयनय से जानते हैं कि मैं तो एक केवल असंग आत्मा हूं, अमूर्तीक हूं, ज्ञाता दृष्टा हूं, मुझ अशरीर को उष्णस्पर्श बाधक नहीं हो सकता है। पुद्गल के गुण पुद्गल को बाधक हो सकते हैं। मैं किसी भी कर्म व नोकर्मवर्गणा से रहित हूं। मैं विश्व के जीव, अजीव, पदार्थों के स्वरूप का ज्ञाता हूं, परन्तु उनके द्वारा किसी भी प्रकार की वेदना का अनुभव नहीं करता हूं। जब अशुद्ध आत्मा किसी औदारिक आदि स्थूल शरार में व्यापक होता है और मोह के उदय से राग, द्वेष से वर्तन करता है तब स्पर्शजनित दुःख या सुख का अनुभव होता है। जैसे आंख दूर से आग को जलती हुई देखती है परन्तु आग के स्पर्श की वेदना से रहित है वैसे मेरा आत्मा सर्व प्रकार के पुद्गल के शीत व उष्ण परिणमन को जानता है परन्तु उनकी वेदना को अनुभव नहीं करता है। मेरा आत्मा स्वभाव से ही उष्ण परीषह विजयी है, परम संवर भाव का धारी है।

इस तरह निज तत्व का सत्य स्वरूप विचार करके वह जिन-भक्तसाधु अपने उपयोग को मन, वचन, काय की क्रिया से व सर्व पर-पदार्थों से हटाता है। और केवल एक अपने ही शुद्ध आत्मा के स्वरूप में उसे जोड़ देता है। आपसे ही आपको अपने ही लिए आपमें से आप ही स्वयं उपयुक्त हो जाता है। षट्कारक के विकल्प से परे होकर निर्विकल्प भाव में रम जाता है। अद्वैत स्वानुभव का प्रकाश कर देता है। अन्तर्मुहूर्त के लिए अप्रमत्त गुणस्थान में चढ़ जाता है। वीतराग भाव से संवर की ध्वजा फहराता है। फिर जब प्रमाद भाव आ जाता है तब अनित्य, अशरण, संसार व अशुचि व अनित्य भावनाओं को भाकर, शरीर को पृथक् लखकर व शरीर के परिणमन से

आत्मा का परिणमन भिन्न जानकर व अनन्त भूतकालीन भ्रमण में पराधीनपने से अनन्त बार तीव्र उष्ण बाधा का होना विचारकर व वर्तमान बाधा को अति तुच्छ जानकर वह ज्ञानी जीव सविकल्प दशा में समभाव से उष्ण परीषह का विजय करता है, संवर की भूमि में शयन करता है, मोक्षमार्ग से पतन नही करता है।

जो कोई संसारमोही मिथ्यादृष्टी तपस्वी तप करते हैं, आत्मीक रस के स्वाद को कभी नही पाते हैं, वे तीव्र उष्ण बाधा के होने पर उसे सहन करके शीतल सरोवर व नदी के जल मे स्नान करते हैं। वृक्ष की छाया में विश्राम करते हैं व परदे का उपयोग करते हैं। आकुलित होकर जिस-तिस प्रकार से शीतोपचार करते है, वे मोक्षमार्ग से विमुख होकर संसार के भ्रमण से काफी दूर नही होते है, उनको परम सुन्दर आध्यात्मिक उपवन की शीतलपवन का कभी स्पर्श नही होता है। वे आत्मध्यान की ठण्ड को नही पा सकते हैं। सम्यग्दृष्टी जीव शुद्ध निश्चय के प्रताप से अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञाता दृष्टा, वीतराग परमानन्दमई, निरंजन, निर्विकार जानते है। कर्मजनित सर्व प्रपंच से अपने को भिन्न समझते है। जब उनको शारीरिक बाधा का वेदन तीव्र आसातावेदनीय के उदय से होता है, तब कर्म विपाक से कर्मवर्गणाओ की निर्जरा होना विचार करके परम लाभ जानते हैं। तत्वज्ञान के प्रभाव से धीर-वीर मोह के तीव्र वेग से बचकर बलपूर्वक अपने ही आत्मा में स्थिर होते हैं व शीतल आत्मीक रस के पान से उष्ण परीषहादि बाधाओ को निवारण कर सुखी रहते है।

---

१४६. दंशमशक परीषह संवरभाव

ज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक स्वतन्त्रता के लाभ हेतु बाधक कर्म-शत्रुओ के प्रवेश के द्वारों को बन्द करने का विचार कर रहा है। जैसे बलवान शत्रु का सामना वही योद्धा कर सकता है, जो बड़ा साहसी हो व शत्रु के द्वारा किये गये आपत्तिमूलक प्रयोगों को धैर्य से

सहन कर सकता हो, युद्ध क्षेत्र से जरा भी पग पीछे न रखे व शत्रु को भगाने में प्रवीण हो, वैसे ही कर्म-शत्रुओं का संहार व पराजय वही परम धीर-वीर निर्ग्रन्थ जैन साधु कर सकता है जो नग्न शरीर रहने पर भी सानन्द आत्मध्यान कर सके, शुद्ध भावों के बाण चलाकर कर्मदल को भगा सके। तथा कर्मों के द्वारा उपस्थित की गई परिणामों को विह्वल करने वाली बाईस परीषहों को सहन कर सके। उनके द्वारा आकुलित न हो, मोक्ष मार्ग में कुछ भी पैर पीछा न रखे। नग्न शरीर पर बाधक दंशमशक, कीट, पिपीलिका, पतंग, मक्षिका आदि क्षुद्र जन्तु अपनी आहार संज्ञा के कारण आते है, उनके भावों में साधु से कुछ भी द्वेष भाव नहीं होता है। वे लाचार हो, अपना खाद्य ढूंढते हुए शरीर पर पतन करते हैं।

उस समय साधुगण तत्व विचार के बल से उस परीषह का विजय करते है। प्रथम तो निश्चयनय से विचारते हैं कि मैं आत्मा अमूर्तीक हूं। शरीर वस्त्र के समान बिलकुल भिन्न है। वस्त्र के काटे जाने से जैसे शरीर नही कटता है वैसे शरीर के काटे जाने से आत्मा का कुछ बिगाड़ नही होता है। कोठे के भीतर आग जलने से वस्त्रादि जलेंगे परन्तु का आकाश नही जल सकता; क्योंकि आकाश अमूर्तीक है। जो अमूर्तीक होता है वह अच्छेद्य व अभेद्य व अविनाशी व अमर होता है। मैं परमात्मा, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, परम वीतराग, परमानन्दमय हू। सदा ही अचल होकर निराकुल विराजता हूं, सर्व पुद्गलकृत आक्रमणों से रहित हूं, स्वभाव से ही खेद रहित हूं, पीड़ा के भावों से दूर हूं। मेरे आत्मा के शुद्ध प्रदेशों में दंशमशक परीषह का सहज ही विजय है। इस तरह विचार कर तुर्त अप्रमत्त गुणस्थान में चढ़ जाते हैं व निर्विकल्प आत्म-समाधि को जगाकर ज्ञानामृत का पान करके परम सुखी हो जाते हैं। शरीर पर पतंगादि बैठकर बाधा देते हैं, परन्तु उपयोग के संलग्न बिना भावेन्द्रिय से उसका ज्ञान ही नहीं होता है। अल्पज्ञानी–उपयोग एक साथ सब इन्द्रियों से व मन से काम नहीं कर सकता है।

जैसे साधु के पास पांच इन्द्रियां व मन तथा आत्मा है। इन सातों में से एक समय एक पर उपयोग आता है तब अन्य के विषयों का ग्रहण नहीं होता है। यदि कोई किसी दृश्य के देखने में उपयुक्त हो तो कानों मे शब्दों की टक्कारे लगने पर भी नाक में सुगन्धित वायु के झोके आने पर भी शब्द व गंध का ज्ञान नहा होता है। आत्मस्थ साधु का उपयोग जब आत्मा में एकतान हो गया तब अन्य छहों के बोध से वह बेखबर हो गया। निर्ग्रन्थ साधुपद वही धारता है, जो आत्मानुभव के नशे में चूर हो, अन्तर्मुहूर्त के पीछे ही बार-बार ही आत्मा की तरफ उपयोग को जोड़ सके। क्योकि जिन दो गुणस्थानों में साधु तिष्ठते हैं उनमें से हर एक का काल अन्तर्मुहूर्त है।

अप्रमत्त गुणस्थान में परीषह का अनुभव नही होता है। जब प्रमत्त मे आते है तब वेदना का भान होता है। उस समय बारह भावनाओ के विचार से वह दोर्घ ससार मे पराधीनपने से पर-जतुओं के द्वारा बध बधन सहन की बाधा को स्मरण करने से व उस वर्तमान बाधा के अति अल्प समझने से वे साधु सानन्द विजय करके सवर भाव की ध्वजा फहरा देते है। कायर मिथ्यादृष्टि तपस्वी दशमशकादि जंतुओं की बाधा नही सह सकते। वस्त्र परिधान करते हैं या पंखे का प्रयोग करते है, वे कभी भी शत्रु का सामना नही कर सकते। सम्यग्दृष्टी जिनेन्द्रमार्ग के प्रेमी कर्मजनित दशाओ को ज्ञाता दृष्टा हो देखते है। आत्मा के मनन से तृप्त रहकर कभी स्वमार्ग से विचलित नही होते। ज्ञान चेतना की रुचि मे अटल रहकर आत्म-रस का पान करते हैं, व सदा सुखी रहते हैं।

---

१५०. नाग्न्यपरीषह संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओं के आगमन के द्वारो के निरोध का विचार कर रहा है। बाईस परीषहो मे नाग्न्य परीषह भी है। जैन

के निर्ग्रंथसाधु भावलिंग और द्रव्यलिंग दोनों नग्न धारण करते हैं। अन्तर बाहर नग्न हुए बिना कर्म शत्रुओं के साथ युद्ध करने योग्य वीर योद्धा नहीं हो सकता। जो उभय रूप से नग्न नहीं हो सकते वे साधक होकर श्रावक के चारित्र को पालकर उस भव में या परभव में वीर सिपाही बनने की सच्ची भावना भाते हैं। रागादि उपाधि से रहित वीतराग विज्ञानमय शुद्धोपयोग तो अन्तरंग भावलिंग है। जन्म के बालक के समान प्रकृति रूप में नग्न दिगम्बर रहना बाहरी चिह्न द्रव्यलिंग है। बाहरी तुष्य दूर किए बिना तन्दुल से अन्तर की लाली हटाई नही जा सकती।

इसी तरह बाहरी वस्त्रादि परिधानादि परिग्रह हटे बिना अंतरंग मूर्छा या ममत्व भाव हटाया नहीं जा सकता। ऐसे वीर योद्धा नग्नवेषी साधु लज्जाभाव को जीतकर अपने को बालक के समान व जगत को स्त्री पुरुष के भेद रहित एक समान देखते हैं। यदि कदाचित किसी स्त्री आदि के निमित्त से कुछ अन्तरंग विकार उपज आता है तो उस समय बड़ी वीरता से उस नाग्न्य परीषह को जीतते हैं। निश्चयनय से विचारते हैं कि मेरा आत्मा सदा ही नग्न है। मैं अकेला एक स्वतन्त्र आत्मा हूं, मेरे पास किसी परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभाव का सम्बन्ध नहीं है। मैं सर्व ही अन्य आत्माओं से व पुद्गल के स्कध व परमाणुओं से व धम, अधर्म, आकाश व सर्व कालाणु द्रव्यों से बिलकुल ही भिन्न अपनी सत्ता रखता हूं। मेरे में कोई ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म व शरीरादि नोकर्म का कोई रंचमात्र सम्बन्ध नहा है। मैं अपने ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य सम्यक्-चारित्र आदि गुणों से भी ऐसा तन्मय हूं कि वे मेरे प्रदेशों में पूर्ण तथा व्यापक हैं। उनके साथ मेरा अभेद है, व्यवहारनय से ही भेद करके विचारा जाता है।

सर्व परिग्रह रहित मुझ असंग आत्मा के सहज ही नाग्न्यपरीषहजय संवरभाव है। ऐसा विचार कर वे साधु अप्रमत्त भाव में बढ़

कर अपने स्वरूप के ध्यान में लवलीन हो जाते हैं। सर्व चिंता से रहित होकर आत्मानन्दरूपी अमृतरस का पान करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब तीव्र कषाय के उदय से प्रमत्त गुणस्थान हो जाता है तब वैराग्य भाव को भाते हैं। विचारते हैं कि बालक को जैसे स्त्री पुरुष का विकल्प या विकार नही होता है, सहज ही सर्वत्र विहार करता है व निर्विकार रहता है, वैसे ही मुझे अब्रह्मभावविजयी परम निर्विकार रहना चाहिए। समदृष्टि से व भेदविज्ञान से जगत के नाटक को देखना चाहिये। शरीर परमाणुओ का पुज है व मानवदेह तो अपवित्रता का श्रोत है। स्त्री पुरुष दोनो के भीतर आत्मा एक समान है। इस तरह विचारधारा से विकार के मल को बहाकर पवित्र हो जाते है व शात-भाव से इस परोषह का विजय करते है। संवर की पूर्व में खड़े रहते है। निर्ग्रंथपदरहित जगत के साधु कामविकार को रखते हुए लाज भाव से वस्त्र रखकर विचरते है, वे बालक के समान निर्विकार नहीं होते है। वे निर्वाण का राज्य कभी नही पा सकते है। उनको भव मे चिरकाल भ्रमण करना पड़ता है। सम्यग्दृष्टी जीव तत्वज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को सदा ही एकाकी नग्न व पूर्ण ज्ञानी व परम वीतरागी, परमानन्दी, अमूर्तीक, अविनाशी मानकर उसी का मनन करते रहते है। स्त्री पुरुष के भेदा को कर्मकृत विनाशीक जानकर उनसे वैराग्य-भाव रखते है व कर्म के उदय मे थिरता रखकर व निर्भय होकर शांत-भाव से आत्मानन्द को लेते रहते है।

---

१५१. अरति परीषह–संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओं के आगमन के द्वारों के निरोध का विचार कर रहा है। निर्वाण का मार्ग दुष्कर है, साहसी धीर वीर जैन निर्ग्रन्थमुनि ही इस मार्ग पर चलकर कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे धीरवीर साधु ममता के त्यागी एकता के आराधक

होते हैं। वे महात्मा मनोज्ञ अमनोज्ञ पंचेन्द्रियों के विषयों में, शत्रु मित्र में, लाभ-हानि में, जीवन मरण में, सुख दुःख में समान भाव रखते हैं। इसीलिये वे श्रमण कहलाते हैं। ऐसे शिव-मार्ग के वीर सिपाही निर्जन स्थलों में विराजमान होकर परम आत्मध्यान का अभ्यास करते हैं। कदाचित् द्रव्य, क्षेत्र, काल की प्रतिकूलता होने पर व गृहस्थ सम्बन्धी रतियोग्य भोगों की स्मृति आने पर तथा चारित्रमोह के उदय से उनमें अरतिभाव उत्पन्न हो जाता है।

इस परीषह के विजय के लिये प्रथम तो वे निश्चयनय से विचार करते हैं कि मैं एक निराला आत्म द्रव्य हूं, अमूर्तीक हूं, पूर्ण दर्शन ज्ञान सुख वीर्य आदि गुणों से भरा हुआ हूं। न मेरे पास कोई पौद्गलिक शरीर है, न पांच इन्द्रियाँ हैं, न भावइन्द्रियरूप क्षयोपशम ज्ञान है, न मोह का उदय है। मैं आत्माराम सदा ही अपनी स्वानुभूतियों के साथ न गाढ़ प्रेम से रति किया करता हूं, अरति भाव उत्पन्न होने का कोई कारण ही नहीं है। सहज ही मुझे अरति परीषह का संवरभाव है। ऐसा विचारकर वे साधु मन, वचन, काय के विकल्पों को त्यागकर तथा उपयोग को सर्व ज्ञेय विषयों से समेटकर एक अपने आत्मरूपी ज्ञेय में तन्मय कर देते हैं।

निर्विकल्प समाधि में संलग्न होकर आत्मानन्दरूपी अमृत का पान करते हैं। जब तक इस अप्रमत्त भाव में आरूढ़ रहते हैं अरति परीषह का विकल्प भी नहीं रहता। अन्तर्मुहूर्त पीछे जो प्रमत्तगुणस्थान में आ जाते हैं तब वैराग्य भावना के बल से और इस विचार से कि मैंने भूतकाल में पराधीनपने बहुत बार अरति भाव को सहन किया है, उसके मुकाबिले में इस समय का अरतिभाव बहुत तुच्छ है तथा मैंने मोक्षमार्ग के भोक्ता का बाना स्वीकार किया है। मुझे तो कर्मोदय में समभाव रखना चाहिये। इस तरह अरति परीषह का विजय करते हैं। और शांतरस का पान करते हैं। जो तपस्वी मिथ्यादृष्टि हैं वे अरतिकारक द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के होने पर आकुलित होकर उसके

भी प्रतीकार के अनेक प्रकार उपाय करते हैं, वे पंचेन्द्रिय के विषयों के विजयी न होने से तथा शुद्धात्मीक रस का पता यथार्थ न पाने से संसार-मार्ग में ही रहते हुये कभी भी मोक्षमार्ग पर नहीं चल सकते हैं।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानी शुद्ध निश्चयनय के बल से भेदविज्ञान की अपूर्व शक्ति को रखते हुये अपने आत्मा को और परमात्माओं को एक समान शुद्ध देखते हुये समताभाव का सुन्दर रसपान करते हैं। ऐसे ज्ञानी गृहस्थ हो वा साधु, कर्मों के उदय से होने वाले मनोज्ञ या अमनोज्ञ सयोगों में समभाव रखकर व कर्म की निर्जरा होती हुई जानकर ज्ञाता दृष्टा रहते हैं और पुनः पुनः आत्मानद का लाभ करते हैं।

---

२५२. स्त्रीपरीषह संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म-शत्रुओं के आगमन के विरोध का विचार कर रहा है। संवर तत्व के अधिकारी वे ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर जैन मुनि हो सकते हैं जो सर्व आरम्भ परिग्रह से रहित होकर पन्च इन्द्रियों को कूर्मवत् संकोच करने वाले हों, जिन्होंने तृष्णा की दाह को आत्मीक आनन्द के शांत रस के पान से शांत कर दिया हो, जो अन्तर्मुहूर्त से अधिक आत्मीक आनन्द के लाभ से बाहर नहीं रहते हों, जिन्होने समभाव से सर्व प्राणी मात्र को एक समान देख लिया हो। स्त्री-पुरुष का विकल्प जिनके मन से निकल गया हो, ऐसे धीर वीर ऋषि मोक्ष-द्वीप के सच्चे पथिक होते हैं, रत्नत्रय मार्ग पर चलते हुए कर्मोदय से प्राप्त बाईस परीषहों का शाँति से विजय करते हैं, कभी उन्मत्त प्रमदाओं के मनोहर गान के श्रवण से, उनके रूप लावण्य के अवलोकन से, उनके हाव-भाव विलास बिभ्रम के कटाक्षों से, पूर्व ग्रह संबंधी कामरत के स्मरण हो जाने से अथवा किन्हीं चंचल स्त्रियों के द्वारा अनेक प्रकार नृत्य, कौतूहल, वाग्विलास आदि से मन डिगाने की

चेष्टा किये जाने पर अन्तरंग चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से स्त्री सम्बन्धी विकार भाव चित्त में आ जाने पर स्त्रीपरीषह को वे मुनि-गण इस तरह विजय करते हैं—प्रथम तो निश्चयनय से विचारते हैं कि मैं पौद्गलिक द्रव्य नहीं, मैं केवल शुद्ध आत्म-द्रव्य हूं, मैं परम-ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्य का धनी हूं। मैं निरन्तर स्वात्मानुभूतियों में परम सन्तोष से रमण करने वाला हूं, मुझ असंग के स्त्री परीषह संभव ही नहीं है। मैं सम्पूर्ण जगत की आत्माओं को अपने समान शुद्ध स्त्री पुरुष के भेद से रहित देखने वाला हूं। ऐसा विचार करके प्रमत्त गुण-स्थान से अप्रमत्त में चढ़ जाते हैं और अन्तर्मुहूर्त के लिए परम ब्रह्मचर्य में स्थिर होकर वीतराग भाव का अनुभव करते हैं, पश्चात् प्रमत्तगुण-स्थान में आ जाते हैं तब वैराग्य भावना से स्त्री परीषह का विजय करते हैं। वे विचारते हैं कि उत्तम धर्म-ध्यान के लिए मैंने निर्ग्रन्थ द्रव्य-लिंग धारण किया है, ब्रह्मचर्य महाव्रत का नियम लिया है, मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदनारूप नौ कोटि से अब्रह्म भाव का त्याग किया है। मैं संयमी हूं, जगत के विषयों का ज्ञाता दृष्टा मात्र हूं; राग, द्वेष करने का मेरा धर्म नहीं है, तथा जो मानव स्त्री के मोह मे ग्रसित हो जाते हैं वे संसार सागर में डूब जाते हैं, ऐसा विचार वे कामभाव के विकार को चित्त की भूमि से धो डालते हैं और वीर सिपाही के समान मोक्ष-मार्ग में गमन करते रहते हैं। जो मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा आत्मीक रस के स्वाद से विहीन तपस्या करते हैं, वे स्त्रियों के मोह-जाल में फंसकर भ्रष्ट हो जाते हैं, और अब्रह्म भाव से कभी भी ब्रह्मचर्य के आदर्श को नहीं पा सकते। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी ज्ञान, वैराग्य से भूषित होते हैं, वे परमरसिकभाव से स्वात्मानुभूति तिया में रमण करते हैं। ऐसे वीर पुरुष कर्मोदय में समभाव रखते हुए शुद्धात्मीक श्रद्धा के बल से शान्त रस का पान करते हैं।

---

१५३. चर्यापरीषह संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म-शत्रुओं के आगमन के निरोध का विचार कर रहा है। मोक्ष के अधिकारी वे ही धीर-वीर निर्ग्रन्थ मुनि हो सकते हैं जो सम्यग्दर्शन व ज्ञान चारित्रमयी निश्चय रत्नत्रय में आत्म-धर्म-रूप भाव मुनि-लिंग को धारण करते हैं। और सर्व आकांक्षाओं से रहित होकर आत्मीक आनन्द में तृप्त रहते हैं, परमाणु मात्र भी पर-पद की चाह नहीं करते। वे मुनि निश्चय चारित्रके सहकारी (निमित्त) कारण व्यवहार चारित्र को भी आचार-शास्त्र के अनुसार पालते हैं। इसलिए वे वर्षा काल के ४ मास सिवाय साधारण नियम के अनुसार नगर के बाहर ५ दिवस और ग्राम के बाहर एक दिवस से अधिक विश्राम नही करते हैं। निर्ममत्व भाव के लिए तथा धर्म-प्रचार के लिए और माधुरी वृत्ति को अवलम्बन करते हुए गृहस्थ को भाररूप न होने देने के लिये सदा विहार करते हैं। वे नंगे पैर पादत्राण बिना कंकरीली ऊंचे-नीचे पाषाण वाली गरम रेती, ठण्डी रेती आदि के विकट मार्गों में दिवस के समय प्रकाश के होते हुए चार हाथ भूमि आगे निरख कर धीरे-धीरे ईर्या-समिति पालते हैं। वे विश्व प्राणियो के दयालु किसी भी स्थावर या त्रस प्राणी को बाधा पहुंचाना नही चाहते। इसीलिए प्रासुक रौंदी हुई भूमि पर ही चलते हैं। पूर्व अवस्था में ग्रहण किये हुए नाना प्रकार वाहनों का स्मरण नहीं करते है।

विकट मार्ग पर चलते हुये कर्म के उदय से चलने की बाधा उपस्थित होने पर चर्या परीषह को इस प्रकार विजय करते हैं—प्रथम तो वह निश्चयनय से विचारते हैं कि मैं अमूर्तिक परम शुद्धात्मा हूं, ज्ञान-दर्शन, सुख-वीर्यादि सम्पदा का स्वामी हूं, मैं सदा अपनें ही स्व-रूप के भीतर ही चलता हूं व रमण करता हूं, मुझे शरीर सम्बन्धी चर्या की बाधा सम्भव नही है। ऐसा विचार कर वे अप्रमत्त गुणस्थान चढ़ जाते है, और एकतान होकर आत्मीक शुद्ध परिणति में रमण करते हैं । व परमानन्द का ऐसा उपभोग करते है कि चर्या का विकल्प

भी नहीं रहता। अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जब प्रमत्त गुणस्थान में आते हैं तब वैराग्य भावना से चर्या परीषह को विजय करते हैं। वे विचारते हैं कि मैंने अनेक जन्मों में निर्धन अवस्था में काष्ठभार लेकर नंगे पैर कोसों कड़ी धूप में चर्या की है, उसके सामने यह चर्या अति तुच्छ है। मुझे ऐसी-ऐसी छोटी-छोटी बाधाओं को वीर योद्धा के समान साहस पूर्वक जीतना चाहिए। इस तरह चर्या परीषह का विजय कर संवर भाव में दृढ़ रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी चलने की बाधा को न सहकर पदत्राण रखते हैं या अनेक प्रकार के वाहनों पर आरूढ़ होकर विचरते हैं, वे जीव मोक्ष के पथिक नहीं हो सकते। सम्यग्दृष्टि जीव कर्मोदय में निर्जरा होना अपना हित विचारकर कुछ भी आकुलित नहीं होते और अपने शुद्ध स्वरूप के विश्वास से सतोषी रहते हुये जब चाहे तब आत्मीक आनन्द रस का पान करते हैं।

---

१५४. निषद्यापरीषह संवरभाव
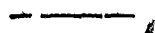
अज्ञानी आत्मा कर्म-शत्रुओं के आगमन के विरोध का उपाय विचार रहा है। मुक्ति-रमणी का वरण एक परमदुर्लभ पुरुषार्थ है, इसका साधन वही वीर कर सकता है, जो श्री महावीर भगवान के समान निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर परम शांति से उपसर्ग परीषह सहन कर सके, निराकुल होकर आत्म-ध्यान का अभ्यास करे। वीर दिगम्बर जैन साधु स्मशानभूमि, पर्वत की गुफा, भयानक वन आदि कठिन कठिन स्थानों पर पद्मासन, कायोत्सर्ग, वीरासन आदि अनेक आसनों को लगाकर व अन्तरंग में मन, वचन, काय के सर्व विकल्पों को त्याग कर निर्विकल्प समाधि में लय हो आत्मानन्द रस का पान करते हैं। कदाचित् ध्यान में बैठे हुए साधु को वन के सिंहादि पशुओं के शब्दों से व पूर्व गृहस्थ अवस्था में सुख जनक बैठने के आसनों के स्मरण से व कठोर भूमि के निमित्त काल तक स्पर्श से खेद भाव चारित्र मोह-

नीय के उदय से उत्पन्न हो जावें तो वे महात्मा इस निषद्या परीषह को इस प्रकार विचार करके विजय करते है—प्रथम तो निश्चय नय से विचारते हैं कि मैं शरीर नहीं, मन नही, द्रव्यकर्म नहीं, रागादि भावकर्म नहीं, पौद्गलिक मूर्तिक द्रव्य नही, मैं तो अमूर्तीक परम शुद्धात्म द्रव्य हूं। और सुख सत्ता चैतन्य बोध इन ४ अविनाशी प्राणों से सदा जीवित रहता हूं। मैं असंख्यात प्रदेशी हूं, मैं सदा ही अपने आत्मा की परम गुप्त गुफा में बैठकर अपने ही द्वारा अपने ही आनंद का सदा ही विलास किया करता हूं। भूत भावी वर्तमान तीनों काल में एकरस रहता हूं। मैं न साधु हूं, न गृहस्थ हूं। मैं वास्तव में नाम निर्देश से दूर हूं, गुंणगुणी के भेद से परे हूं, एक अभेद्य स्वानुभवगोचर पदार्थ हूं। मुझमें निषद्या परीषह का कोई अवकाश नहीं है, ऐसा विचार करके साधु अप्रमत्त गुणस्थान में चढ़ जाते हैं, और अतर्मुहूर्त के लिये सर्व विकल्पों से परे हो शुद्धोपयोग में रमण कर परमानंद का लाभ करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जब प्रमत्त गुणस्थान में आते हैं तब वैराग्य भावना के बल से व इस विचार से कि मेरी आत्मा ने भूतकाल में अनेक पराधीनताओं में रहकर निषद्या के घोर कष्टो को सहन किया है उसके सामने तुच्छ श्रम कुछ महत्व नहीं रखता है। इस तरह निषद्या परीषह का विजय कर संवरभाव में दृढता से जमे रहकर मोक्षमार्ग में उत्साह से आगे बढ़ते जाते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी आदि अनेक प्रकार कष्टप्रद तपस्या करते हुये मन में खेद प्राप्त करते हैं। वे ध्यान के आसन के कष्ट को न सह सकने के कारण आसन बदल लेते हैं, व आर्तध्यान में रत हो जाते हैं, वे कभी मोक्षमार्ग का साधन नहीं कर सकते। सम्यग्दष्टि ज्ञानी जीव निरंतर अपने स्वामित्व अपनी ज्ञानानंदादि विभूति में रहते हुये सदा ही अपने को अकर्ता और अभोक्ता मानते हैं, कर्मोदय से प्राप्त बाधाओं में कर्म की निर्जरा समझ लाभ मानते हुये परम सन्तोष रखते हैं तथा जब चाहे तब अपने भीतर भरे हुए आनंदसागर में आत्मानुभव रूपी जल लेकर पान करते हैं और परम शांति का विस्तार करते हैं।

---

१५५. शय्यापरीषह–संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओं के आगमन के निरोध का विचार कर रहा है। स्वतंत्रता लाभ उसी वीर महात्मा को हो सकता है जो आत्म-स्वतंत्रता का पुजारी हो, जो केवल अपने शुद्धात्मा का श्रद्धान ज्ञान चारित्र रखते हुये स्वानुभव में लीन हो। साम्यभाव व स्वसमय को ही परमधर्म जानता हो। जिसके भीतर निर्विकल्प समाधिभाव का साम्राज्य हो। जो श्री महावीर स्वामी २४वें तीर्थंकर के समान भाव-लिंग और द्रव्यलिंग से विभूषित हो। जैसे भावलिंग शुद्धात्मरमणरूप एक असंगभाव है, वैसे ही द्रव्यलिंग सर्वपरिग्रह रहित परमनिर्ग्रंथ असंगभाव है। यथाजातरूपधारी दिगम्बर मुनि ही उस ब्रह्मचारित्र को आचरण कर सकते हैं जो अतरंग चारित्र के लिये आवश्यक निमित्त कारण हैं। ऐसे ही वीर महात्मा बाईस परीषहों को विजय करते हैं।

जैन साधुगण स्वाध्याय, ध्यान व मार्ग में विहार के खेद को निवारण करने के लिये एक अन्तर्मुहूर्त मात्र कंकरीली खुरखुरी गर्म या ठंडी कैसी ही भूमि पर एक पखवाड़े काष्ठ के समान शयन करते हैं। अन्तरंग में भावना आत्मरस भाव की रखते हैं। इस तरह शयन करते हुयें कदाचित् कोई उपसर्ग या कष्ट आ पड़े अथवा गृहस्थ के जीवन में नाना प्रकार कोमल आसनो पर सुख से शय्या करने की बात स्मृति में आ जावे तब असातावेदनीय कर्म के उदय से शय्या परीषह का उदय हो जाता है। उस समय ज्ञानी साधु इस तरह विचार करते हैं—प्रथम तो वे निश्चयनय से विचारते हैं कि मैं अमूर्तीक अवि-नाशी चैतन्यमयी पदार्थ हूं, सहज ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि गुणों का पूर्णपने स्वामी हूं। मैं सदा ही समता की शय्या पर शयन करता हुआ आत्मानंद का निरन्तर भोग करता हूं। मेरा सम्पर्क किसी भी पर पदार्थ से नहीं है, जिससे मुझे शय्या परीषह सम्भव हो। ऐसा विचार कर अप्रमत्त भाव में आरूढ़ हो जाते हैं, और स्वानुभूति में तन्मय हो

शांत रसपान करते हैं। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब अप्रमत्तभाव में आते हैं,तब विचारते हैं—इस अनादिकालीन भवभ्रमण में मैंने पराधीनपने से अनेक बार कष्टप्रद शयन किये हैं, उन कष्टों के सामने वर्तमान कष्ट का विकल्प अति तुच्छ है, तथा मैंने मोहशत्रु के विजय करने का दृढ़ संकल्प किया है। मुझे उचित है कि समभाव की ढाल से कर्मोदय की खड्गों का निरोध करूँ। किसी भी तरह के तीव्र कर्मोदय में किंचित् भी आकुलित नहीं होऊं। मेरे सामायिक चारित्र की रक्षा आत्मवीर्य के दृढ़ प्रयोग से ही हो सकती है इत्यादि विचार कर शय्या परीषह का विजय करते हुये सवरभाव की भूमिका मे जमे रहते है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि तपस्वीगण इस परीषह को सहने में ,अस-मर्थ होकर नाना प्रकार कोमल आसनों पर शयन करते हैं, जब कि जैन साधु भूमि पर एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक निद्रा नही लेते तब ये तपस्वी घंटों निद्रा के प्रमाण में समय को बिताते हैं। ऐसे प्रमादी जन मोक्षमार्ग पर चलने के लिये असमर्थ हैं। वे कभी कर्म की पर-तंत्रता से छूट नहीं सकते। उनको आत्म-स्वातन्त्र्य का कभी लाभ नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव ज्ञानचेतना मे श्रद्धावान होकर निरन्तर ज्ञानरस का पान करते है। शुभ अशुभ कर्मों के उदय में समभाव रखत हुये आकुलित नहो होते। अपने को जीवन्मुक्त अनुभव करते हुये स्वातन्त्र्य के मार्ग पर बढ़ते जाते हैं और आत्मानंद का लाभ करते रहते हैं।

---

१५६. आक्रोशपरीषह–संवरभाव

ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि मैं अनादि अविद्या से ग्रसित था, पुद्गल कर्मकृत भावों में, रचनाओं में आसक्त था। पांच इन्द्रियों के विषयों में मग्न था, चार कषायों के वशीभूत था, अपने स्वरूप से बेखबर था, श्रीगुरु के प्रसाद से मुझे तत्वज्ञान का लाभ हुआ, कर्मों की

परतंत्रता से उदासी हुई, आत्म स्वातंत्र्य का प्रेम उत्पन्न हुआ। अब मुझे कर्मशत्रुओं को जीतकर स्वातंत्र्य लाभ करना चाहिये। ऐसा विचार कर कर्मशत्रुओं से आगमन के द्वारों के निरोध का मनन कर रहा है। वह जानता है कि स्वतंत्रता का लाभ उस ही को हो सकता है, जो स्वतंत्रता का एक मात्र उपासक हो, जो परतंत्रता से पूर्ण उदासीन हो, जो रत्नत्रय में शुद्धोपयोग रूप भावलिंग का धारी हो, जो भाव-लिंग के निमित्तभूत यथाजात रूप निर्ग्रन्थ द्रव्यलिंग का धारी हो, जो जीवन मरण—लाभ हानि, कंचन कांच, शत्रु मित्र, सुख दुःख, नगर स्मशान में समभाव का धारी हो। ऐसे वीर निर्ग्रन्थ साधु नाना स्थानों में विहार करके आत्म साधन करते हुये धर्म की प्रभावना करते हैं। कदाचित् उनके महनीय रूप को न पहचान कर दुष्ट बुद्धिधारी मिथ्या-दृष्टि जीव अनेक प्रकार उपहास करते हैं और निन्दनीय वचन बोलते है। कभी गृहस्थ अवस्था में होने वाले उनके विरोधी इस समय उनको देखकर क्रोधित हो तिरस्कार के असहनीय कटुक वाक्य प्रहार करते हैं, जिनके सुनने मात्र से क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो सकती है ऐसे मर्मभेदी शब्दों को सुनते हुये कदाचित् निर्ग्रन्थ मुनि के भाव में चारित्र मोह-नीय कर्म के उदय से मुझे दुर्वचन कहे "ऐसा दुर्विकल्प उठ आता है। अर्थात् आक्रोश परीषह का उदय हो जाता है।"

उसी समय वे धीरवीर ज्ञान भावना की ढाल से उसका विजय करते हैं। प्रथम तो वे निश्चयनय से विचारते हैं कि मैं अमूर्तिक चैतन्यधातुमय मूर्तिधारी परम शुद्ध एक आत्मद्रव्य हूं, मैं सहज ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणों का धारी अभेद पदार्थ हूं, मैं सदा ही अविनाशी अजर अमर हूं, पुद्गल का मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, न मेरे पास पांच इन्द्रियां हैं, पौद्गलिक शब्दों को ग्रहण करने के लिये कर्ण इन्द्रिय का अभाव है, न मेरे में राग द्वेष की कालिमा है अतएव आक्रोश परीषह की संभावना ही नहीं है, ऐसा विचार कर अप्रमत्त भाव में चढ़ जाते हैं, और अंतर्मुहूर्त के लिये

स्वरूप—संवेदी हो परमानंद में मगन हो जाते हैं, मन के विकल्पों से छूट जाते हैं। पश्चात् प्रमत्तगुणस्थान मे आने पर आक्रोश सम्बन्धी विकल्प फिर उठ आता है उसको ज्ञान वैराग्य की भावना से जीतते हैं। वे विचारते है कि शब्दो के सुनने से विकारी होना ज्ञाता पुरुष की कमजोरी है, मुझ वीर को कभी कायर नहीं होना चाहिये।

मैंने अनादि ससार-भ्रमण मे पराधीनता पूर्वक अनेक पशु और मनुष्यो के दीन हीन शरीरों मे रहते हुये महा घोर दुर्वचन सहे हैं, उनके सामने ये वचनावली अत्यन्त तुच्छ है, इस तरह विचार कर संवरभाव की भूमिका मे खड़े रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी दूसरों के द्वारा कहे गये दुर्वचनों को सुनकर कुपित हो जाते है, क्रोधांध हो श्राप देते है उसका अहित विचारते है। ऐसे कायर मनुष्य स्वतंत्रता का काम नही कर सकते। वे तो कर्म की जंजीरो मे बंधे हुये चारो गतियों मे भ्रमण करते रहते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव आत्मीक स्वभाव के परम रसिक होते हैं, अन्य सर्व सासारिक प्रपचो से पूर्ण उदासीन होते है। वे कर्मोदय से प्राप्त दुख सुख मे समभाव रखते हैं और अपने आत्मीक उपवन मे रमण करते हुए सुख शाति का भोग करते है।

---

१५७. वधपरीषह–संवरभाव

ज्ञानी आत्मा स्वातन्त्र्य लाभ के लिये कर्मशत्रुओं के आगमन के द्वारो के निरोध का विचार कर रहा है। मोक्षलाभ परम दुष्कर पुरुषार्थ है। इसको वही निर्ग्रन्थ वीर महात्मा साधन कर सकते है जो अहिंसा धर्म के पूर्ण पालने वाले हो, रागादि भावहिंसा से पूर्णरहित हों, स्थावर और त्रस की द्रव्यहिंसा से भी पूर्ण रिक्त हो, उत्तम क्षमा जिन वीरों का आभूषण हो, जो कष्ट दिये जाने पर, शस्त्रादि से प्रहार किये जाने पर व वध किये जाने पर भी कभी परिणामों मे द्वेषभाव या खेदभाव नही लाते है, वे अंतरंग भाव की पूर्ण रक्षा करते हैं, क्रोध

कषाय की अग्नि से अपनी तपस्या में किंचित् भी आंच लगने नहीं देते। ऐसे वीर साधु भिन्न-भिन्न स्थानों में विहार करते हुये कभी कहीं दुष्ट मनुष्यों के द्वारा या भीलादिकों के द्वारा पीड़ित किये जाते हैं अथवा पूर्व अवस्था के शत्रुओं के द्वारा प्रहारित वा प्राणघात तक का कष्ट सहन करते है। असातावेदनीय के तीव्र उदय से वधपरीषह् का तीव्र उदय हो जाता है, उसी समय वे सावधान होकर बड़े धैर्य से विजय करते है।

प्रथम तो वे निश्चयनय से विचारते है कि मैं अमूर्तीक अविनाशी आत्मा हूं, ज्ञानदर्शनसम्पन्न चारित्र सुख, वीर्यादि गुणों का सागर हू, मेरे स्वभाव में किसी पुद्गल का प्रभाव नहीं पड़ सकता, मेरे सुख सत्ता चैतन्य बोध इन ४ भावप्राणो का कोई वध नहीं कर सकता इसलिये किसी आत्मा मे वधपरीषह् की सम्भावना नहीं है। ऐसा विचार कर तुरत अप्रमत्तभाव मे चढ़ जाते है और उपयोग को शुद्ध आत्मीक-परिणति मे लीन करके मन वचन काय की तरफ से रोक लेते हैं। परम समता भाव से स्वानुभव से उत्पन्न आनन्द—अमृत का पान करते है। अतर्मुहूर्त पीछे जब प्रमत्तभाव मे आ जाते हैं अन्यत्व भावना भाते है, अपने आत्मा को आकाशतुल्य अछेद्य विचारते है तथा ये मनन करते है कि मेरी आत्मा ने इस अनादिकालीन संसार में भव-भ्रमण करते हुये एकेन्द्री आदि अनेक शरीरों को धारते हुए दुष्ट पशुओं के द्वारा बड़ी निर्दयतापूर्वक प्राणघात के असह्य कष्ट सहन किये है। तथा वध नाशवत शरीर का है, मेरे आत्मा का नही। इत्यादि भावनाओ के द्वारा वधपरीषह् को विजय करते है ओर शान्तभाव से ध्यानलीन हो उच्चगति प्राप्त करते है। समाधिमरण करके परतंत्रता की बेड़ियो को काटने का प्रयत्न करते है।

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तापसीजन दूसरों के द्वारा ताड़ित व प्राणों का घात होते हुए महान् कुपित हो जाते हैं। क्रोधभाव से क्षमा गुण का नाश कर देते हैं। अतएव ये स्वतंत्रता की प्राप्ति कभी नहीं कर

पाते। समभाव के बिना स्वातंत्र्य लाभ दुष्कर है। समभाव की अग्नि कर्मशत्रुओं को क्षणमात्र में भस्म कर देती है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्म-तत्व के गाढ़ प्रेमी होते हैं। जगत के प्रपंच को नाटक के समान देखते हैं। वे कर्मोदय में समभाव रखतें हुये ज्ञानचेतना द्वारा स्वसंवेदन करते हुए परमानन्द प्राप्त करते हैं और मोक्षमार्ग पर बढ़ते चले जाते हैं।

---

१५८. याचनापरीषह–संवरभाव

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए कर्मशत्रुओ के आगमन के द्वारा निरोध का विचार कर रहा है। मोक्ष का लाभ उन्हीं महात्माओं को होता है जो तीर्थंकरो के समान भाव–द्रव्यलिग के धारी हैं, बारह प्रकार का तप करते हैं, निरन्तर आत्मा को भावना भाते है, जो दिन में एक दफा भिक्षावृत्ति से भक्तिपूर्वक गृहस्थ द्वारा दिये हुये आहार को ग्रहण करते हैं, ऐसे साधुओं को भिक्षा का अलाभ होने पर वा कई-कई दिन अन्तराय पड़ जाने से शरीर कृश हो जाता है। कर्मोदय से याचना करने का भाव (परिणाम) हो जाता है। अर्थात् याचना परीषह का उदय हो जाता है, तब वे ज्ञानी इस परिणाम को रोककर कभी भी आहार आदि की याचना नही करते हैं। वे सिंहवृत्ति के धारी होते हैं। दीनता करना कायरता समझते है। प्राण जाने पर भी याचना नहीं करते, वे ज्ञानी इस परीषह को इस तरह जीतते है—

प्रथम तो वे निश्चयनय से विचारते हैं कि मैं एक शुद्ध आत्मा हूं, मेरा पुद्गल से कोई सम्बन्ध नही, मैं पूर्ण दर्शन ज्ञान सुख वीर्य का धनी हूं, मैं अमूर्तिक अविनाशी हूं, मेरा चेतनमईदेह आत्मा वीर्य से सदा पुष्ट रहता है। मैं आत्मानुभव करता हुआ नित्य आनन्द अमृत का पान करता हू। मुझे कभी निर्बलता नहीं होती है, न कभी रोग होता है। मैं अपने से ही अपने को ज्ञानामृत प्रदान करता हूं। मुझे

किसी से याचना की जरूरत नहीं है। ऐसा विचार कर अप्रमत्त गुण-स्थान में वे साधु चढ़ जाते हैं। और आत्मध्यान में ऐसे लवलीन हो जाते हैं कि उनका उपयोग अपने आत्मा के सिवाय किसी भी परवस्तु पर नहीं जाता है। वहां वे परमतृप्ति को अनुभव करते हैं, अन्तर्मुहूर्त पीछे वे प्रमत्तभाव में आ जाते हैं तब वे वैराग्य भावना भाते हैं। शरीर को धर्म का सहकारी जानकर रखना चाहते है, शरीर के लिये धर्म का नाश नहीं चाहते।

मुनिधर्म की यह रीति है कि भक्तिपूर्वक गृहस्थ के द्वारा दिया हुआ आहार ही ग्रहण करें। मैंने संसार-भ्रमण में अनेक जन्म दीन-हीन पशु मानव् के धारण किये हैं। दीनता करके आनद की याचना की है तो भी असाता के उदय से लाभ नहीं कर सका हूं। उस समय की वेदना से वर्तमान वेदना अत्यंत तुच्छ है। मुझे वीर योद्धा के समान कर्मशत्रु का प्रहार सहन करना चाहिए। इस तरह विचारकर याचना परीषह का विजय करते है। भूल करके भी किसी से याचना का संकेत नही करते है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी तपस्वी क्षुधा की वेदना सहने मे असमर्थ होकर दूसरो से याचना करते हैं, दीनवचन बोलते हैं, भिक्षा न मिलने पर कोप करते हैं, वे कभी भी मोक्षमार्ग के पथिक नहीं हो सकते।

---

१५९. अलाभपरीषह संवरभाव

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता की प्राप्ति के हेतु कर्मशत्रुओं के आगमन के द्वारों को रोकने का विचार कर रहा है। आत्मस्वातन्त्र्य उसी को प्राप्त हो सकता है जो आत्मस्वतंत्रता का पुजारी हो, जो तीर्थंकरों की भांति निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्धोपयोग का आराधक हो और उसकी प्राप्ति के लिये यथाजात रूप निर्ग्रंथलिंग का धारी हो। ऐसे जैनसाधु दिन रात में एक दफे दिन में भिक्षावृत्ति से गृहस्थ द्वारा दिये हुये

आहार का उपयोग करते है। कभी याचना नहीं करते। वे पवन के समान असंग रहते हुये भोजन के समय गृहस्थ श्रावकों के घरों के निकट जाते है। यदि कोई प्रतिष्ठापूर्वक पड़गाहता है तो आहार ग्रहण करते है। ऐसे जैनसाधु अनेक देशो मे विहार करते हैं। कभी-कभी भाजन का लाभ नही होता है। यह साधु वृत्तिपरिसंख्यान तप पालते है। कोई खास नियम धारण कर भिक्षार्थ जाते है। कभो कई-कई दिन तक नियम की पूर्ति नही होती है, भोजन का अलाभ रहता है। कभो-कभी भोजन आरम्भ करते ही अन्तराय पड़ जाता है। ऐसा लगातार हो सकता है। इत्यादि कारणो के होने पर तीव्र अन्तराय-कर्म के उदय से अलाभ परिषह का उदय हो जाता है, तब वे साधु समभाव से इसको जीतते है। प्रथम तो वे निश्चयनय से विचारते है कि मैं एक अमूर्तिक शुद्ध आत्मा हू। मेरा पुद्गल से कोई सम्बन्ध नही है। मै पूर्ण ज्ञानदशन सुख वीय का धनी हू। मैं निरन्तर अपने ही आत्मा के अनुभव से प्राप्त आत्मानन्द का लाभ करता रहता हू। जिससे परम सन्तोषित रहता हू। मुझे कभी अलाभ नही होता। इस तरह विचार कर वे साधु अप्रमत्तगुणस्थान मे चढ़ जाते है और अन्तर्मुहूर्त के लिये आत्मसमाधि मे विश्राम करते है। तब भोजन के अलाभ का भी विकल्प नही होता। तब वे आत्मानन्द का उपभोग करते हैं। अतर्मुहूर्त पीछे जब वे प्रमत्तभाव मे आजाते है तब वे वैराग्यभावना भाते है। शरीर को आत्मा से पृथक् विचारते हैं तथा यह सोचते है—

मैने इस अनादि भव-भ्रमण मे अनेक बार पशु व मनुष्य के देह धारण किये है, वहा लाभातराय के उदय से अनेक बार भोजन का लाभ नही हुआ है, तीव्र क्षुधावेदना से प्राणो तक का वियोग किया है। उस पराधीन अवस्था की अपेक्षा यह अलाभ बहुत तुच्छ है। इस तरह विचारकर समभाव से अलाभ परिषह का विजय करते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी भोजन के अलाभ मे आकुलित होते हैं,

भिक्षा मांगते हैं। वह वन के फलादि स्वयं तोड़कर खा लेते हैं। वे अचौर्य महाव्रत को नही पाल सकते हैं। इसलिये वे स्वतंत्रता का कभी लाभ नहीं कर सकते। कर्म के बन्धन से भवभ्रमण में ही रहते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानीजीव निरन्तर आत्मानन्द के भोजन को ही अपना भोजन समझते है। और जब चाहे तब आत्मस्थ होकर उसका लाभ कर लेते हैं। कर्मोदय से बाहरी पदार्थों के लाभ व अलाभ में वे सम-भाव रखते है, आकुलित नहीं होते, जगत प्रपंच के ज्ञातादृष्टा रहते हुए परम शक्ति का लाभ करते हैं।

---

१६०. रोगपरीषह–संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओं के आगमन के द्वार का निरोध विचार रहा है। मोक्ष का साधन वे ही वीर निर्ग्रन्थ साधु कर सकते हैं जो शरीरादि से पूर्ण निर्ममत्व हों और शुद्धोपयोग की भूमिका में चलते हुए धर्मध्यान का अभ्यास करें, जो सर्व परिग्रह के त्यागी हों, शरीर के संस्कार से भी रहित हों, रत्नत्रयरूपी भंडार की रक्षा का कारण शरीर को समझकर उसको शुद्ध-आहार देकर रक्षित रखते हों। वे शरीर के लिए स्वय याचना नही करते है। भिक्षावृत्ति से गृहस्थ दातार से दिये हुए भोजनपान औषधि को मौन सहित सन्तोषपूर्वक ग्रहण कर लेते है। इस मुनिपद को निरोगी स्वास्थ्ययुक्त पुरुष ही धारण करते है। ऐसा होने पर भी कभी विरुद्ध आहार पाने के सेवन करने से रोगादिक शरीर मे उत्पन्न हो जाय तो स्वयं उसका उपाय नही करते है। ऋद्धिधारी होने पर भी ऋद्धि से काम नही लेते हैं। रोगपरिषह को बड़ी शांति से विजय करते हैं।

प्रथम तो यह विचारते हैं कि मैं शरीर नहीं हूं, किन्तु अमूर्तीक आत्मा हूं। मेरा स्वभाव पूर्ण दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यमय है। मैं सदा ही स्वस्वरूप में तन्मय होता हुआ स्वास्थ्ययुक्त रहता हूं। मुझे राग

आहार का उपयोग करते है। कभी याचना नही करते। वे पवन के समान असग रहते हुये भोजन के समय गृहस्थ श्रावको के घरों के निकट जाते हैं। यदि कोई प्रतिष्ठापूर्वक पड़गाहता है तो आहार ग्रहण करते है। ऐसे जैनसाधु अनेक देशो मे विहार करते हैं। कभी-कभी भोजन का लाभ नही होता है। यह साधु वृत्तिपरिसख्यान तप पालते है। कोई खास नियम धारण कर भिक्षार्थ जाते है। कभी कई-कई दिन तक नियम की पूर्ति नही होती है, भोजन का अलाभ रहता है। कभी-कभी भोजन आरम्भ करते ही अन्तराय पड़ जाता है। ऐसा लगातार हो सकता है। इत्यादि कारणो के होने पर तीव्र अन्तराय-कर्म के उदय से अलाभ परिषह का उदय हो जाता है, तब वे साधु समभाव से इसको जीतते है। प्रथम तो वे निश्चयनय से विचारते हैं कि मै एक अमूर्तिक शुद्ध आत्मा हू। मेरा पुद्गल से कोई सम्बन्ध नही है। मै पूर्ण ज्ञानदर्शन सुख वीर्य का धनी हू। मैं निरन्तर अपने ही आत्मा के अनुभव से प्राप्त आत्मानन्द का लाभ करता रहता हू। जिससे परम सन्तोषित रहता हू। मुझे कभी अलाभ नही होता। इस तरह विचार कर वे साधु अप्रमत्तगुणस्थान मे चढ़ जाते है और अन्तर्मुहूर्त के लिये आत्मसमाधि मे विश्राम करते है। तब भोजन के अलाभ का भी विकल्प नही होता। तब वे आत्मानन्द का उपभोग करते है। अतर्मुहूर्त पीछे जब वे प्रमत्तभाव मे आजाते है तब वे वैराग्यभावना भाते है। शरीर को आत्मा से पृथक् विचारते है तथा यह सोचते है—

मैने इस अनादि भव-भ्रमण मे अनेक बार पशु व मनुष्य के देह धारण किये है, वहा लाभांतराय के उदय से अनेक बार भोजन का लाभ नही हुआ है, तीव्र क्षुधावेदना से प्राणो तक का वियोग किया है। उस पराधीन अवस्था की अपेक्षा यह अलाभ बहुत तुच्छ है। इस तरह विचारकर समभाव से अलाभ परिषह का विजय करते है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी भोजन के अलाभ मे आकुलित होते हैं,

भिक्षा मांगते है। वह वन के फलादि स्वयं तोड़कर खा लेते हैं। वे अचौर्य महाव्रत को नही पाल सकते हैं। इसलिये वे स्वतंत्रता का कभी लाभ नही कर सकते। कर्म के बन्धन से भवभ्रमण में ही रहते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानीजीव निरन्तर आत्मानन्द के भोजन को ही अपना भोजन समझते हैं। और जब चाहे तब आत्मस्थ होकर उसका लाभ कर लेते है। कर्मोदय से बाहरी पदार्थों के लाभ व अलाभ में वे समभाव रखते हैं, आकुलित नही होते, जगत प्रपंच के ज्ञातादृष्टा रहते हुए परम शक्ति का लाभ करते हैं।

---

१६०. रोगपरीषह–संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओ के आगमन के द्वार का निरोध विचार रहा है। मोक्ष का साधन वे ही वीर निर्ग्रन्थ साधु कर सकते हैं जो शरीरादि से पूर्ण निर्ममत्व हों और शुद्धोपयोग की भूमिका में चलते हुए धर्मध्यान का अभ्यास करे, जो सर्व परिग्रह के त्यागी हों, शरीर के संस्कार से भो रहित हों, रत्नत्रयरूपी भंडार की रक्षा का कारण शरीर को समझकर उसको शुद्ध-आहार देकर रक्षित रखते हों। वे शरीर के लिए स्वय याचना नही करते है। भिक्षावृत्ति से गृहस्थ दातार से दिये हुए भोजनपान औषधि को मौन सहित सन्तोषपूर्वक ग्रहण कर लेते है। इस मुनिपद को निरोगी स्वास्थ्ययुक्त पुरुष ही धारण करते है। ऐसा होने पर भी कभो विरुद्ध आहार पाने के सेवन करने से रोगादिक शरीर मे उत्पन्न हो जाय तो स्वय उसका उपाय नहीं करते है। ऋद्धिधारी होने पर भी ऋद्धि से काम नहीं लेते हैं। रोगपरिषह को बड़ी शांति से विजय करते हैं।

प्रथम तो यह विचारते हैं कि मैं शरीर नहीं हूं, किन्तु अमूर्तीक आत्मा हूं। मेरा स्वभाव पूर्ण दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यमय है। मैं सदा ही स्वस्वरूप मे तन्मय होता हुवा स्वास्थ्ययुक्त रहता हूं। मुझे रोग

द्वेष मोह की बीमारी नहीं होती है। मैं सदा आत्मानन्द का वेदन करता हूं। मुझे रोगपरीषह नहीं हो सकती, ऐसा विचार कर अप्रमत्त भाव में चढ़कर आत्मस्थ हो जाते हैं, शरीर के विकल्प से रहित हो जाते है। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब प्रमत्तभाव में आते हैं तब अनित्यादि बारह भावनाओं का विचार करते हैं। तथा मेरे आत्मा ने अनादि-काल के ससार भ्रमण मे अनंतबार अनेक रोगों से पीड़ित पशु और मानवों के शरीर प्राप्त किये हैं। पराधीनता से बहुत कष्ट सहे हैं, उसके मुकाबले मे यह रोग का कष्ट बहुत तुच्छ है। इस तरह विचार कर रोग की वेदना को परम शांति से सहन कर लेते हैं और अपने रत्नत्रयधर्म की रक्षा करते हैं।

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपस्वी रोग-आक्रान्त होने पर आकुलित हो जाते है, उचित अनुचित इलाज करते हैं, दीनभाव से रोग की परिषहको सहन नही कर सकते हैं, वे कभी मोक्षमार्ग पर चलने योग्य नही है। सम्यग्दृष्टि जीव भले प्रकार अपने आत्मा का सच्चा श्रद्धान रखते हैं। उनको पूर्ण विश्वास है कि मैं एक निसंग आत्मा हूं। मेरे मे बन्ध मोक्ष की कोई कल्पना नही है। मैं स्वाभाविक ज्ञान परि-णतिका ही कर्ता हू और आत्मिक आनन्द का ही भोक्ता हूं। मेरा कर्तव्य स्वानुभव करके आत्मानन्द रूपी अमृत का पान करना है। पर्याय अपेक्षा कर्मोदयवश मुझे मन, वचन, काय की क्रिया करनी पड़ती है, गृहस्थ या साधु के चारित्र को पालना पड़ता है। तब भी मै तीव्र कर्मोदय से प्राप्त बाधाओं को शांति से सहन करता हूं और जल मै कमल के समान अलिप्त रहते हुए अपने भीतर सुखसागर का आनन्द लेता हुआ रहता हू।

---

१६१. तृणस्पर्श-परीषहजय

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओं के आगमन के द्वारको रोकने का विचार कर रहा है। शिव कन्या का वरण वही वीर साहसी पुरुष कर

सकता है जो शुद्धोपयोग का उपासक हो और भावलिंग के समान यथाजात रूप निर्ग्रंथ द्रव्यलिंगका धारी हो, जिसने शरीर का ममत्व पूर्णपने त्याग दिया हो, जो जैनसिद्धान्तानुकूल १३ प्रकार के चारित्र का पालक हो, जो सदैव वर्षाकाल के सिवाय भिन्नस्थानों में विहार करके ध्यान का अभ्यास करता हो, ऐसे साधु जंगलों में भ्रमण करते वहां झाड़ियों के कठोरपत्थरों के तीक्ष्णकांटों के स्पर्श होने से वेदना प्राप्त होती है तब तृणस्पर्श परिषहका उदय हो जाता है। उस बाधा को वे साधु समभाव से सहन करते हैं। प्रथम तो वे निश्चयनयसे विचारते हैं कि मैं अमूर्तीक, शुद्धात्मा हूं, ज्ञान दर्शन सुख वीर्यादि शुद्ध गुणों का स्वामी हूं। मैं निरंतर अपनी शुद्ध ज्ञान चेतना की भूमि मे विहार करता हूं। वहां रागद्वेषादि के कण्टकों का स्पर्श नहीं होता है। मैं परमशांति से अपनी स्वानुभूति रमणी में रमण करता रहता हूं।

मुझे तृणस्पर्शकी कोई सम्भावना नहीं है। ऐसा विचार कर वे साधु अप्रमत्त गुणस्थान मे चढ़ जाते हैं और निश्चल होकर निश्चय-रत्नत्रय मे स्थिर होकर परम साम्यरस का पान करते हैं तब शरीर की बाधा का विकल्प नहीं होता है। अन्तर्मुहूर्त पीछे जब वे प्रमत्त-भाव में आ जाते हैं तब वैराग्य भावना भाते हैं। वे विचारते है कि मैंने स्पर्शन इन्द्रिय का पूर्णपने विजय किया है। मुझे कठोर स्पर्श का व कोमल स्पर्श का ज्ञान एक समान होना चाहिये। मैंने अनादि भव-भ्रमण में अनेकबार ऐसे पशु व मानवों के जन्म धारण किये हैं और तब महान् कठोर पदार्थों के स्पर्श की बाधा सही है। उसके मुकाबले में यह स्पर्श अति तुच्छ है, मुझे समभाव से सहन करना चाहिये, ऐसा विचार कर तृणस्पर्श परीषह को जीतते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी साधु ऐसी परिषहों को जीतने मे असमर्थ होकर वाहनों पर चढ़ते हैं। मृग-छाला आदि कोमल वस्तुओं को बिछाते हैं।

शरीर के सुखियापने मे मग्न रहते है, वे वैराग्यभाव से अत्यन्त

दूर रहते हुए यथार्थ आत्मतत्व का लाभ नहीं कर सकते हैं। वे कभी आत्मस्वातंत्र्य को नहीं पा सकते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीव परम-तत्त्व के प्रेमी होकर भेद विज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को सर्व पर-द्रव्यों से, अन्य आत्माओ से, धर्म, अधर्म, काल, आकाश, पुद्गल द्रव्यों से व कर्मजनित रागादि भावों से व सर्व औपाधिक पर्यायों से भिन्न अनुभव करते हैं। स्वतंत्रता उनका ध्येय हो जाता है। कर्म-उदय के कार्य को नाटक के समान देखते है। उसमें आसक्त नही होते हैं। ऐसे ज्ञानी वीर गृहस्थ हों या साधु, जल मे कमलवत् संसार मे रहते हैं और अपनी दृष्टि स्वात्मतत्व पर रखते हुए आत्मानन्द का स्वाद लेते हैं। वे पंचेन्द्रियो के विषयों से विरक्त होते है। अतीन्द्रिय निजानन्द के प्रेमी होते है। वे शुद्ध निश्चयनय पर सदा दृष्टि रखते हैं। और दुःख सुख में समभाव रखते हुए निराकुलता का अभ्यास करते है।

---

१६२. मलपरीषह-संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओ के आगमन के द्वारों को रोकने का विचार कर रहा है। स्वतंत्रता का लाभ उसी वीर आत्मा को हो सकता है जो तीर्थंकरों की भांति शुद्धोपयोग का अभ्यास करता हो। व उसी के लिए निमित्तकारण यथाजातरूप नग्न दिगम्बर भेष का धारी हो। और एकांत स्थान में तिष्ठकर ध्यान का अभ्यास करता हो। जो साधु के अठ्ठाईस मूलगुणों का धारक हो। पूर्ण अहिंसाव्रत के लिए जो स्थावर जीवों की भी रक्षा करता हो। जलकायिक जीवों की हिंसा न हो, व त्रस जीवो का भी घात न हो, इसीलिए वे साधु स्नान मात्र के त्यागी होते हैं। गर्म ऋतु के कारण पसीना आने से शरीर पर रज जमता है तब शरीर मलीन दिखता है, उस समय कदा-चित उस साधु को अपने पूर्व के सुन्दर रूप के स्मरण से मन में संकल्प हो जाय कि मेरा शरीर मैला है तो साधु को मल परीषह का उदय

हो जाता है। इस भाव को वे निश्चयनय से विचारते हैं कि मैं शरीर नहीं हूं, शुद्ध अमूर्तीक आत्मा हूं, परमानन्दमय परम सुन्दर हूं। मेरे में राग द्वेषादि व ज्ञानावरणादि कर्म की कोई मलीनता नहीं है। मैं सदा शुद्ध भाव में रमण करता हूं। और निराकुलता से अपने ज्ञानामृत का पान करता हूं। ऐसा विचार कर वे साधु अप्रमत्त गुणस्थान में चढ़ जाते हैं और निर्विकल्प होकर आत्म-समाधि में लीन हो जाते हैं। तब मल परिषह का संकल्प नहो होता। अन्तर्मुहुर्त पीछे वे प्रमत्त-भाव में आजाते हैं, तब वैराग्य भावना भाते हैं कि यह शरीर पुद्गल मय है, परिणमनशील है, इसको स्वच्छ या मलीन देखकर रागद्वेष करना अज्ञान है, मैं श्रमण हूं।

मुझे लाभ हानि, सुवर्ण कांच, शत्रु मित्र आदि में समभाव रखना चाहिये। शरीर को मलोनता देखकर परिणामों को मलीन नहीं करना चाहिए। यह शरीर भीतर महा अपवित्र है। मल का घड़ा है। नव द्वारों से व रोम छिद्रों से निरन्तर मल ही बाहर बहता है। शरीर का मोह ही बहिरात्मा होता है। मैं अन्तर आत्मा हूं। मुझे शरीर में कुछ भी राग नही रखना चाहिए। केवल सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र में, रत्नत्रय धर्म में ही राग रखना चाहिए। इस तरह विचार कर मल परिषह को जीतते हैं। और संवर भाव में दृढ़ रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तापसी इस रहस्य को न समझ कर शरीर की चिंता में रागी होते हैं, नित्य स्नान करते हैं। अहिंसा आदि महाव्रतों को न पाल सकने के कारण मोक्षमार्ग के पथिक नहीं हो सकते। सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थ हों या साधु सदा ही स्वतन्त्रता पर दृष्टि रखते हैं। कर्म के उदयवश संसार में रहते हुए भी ज्ञाता दृष्टा बने रहते हैं। शुभ अशुभ कर्मों के उदय में समभाव रखते है, वे अवश्य अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेंगे। वे सदा ही आत्मरस का पान करते हुए आनन्द का लाभ करते हैं।

---

१६३. सत्कार-पुरस्कार परीषह जय

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए कर्मशत्रुओं के आगमन के द्वार को रोकने का विचार कर रहा है। मोक्ष की प्राप्ति उन्हीं वीर पुरुषों को हो सकती है जो भले प्रकार राग द्वेष त्याग कर शुद्धोपयोग का अभ्यास करते हैं। निर्ग्रन्थ जैन साधु असंगभाव से एकान्त स्थान में विहार करके ध्यानाभ्यास करते हैं। ऐसे साधु शास्त्र के ज्ञाता होते हुए मोक्षमार्ग का मण्डन व कुमार्ग का खण्डन करते हैं। अपने भाषणों से धर्म की प्रभावना करते है। भले प्रकार बारह तप का अभ्यास करते है। ऐसा होने पर किन्हीं साधुओं की बहुत पूजा व प्रतिष्ठा होती है, तब मान भाव का विकार चित्त में आ सकता है अथवा बहुत प्रवीण तपस्वी होने पर भी व जगत में धर्म की प्रभावना करने पर भी कदाचित जनसमुदाय उनका आदर नही करता है, किन्तु अज्ञानी जन उनका निरादर व तिरस्कार करते हैं, तब ऐसा भाव आ जाता है कि मैं इतना बड़ा होने पर भी प्रतिष्ठा नहीं पाता हूं। इस तरह चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से सत्कार पुरस्कार परि-षह का उदय हो जाता है, जो समभावी मुनि के नहीं होना चाहिए। ऐसी अवस्था में धीर वीर साधु इसको जीतने का प्रयास करते हैं। प्रथम तो वे निश्चयनय से विचारते है कि मैं शुद्धात्मा हूं। पूर्ण ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि गुणो का स्वामी हूं। मैं सदा ही अपने स्वरूप में रमण करता हूं। मेरा सम्बन्ध किसी भी अन्य आत्मा से नहीं होता है। न मेरे में मान कषाय का उदय है, जिससे प्रतिष्ठा की कामना हो। ऐसा विचार कर वे साधु अप्रमत्तभाव में चढ़ जाते हैं। और निर्विकल्प होकर आत्मसंवेदन करते हैं।

तब वहाँ इस परिषह का विकल्प भी नहीं रहता है। अंतर्मुहूर्त पीछे जब वे प्रमत्तभाव में आते है तब ज्ञानभावना से विचारते है कि मैंने कषायो के जीतने के लिये ही यतिपद धारण किया है। मुझे मान अपमान में समान भाव रखना चाहिए। मुझे निरपेक्ष जैनधर्म की

सेवा करनी चाहिये। शासन के प्रचार का प्रेमी होना चाहिए। इस तरह विचार कर इस परीषह को विजय करते हैं। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी तपसे तप साधन करते हुए मान के भूखे होते हैं। प्रतिष्ठा पाने पर उन्मत्त हो जाते हैं। अप्रतिष्ठा होने पर क्रोधित हो जाते हैं व नाना-प्रकार दुर्वचन व अहित करने लगते हैं, व कभी आत्म स्वातंत्र्य का लाभ नहीं कर सकते हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव स्वतंत्रता के प्रेमी होते हुए उसी की ओर दृष्टि रखते हैं और मन, वचन, काय को सर्व संसारी प्रपंचों से रोककर अपने ही आत्मा के द्वारा अपने आत्मा का मनन करते हैं, तथा स्वात्मानन्द का पान करते हैं। वे ज्ञानी सदा अपने को रागादि भावों का, ज्ञानावरणादि कर्मों का, व शरीरादिक व जगत के कार्यों का अकर्ता तथा सांसारिक क्षणभंगुर सुख का अभोक्ता मानते हैं। वे निज शुद्ध परिणतिका कर्ता, व निजानन्द का भोक्ता अपने को मानते हैं। गृहस्थ होते हुए भी जल में कमलवत् रहते हैं और कषायों के जीतने के लिये भेदविज्ञान के द्वारा आत्मानुभव का अभ्यास करते हैं और परम शांति का लाभ करते हैं।

---

१६४. प्रज्ञापरीषह–संवर भाव

ज्ञानी आत्मा स्वतंत्रता निरोधक कर्मशत्रुओं के आगमन के निरोध का विचार कर रहा है। स्वतंत्रता का लाभ करने वाला वही जैन श्रमण हो सकता है जो भावलिंग और द्रव्यलिंग से विभूषित हो। कषायों का उपशम होकर शुद्धभाव में रमण करना भावलिंग है। बालक के समान यथाजात नग्न रूप रखना द्रव्यलिंग है। ऐसे साधु रत्नत्रय की भावना के लिये अनेक शास्त्रों के पारगामी होते हैं। न्याय व्याकरण ज्योतिष आदि विद्याओं में निपुण होते हैं। द्वादशांगवाणी का भी आंशिक ज्ञान प्राप्त करते है। ज्ञानावरणकर्म के उदय से पूर्ण यथार्थ ज्ञान नहीं होता है। तब कदाचित् ऐसा भाव हो जाता है कि

मैं सूर्य के समान परम विद्वान और तेजस्वी हूं। मेरे सामने दूसरे विद्वान टिक नही सकते। इस प्रकार प्रज्ञापरिषह का उदय हो जाता है। तब वह ज्ञानी उसी समय परिणामों की सम्हाल करते हैं। और इसको जीतने का प्रयत्न करते हैं। प्रथम तो वह निश्चय नयसे विचारते हैं कि मैं पूर्ण अखण्ड अक्रिय ज्ञान का भण्डार हूं। लोकालोक का ज्ञाता हूं। परम वीतराग और निश्चल हूं। परमानन्दमय परमनिराकुल और कृतकृत्य हूं। मैं निरन्तर ज्ञानचेतनामय रमण करने वाला हूं। परम समताभाव का धारी हूं, मेरे में प्रज्ञापरिषह का उदय नही हो सकता। ऐसा विचार कर अप्रमत्तभाव मे चढ़कर निर्विकल्प हो जाते हैं। और स्वानुभव में मग्न होकर आनन्दामृत का पान करते हैं।

अन्तर्मुहूर्त के पीछे प्रमत्तभाव मे आ जाते हैं तब विचारते है कि ज्ञान का अहकार करना मूढ़ता है। जब तक मेरे को पूर्ण ज्ञान न हो तब तक ही समताभाव से शास्त्रो का मनन करना चाहिये। ज्ञान के प्रताप से कषायो को जीतना चाहिये। इस समय विचार करके प्रज्ञापरिषह का विजय मोक्षमार्गी जैनसाधु ही कर सकते हैं। अज्ञानी मिथ्यादृष्टी तपस्वी विद्यासम्पन्न व अनेक शास्त्रों के ज्ञाता होकर अपने ज्ञान का महान् अभिमान करते है। किसी एकांत पक्ष को पकड़ कर उसकी पुष्टि करते हैं। कुयुक्तियों से सत्य का खण्डन करते हैं। इसी ज्ञान के विकार से समताभाव को प्राप्त नही कर सकते, मोक्षमार्ग से बहुत दूर हो जाते हे। जब तक स्याद्वादरूप (सिद्धांत)से वस्तुओं का स्वरूप न समझा जायगा तबतक समदृष्टि नहीं आसकती है। और श्रद्धान निर्मल नही हो सकता है। सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर तत्वो का मनन करते हुए यह विचारते रहते हे कि मेरा आत्मा अनादि काल से कर्मों के सम्बन्ध से संसार मे भ्रमण कर रहा है, जन्म जरा-मरण के दुःखों को भोग रहा है।

मिथ्यात्व भाव के कारण अपने स्वरूप को भूल रहा है। कर्मों

के उदय से जो अशुद्ध भाव होते हैं उन्हीं रूप अपने को मान रहा है। मैं रागी, मैं द्वेषी, मैं परोपकारी, मैं पर अपकारी, मैं तपस्वी, मैं ज्ञानी, मैं धर्मात्मा, इस अहंकार में फंसा रहता है। कर्मों के उदय से जो बाहरी संयोग होते हैं उनको अपना मान लेता है। इस तरह अहंकार ममकार करते हुए व इन्द्रिय सुख में तृषातुर रहते हुए संसार का अन्त नहीं आता है। अब मैंने जिनवाणी के प्रताप से अपने आत्म-स्वरूप को यथार्थ पहिचान लिया है कि वह सिद्धों की जाति रखता है। यह परम सुखी है व निराकुल है। मेरा कर्तव्य है कि मैं स्वानुभव के पुरुषार्थ से 'वीतरागभाव को बढ़ाता रहूं जिससे कर्मों का संवर होता जाय और निर्जरा बढ़ती जाय, तब मैं अवश्य ही सब कर्मों से रहित होकर अपने निजपद को प्राप्त कर लूगा और सदः के लिए स्वतन्त्र हो जाऊंगा।

---

१६५. अज्ञान-परीषह जय

ज्ञानी आत्मा अपनी स्वतन्त्रता के लाभ हेतु उसके बाधक कर्म-शत्रुओं के आगमन के द्वार के रोकने का विचार कर रहा है। स्व-तन्त्रता का लाभ वे ही महात्मा कर सकते हैं, जो भेदविज्ञान के द्वारा आत्मज्ञानी व आत्मानुभवी हों, जिनको निंदक प्रशंसक पर समभाव हो। ज्ञानावरणीका क्षयोपशम किन्हीं जैन साधुओं को बहुत कम होता है, इससे उनको श्रुतज्ञान व अवधिज्ञान का विशेष लाभ नहीं होता अथवा उनको अल्पज्ञ देखकर दूसरे लोग "अज्ञानी मुनि है" ऐसा आक्षेप करते हैं इत्यादि कारणों से अज्ञान परिषह का उदय हो जाता है तब वे महात्मा सम्यग्ज्ञान के प्रताप से इसका विजय करते हैं। प्रथम तो वह निश्चयनय से विचारते हैं कि मैं सदा ही पूर्ण ज्ञानी हूं, अज्ञान का अंश भी मेरे में नहीं है, मैं वीतरागता के साथ सर्व द्रव्यों को यथार्थ जानता हुआ रागद्वेष रहित रहता हूं, और ज्ञानचेतना के

अनुभव में लीन हो आत्मीक आनन्द का सदा पान करता हूं, इस तरह विचार कर वे अप्रमत्तभाव में चढ जाते हैं और आत्मस्थ हो शुद्ध ज्ञानरस का पान करते है । अन्तर्मूहूर्त पीछे जब प्रमत्तभाव में आते है तब वे विचारते हैं कि सम्यग्ज्ञान मोक्ष का कारण है, अल्पज्ञान व विशेष ज्ञान नही। यदि मुझे शास्त्र का ज्ञान भेदज्ञानपूर्वक थोड़ा भी है तो कार्यकारी है, विशेषज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के ऊपर निर्भर रहता है । यदि मुझे अज्ञान है तो इसका खेद नही करना चाहिये।

मुझे दूसरे के वाक्यो को इस भाव से सहना चाहिए—जो आत्मज्ञान केवलज्ञान का कारण है, वह मुझे प्राप्त है, इससे मै यथार्थ ज्ञानी हूं, मुझे अज्ञान का कोई विकल्प नही करना चाहिए। इस तरह समभाव से वे महात्मा अज्ञान परीषह को विजय करते है। मिथ्या-दृष्टि अज्ञानी तपस्वी ज्ञान को कमी होने पर खेद करते है वा अनेक प्रकार सिद्धि को चाहते है वा दूसरो के द्वारा अज्ञानी कहे जाने पर कार्य करते हैं, इसीलिये वे मोक्षमार्ग के सच्चे पथिक नही हो सकते।

सम्यग्दृष्टि जीव आत्मज्ञान की लब्धि को ही ज्ञान समझते है। उनको विश्वास है कि यदि मैने आत्मतत्व को परद्रव्यो के सम्बन्ध से रहित शुद्धबुद्ध ज्ञाता दृष्टा परमानन्दमय और वीतराग की पहिचान लिया है, और मेरे भीतर जगत के प्रपच-जालो से वा किन्हीं भी पर-पदार्थों से रागद्वेष नही है तो मुझे यथार्थ ज्ञान है। विशेष शास्त्रज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, मोक्षमार्ग मे मुख्य कारणभूत नही है। तब ये ज्ञान कम हो या अधिक, मुझे समभाव रखना चाहिये। ऐसा सत्यज्ञान रखते हुए सम्यग्दृष्टि अपने आत्मज्ञान मे सन्तोषी रहते हैं, तभी तो पशु-पक्षी नारकी आदि भी सम्यग्दृष्टि हो सकते है, यही स्वात्मानुभूति है, सीधी सडक है जो मोक्षपथिक को मोक्षमहल में ले जाती है। इसके बिना ११ अंग का ज्ञान भी हो तोभी वह अज्ञान

है, मोक्षमार्ग नहीं है। मैंने आत्मज्ञान के रसपान करने की कला को पा लिया है। स्वतन्त्रता मेरा आत्मोक-हक है, ऐसा ज्ञान सम्यक्त्वी को सदा ही संतुष्ट रखता है।

---

१६६. अदर्शनपरीषह–संवरभाव

ज्ञानी जीव स्वातंत्र्य के लाभ के लिये कर्मशत्रुओ के आगमन के द्वार के रोकने का उपाय कर रहा है। यह जीव अनादि ससार में मोह से ग्रसीभूत पाप पुण्य के आधीन होकर परतन्त्र हो रहा है। इस पारतन्त्रता का नाश वही महात्मा कर सकता है, जो निर्मोही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होकर चारित्र पालने मे उद्यमवत हो। निश्चय-चारित्र स्वात्मानुभव रूप है, इसी को धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कहते है। इसका बाह्यनिमित्त निर्ग्रंथ जैन साधु का चारित्र है, जहां बालक के समान नग्न रहकर बाईस परिषहो का विजय किया जावे। अंतिम परिषह अदर्शन है। किन्ही जैन साधुओं के भीतर ऐसा विकल्प उठ सकता है कि मैंने दीर्घकाल से वैराग्य की भावना की है, सकल शास्त्र का ज्ञाता हू, देव शास्त्र गुरु का भक्त हूं, बहुत बड़ी तपस्या करता हूं, महान् महान् उपवास करता हू, तो भी मेरे भीतर कोई अतिशय चमत्कार उत्पन्न नही हुए। सुनते है कि साधुओ को बड़े प्रातिहार्य व ऋद्धिया सिद्धियां हो जाती है। क्या ये कथन प्रलापमात्र ही है। इस तरह मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से अदर्शनपरीषह का उदय हो जाता है। उसी समय मे साधु निश्चयनय से विचारते है कि मैं एक अखड असग आत्मा हूं। पूर्ण वीर्य, सुख, दर्शन, ज्ञान का धनी हूं।

परम अमूर्तीक अविनाशी सिद्ध के समान शुद्ध हू। सम्पूर्ण आत्मलाभ मुझे प्राप्त है, मेरे में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पूर्णता है। मुझे कोई रिद्धिसिद्धि प्राप्त नही करनी है ऐसा विचार कर वे सातवें अप्रमत्तगुणस्थान मे चढ़ जाते है, और थोड़ी देर के लिये बिल-

कुल आत्मस्थ होकर निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वाद लेते है। अन्तर्मुहू पीछे जब प्रमत्त भाव से आजाते हैं तब विचारते है कि किसी चमत्कार रिद्धि-सिद्धि का पाना तपस्या का हेतु नही है, ये सब बातें विशेष पुण्योदय से हो जाती है । मोक्षमार्ग का साधन स्वानुभव के लिये करना चाहिये, किसी और बात का लोभ करना मूर्खता है। इस तरह तत्व का मनन करके मिथ्यात्व के उदय को जीत लेते हैं । मिथ्यादृष्टि साधु मोक्ष व मोक्षमार्ग के स्वरूप को ठीक न पाकर बहुधा चमत्कारो के लिये ही तप करते है। कोई अतिशय दिखाकर भक्तों से पूजा कराते है। जितनी अधिक मान्यता होती है उतने अधिक प्रसन्न होते है, और समझते हैं कि हमने महान तप किया है। ऐसे कषायवान जीव निर्वाण के सच्चे पथिक नही हो सकते। सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्-दर्शन की दृढ़ता से सासारिक किसी भी पदार्थ की कामना नही करते हैं। वर्तमान भोगसामग्री से भी उदास रहते है, आगामी की वाछा नही करते है, वे केवल स्वात्मानन्द के ही उत्सुक रहते है। धर्मसाधन करते हुए कोई विशेष चमत्कार या अतिशय प्रगट हो जाय तो उसको लाभ नही समझते । यदि कोई भी चमत्कार प्रगट नही हो तो खेद नही मानते। ऐसे ही ज्ञानी जीव सम्यक्त्वकी दृढ़ता से आत्मसुख का वेदन करते हुए परम शांति लाभ करते है।

---

१६७. सामायिकचारित्र–संवरभाव

ज्ञानीआत्मा कर्म शत्रुओ के निरोध के भावो का विचार कर रहा है। ५ प्रकार के चारित्र में सामायिक बहुत उपयोगी है। निर्ग्रंथ-साधुओं का परम कर्तव्य है। समय आत्मा को कहते है। आत्मा सम्बन्धी भाव को सामायिक कहते है। जहा केवल मात्र अभेद एक शुद्ध आत्मा लक्ष्य हो वही सामायिक है; जहां गुण-गुणी के भेद नही रहते हैं, ध्याता, ध्यान, ध्येय के भेद नही रहते हैं, स्व-पर की चिन्ता

नहीं रहती है। प्रमाण नय निक्षेप का विकल्प नहीं रहता वही सामायिक है। इसी को शुद्धात्मानुभव कहते हैं, स्व-स्वरूप कहते हैं, वीतराग चारित्र कहते हैं, परम समभाव कहते हैं। सामायिक चारित्र में लीन मुनि ६ से ९ वें गुणस्थान तक अपने योग्य प्रकृतियों को संवर करते हैं। निश्चय से सामायिक एक आत्मीकभाव है। व्यवहार से विचार किया गया जाय तो सामायिकचारित्र का धारी साधु दुःख सुख में, शत्रु मित्र मे, कञ्चन कांच मे, श्मशान महल में समभाव रखता है। वह जगत के शुभ अशुभ व्यवहार को नाटक के समान देखता है। जैसे नाटक में खेलने वाले पात्र कभी हसते हैं, कभी रोते हैं, कभी दुखी कभी सुखी होते हैं, देखने वाले मात्र देख लेते हैं, उनरूप परिणमन नही करते।

इसी तरह सामायिक चारित्रधारी मुनि अपने कर्मों के शुभ-अशुभ उदय में, सुख दुःख मे नाना प्रकार अपने शरीर के परिणमन में समभाव रखता है। गृहस्थो के द्वारा उद्दिष्ट रहित जैसा कुछ सरस नीरस, आहार मिल जाय उनमें समभाव रखता है। जगत् के साथ व्यवहार करते हुये कभी प्रशंसा के कभी निन्दा के वचन सुनने पड़ते है, तब भी वह साधु समभाव रखता है। मुनिगण परस्पर धर्मचर्चा करते हैं, तत्वो का मनन करते हैं, अनेक दर्शनो का विचार करते हैं, तो भी वस्तुस्वरूप को समझकर समभाव का ध्यान रखते है। कभी२ जैनसाधु अन्यमत के विद्वानो से शास्त्रार्थ करते हैं, घण्टो वाद-विवाद करते है, तो भी समभाव को कभी नही त्यागते। उस समय व्यवहार और निश्चय दोनो अपेक्षाओ से सामायिक चारित्र को पालते हैं। सामायिक एक मनोहर उपवन है उसमे प्रवेश कर साधुगण विश्रांति लेते है। जैसे मनुष्य उपवन में नाना प्रकार के वृक्षों के फलफूल व पत्तों पर दृष्टि देते हुए भ्रमण करते हैं उसी प्रकार जैनसाधु भी आत्मा के अनेक गुण व पर्यायो का विचार करके आनंद लेते हैं। सामायिक पवित्र गंगाजल है। इसमे अवगाहन कर साधुजन भावकर्म

मल को धोते हैं और आत्मानंदरूपी मिष्ट जल को पान कर परमपुष्टि पाते हैं। सामायिक शान्ति का युद्ध क्षेत्र है जहा पर तिष्ठकर कषाय-रहित शान्तशस्त्रो से कर्मों का सहार किया जाता है। इसी के बल से मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय होता है। आपसे-आपमे आपके लिए आपमे से आपको आप ही अनुभव करना सामायिक है। वे स्वय स्वतन्त्ररूप है इसीलिये स्वतंत्रता का साधक यह उपाय है।

---

१६८. छेदोपस्थापना चारित्र—संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओ के आगमन के रोकने का विचार कर रहा है। मोक्षमार्गी वही निर्ग्रन्थ साधु हो सकता है जो शुद्धोपयोग मे लीन हो, निश्चिन्त होकर आत्मानुभव करता हो। यही सामायिक-चारित्र है। यह अभेद रूप एक है। यहा मन, वचन, कायका सकल्प नहीं है सो इस सामायिक चारित्र से छटना छेद है सो भेद रूप चारित्र है। वह २८ मूलगुण रूप है अर्थात् अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इस प्रकार पाच महाव्रत। ईर्या (भूमि देखकर चलना), भाषा (निर्दोष वचन बोलना), एषणा (शुद्ध भोजन करना), आदान-निक्षेपण (देखकर रखना उठाना), व्युत्सर्ग (देखकर मल-मूत्र करना) यह पॉच समिति हैं। पाच इन्द्रियो का निरोध, प्रतिक्रमण (पिछले दोषो का त्याग), प्रत्याख्यान (आगामी दोष न करने की भावना) स्तुति, वन्दना, सामायिक, कायोत्सर्ग ऐसे छः आवश्यक। सात मूल-गुण यह हैं—१ केशलोच, २ स्नानत्याग, ३ दतधावनत्याग, ४ एक दफा भोजन, ५ खड़े होकर भोजन करना, ६ भूमि शयन, ७ वस्त्र त्याग। इस प्रकार भेदरूप चारित्र पालना छेद है।

इसके द्वारा सामायिक चारित्र मे स्थिर हो जाना। छेदो-पस्थापना चारित्र है। अथवा मन वचन, काय द्वारा वर्तन करते हुए प्रमाद से जो दोष हो जावे उनको दूर करनाछेदोपस्थापना है। अथवा

पुन: दीक्षा लेना छेदोपस्थापना है। इस तरह जैन साधु इस चारित्र को पालते हुए अपनी दृष्टि अपने शुद्ध आत्मा पर रखते हैं। उनका ध्येय एक आत्मरमण होता है। यही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक् चारित्र की एकता होती है। यही वह निर्मल शांतरस से पूर्णजल है जिसका वे पान करते हैं और आत्मा को पुष्ट बनाते है। यही वह सरलमार्ग है जो मोक्ष—महल तक चला गया है। इसमें कोई वक्रता नही है। यह सहज समाधिरूप है। यही वह आसन है जिस पर साधु लोग बैठकर विश्राम करते है। यही वह मिष्टान्न है जिसका वह भोजन करते है। यही भावश्रुत है जिसका वे पाठ करते हैं, सवरण का कारण है। सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र छठे से नवे गुणस्थान तक होता है। यही स्वतत्रता पाने का सरल उपाय है।

---

१६६. परिहारविशुद्धि चारित्र-संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओं के आगमन के निरोध का विचार कर रहा है। मोक्ष आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। संसारीजीव पाप-पुण्य कर्म के सम्बन्ध से परतन्त्र हो रहे है। इस परतन्त्रता का सर्वथा नाश निर्ग्रन्थ साधु ही कर सकते हैं जो शुद्धोपयोग के उपवन मे रमण करते हैं। कर्मों के सवर के लिए पांच प्रकार के चारित्रको पालते है। तीसरा चारित्र परिहारविशुद्धि है। यह विशेष चारित्र है। इसको वह ही महात्मा प्राप्त कर सकता है जिसने तीस वर्ष तक साता में बिताये हो। फिर मुनि हो तीर्थंकर की संगति में आठ वर्ष खर्च किये हो। और प्रत्याख्यानपूर्व को पढ़ा हो। इस चारित्रके प्रताप से विशेष हिंसा का त्याग होता है और साधु को विशेषशुद्धि प्राप्त होती है। यह छठे व सातवे गुणस्थान मे होता है। निश्चयनय से विचार किया जाय तो जहां सर्व परभावो का परिहार या त्याग है तथा आत्मा के शुद्ध स्वभाव में निवास है वहीं परिहारविशुद्धि है।

वास्तव में देखा जाय तो चारित्र एक ही प्रकार का है और वह आत्मरमण है, स्वसमय है, स्वसवेदन ज्ञान है, स्वात्मानुभव है, अपना ही विलास है। स्वतन्त्रता के अधिकारी ही सम्यग्दृष्टी होते हैं। जो स्व-पर तत्व के यथार्थ ज्ञाता हैं, जो सर्व ससार को हेय समझते हैं, जिनको विश्वास है कि सच्चा सुख अतीन्द्रिय आत्मा का स्वभाव है, जो आत्मा को सर्व अन्य आत्माओं से, सर्व पुद्गलों से, धर्म अधर्म, आकाश, काल, द्रव्यों से तथा अपने भीतर अनादिकाल से पाये जाने वाले ज्ञानावरणादिक कर्मों से रागादि विभावो से शरीरादि नोकर्मों से भिन्न जानते हैं जिनको आत्मिक तत्व मे रञ्चमात्र शका नही है, जिनके भीतर स्वतन्त्रता सिवाय किसी बात की कॉक्षा नही है, जो वस्तुस्वभाव को विचारते हुए किसी से ग्लानि नही करते हैं। जिनके भीतर रञ्चमात्र मूढता नही है, जो अपने आत्मोक गुणो की वृद्धि करते रहते है, जो अपने स्वरूप में स्थिरता रखते है, जो सर्व आत्माओं को सिद्ध के समान शुद्ध जानकर शुद्ध प्रेम रखते है जो आत्मीक प्रभावना मे दत्तचित्त हैं, ऐसे ही ज्ञानी जीव सवरतत्व को पाते हुए अपने शांत स्वरूप मे चलते हुए आत्मानन्द का भोग करते हैं।

---

१७०. सूक्ष्मसाम्परायचारित्र, संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म-शत्रुओं के आगमन के निरोध का विचार कर रहा है। यद्यपि स्वतन्त्रता आत्मा का स्वभाव है तथापि अनादि-काल से संसार मे पाप-पुण्य कर्मों के संयोग से यह आत्मा राग द्वेष व मोह के वशीभूत होकर परतन्त्र हो रहा है। इसके मेटने का उपाय वास्तव मे आत्म-स्वतन्त्रता का श्रद्धान ज्ञान व चारित्र है। निर्ग्रन्थ जैनसाधु चारित्रका पालन करते हैं। मुख्यचारित्र सामायिक है। इसके द्वारा नौवें गुणस्थान तक सवर करते हुए दसवें गुणस्थान मे पहुंच जाते हैं। वहा सूक्ष्म-साम्पराय चारित्र होता है। यह चारित्र

निर्मलता में कुछ ही कम है । जैसे रंगीन वस्त्र को धोते हुए सफेदी मे कुछ रंग का असर रह जाता है वैसे ही वीतराग चारित्र में सूक्ष्म-लोभ का कुछ असर है। इस चारित्र को पालते हुए साधु प्रथम शुद्ध-ध्यान को ध्याते है इसका नाम पृथक्त्ववितर्क-विचार है । यहां अबुद्धि-पूर्वक एक योग से दूसरा योग, एक शब्द से दूसरा शब्द, एक ध्येय पदार्थ से दूसरा ध्येय पलट जाता है तो भी साधु शुद्धोपयोग में रमते रहते है और अपनी आत्मा को शुद्ध बुद्ध वीतराग परमानन्दमय ध्याते हैं । वीतरागता के प्रभाव से बहुत से कर्मों का सवर करते है । यद्यपि स्वतन्त्रता अपने ही पास है तो भी इसका लाभ बहुत दुर्लभ है । जिनेन्द्र की आज्ञाप्रमाण चलने वाले निर्ग्रन्थ साधु ही इसे प्राप्त कर सकते है ।

एकान्तमत के धारी मिथ्यादृष्टी तपस्वी जो निर्ग्रन्थ मार्ग से बाहर शिथिलाचार मे प्रवर्तते है वे इसका लाभ नही कर सकते हैं । सम्यग्दृष्टी ज्ञानो जीव गृहस्थ हों या साधु स्वतन्त्रता के हकदार हैं; क्योंकि उन्होने भले प्रकार श्रद्धान कर लिया है कि संसार की दशा त्यागने योग्य है । इन्द्रियो के विषयों से कभी तृप्ति नहीं होती है । इन्द्रादिकपद शातिदायक नही है । सच्चो सुख शाँति अपने आत्मा के भीतर ही है । कर्म के उदय में कभी निराकुलता नहीं हो सकती । जगत में पदार्थों का सयोग धूप छाया के समान क्षणभंगुर है । पुद्गल का सबंध जीव के साथ हितकारी नहीं है । परम सुखी सिद्ध भगवान ही हैं, जिनका सयोग पुद्गल से व पुद्गलकृत विकारों से बिल्कुल नहीं है । ऐसे ज्ञानी जीव आत्मरमणता में रहकर परम सुख-शांति का लाभ करते हैं ।

---

१७१. यथाख्यातचारित्र-संवरभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओं के आगमन के निरोध का विचार कर रहा है । स्वतन्त्रता को वही प्राप्त कर सकता है जो शुद्धोपयोग

का अभ्यासी हो और गुणस्थानो के क्रम से उन्नति करे। चारित्र स्वभाव को कहते है। चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से यह समभाव रागद्वेष मे परिणत हो जाता है पाँचवा चारित्र 'यथाख्यात' है जिसका अर्थ यह है कि वह चारित्र जैसा चाहिये वैसा है, राग द्वेष से युक्त नहीं है। इस चारित्र का लाभ उपशमश्रेणी से चढ़ने वाले साधु को उपशांत मोह ११वे गुणस्थान में होता है। वहाँ पहला शुक्लध्यान है। क्षपकश्रेणी से चढने वाले साधु को भी १२वे क्षीणमोह गुणस्थान मे इस चारित्र का लाभ होता है। यहाँ पहला और दूसरा शुक्लध्यान है। फिर यह चारित्र छूटता नही है। १३वे गुणस्थान में भी रहता है। वहाँ तक केवल सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है। १४वे गुणस्थान मे भी ''ही रहता है। वहाँ पूर्ण संवर हो जाता है। १३ वे गुणस्थान के अन्त मे तीसरा शुक्लध्यान होता है। १४ वे मे चौथा शुक्ल ध्यान होता है, उसके प्रताप से यह जीव सब कर्मों से छूटकर सिद्ध हो जाता है।

सिद्ध भगवान मे भी यह चारित्र सदा बना रहता है। आत्मा आत्मा मे लीन रहना चारित्र है। जगतभर के पदार्थों को गुणपर्यायो को जानते हुए भो उनमे राग द्वेष नही होता है। यह इसी चारित्र का प्रताप है। इसी से आत्मा अतीन्द्रियआनन्द का सदा उपभोग करता है। इस चारित्र की जड़ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टी जीव चौथे गुणस्थान में ही स्वरूपाचरण चारित्र को पालते हैं। वही चारित्र बढ़ता हुआ यथाख्यात हो जाता है। इसके प्रताप से कषायों का रस जैसे २ सूख जाता है, चारित्र बढ़ता जाता है और संवर भाव अधिक होता जाता है।

स्वतन्त्रता के चाहने वाले को अपने स्वतंत्र स्वभाव पर दृष्टि रखनी चाहिये। परतन्त्रता से असहयोग करना चाहिये। आप ही अपने से अपने को स्वतन्त्रता मिलती है। निर्ग्रन्थ जैनसाधु ही इसको पा सकते हैं। बहिरात्मा एकान्ती तपस्वी इसे नहीं पा सकते। यथा-

ख्यात चारित्र वीतरागता का समुद्र है, जिसमें संतजन निरन्तर स्नान करते हैं और उसी के समरस जल का पान करते हैं।

---

१७२. अनशनतप-निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओं के कारणों का विचार कर चुका है; अब वह उन कर्मों की निर्जरा का विचार करता है, जो आत्मा की सत्ता मे विद्यमान हैं, जो उदय में आकर अनिष्ट फल उत्पन्न करते हैं। वास्तव मे वीतरागविज्ञानभाव ही निर्जरा का कारण है। यह भाव रत्नत्रय की एकता रूप है। अपने ही आत्मा का शुद्ध स्वरूप श्रद्धान ज्ञान व आचरणमय होना वीतराग विज्ञान है। यही निश्चय तप है। जैसे अग्नि में तपने से सुवर्ण शुद्ध होता है वैसे ही वीतराग विज्ञान की ध्यानमय अग्नि मे तपने से सुवर्ण शुद्ध होता है। व्यवहार नयसे तप के १२ भेद है-प्रथम अनशन तप है जहाँ चार प्रकार आहार का त्याग होता है, तब साधु निश्चित होकर वीतरागभाव की आराधना करते हैं। जहां कषाय आदि विभावों का त्याग हो, आत्मा को परकीय भावो का भोजन न दिया जाय वही अनशनतप है। इस तप के तपने वाले शुद्धोपयोगी निर्ग्रन्थ जैनसाधु होते है। अन्य मिथ्यादृष्टि तपस्वी इस तप की आराधना नही कर सकते। इस तप की जड़ सम्यग्दर्शन है, जिसमे व्यवहार नयसे जीव, अजीव, आस्रव, बध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वों का श्रद्धान होता है, फिर भेदविज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके द्वारा अपने आत्मा को सर्व अन्यात्माओ से, सर्व पुद्गलों से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व असंख्यात कालाणुओं से तथा सयोग में प्राप्त ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से रागादिक भावकर्मों से व शरीरादि नोकर्मों से भिन्न जाना जाता है और अपने आत्मा के शुद्ध दर्शन ज्ञान सुख वीर्य आदि गुणों का मनन किया जाता है। इस मनन के सतत प्रकाश से सम्यग्दर्शन के

बिरोधी अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्वकर्म का उदय बंद हो जाता है, तो एक अनिर्वचनीय अचिन्तनीय ज्योति का प्रकाश होता है। इसको स्वानुभव कहते हैं। यह ही वह अमोघ शस्त्र है, जिससे कर्मों का क्षय किया जाता है। सर्व प्रकार के तप की जड़ मे सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दृष्टि जीव निर्वाण का प्रेमी हो जाता है। सुख अवस्था ही उसको सुखकारी भासती है। वह संसार के सर्व इन्द्रादि और चक्रवर्ती आदि पदो से उदासीन हो जाता है, पुण्य के उदय को धूप छाया के समान क्षणभंगुर जानता है। पुण्य के उदय मे रजायमान होना, पुण्य के वियोग में दुख का कारण हो जाता है। इसलिये वह सम्यक्त्वी अशुभोपयोग, शुभोपयोग, पाप पुण्य, दुःख व सुख इन छहों से पूर्ण विरक्त हो जाता है। वह शुद्धोपयोग का ही प्रेमी होता है, जो अपनी शुद्ध अवस्था में सिद्धगति में सदा वना रहता है। सम्यग्दृष्टीजीव शिवकन्या का पूर्ण आसक्त हो जाता है। कषाय के उदय के व्यवहार में वर्णन करते हुये भी वह उदास रहता है। ससार की चेष्टा को नाटक के समान देखता है। ऐसे सम्यग्दृष्टी जैनसाधु अनशन तप करते हुये यद्यपि विभावो का भोजन नही करते है तो भी आत्मानन्द रूपी अमृत का पान करते है, और परमतृप्त रहते है।

---

१७३. ऊनोदर तप—निर्जरा भाव

स्वतंत्रता प्राप्ति का यत्न करने वाला एक जैन साधु शुद्धोपयोग का साधन करता है, इसी के प्रताप से कर्मों की निर्जरा होती है। बाहरी साधनों में ऊनोदर तप का अभ्यास करता है, जिसका भाव यह है कि भूख से कम खाता है, जिसमें आलस्य का विजय हो, ध्यान स्वाध्याय में विघ्न न आवे। वास्तव मे मोक्षमार्ग का पथिक एक सम्यग्दृष्टि ही हो सकता है जिसकी गाढ़ रुचि स्वरूप प्राप्ति की हो

जाती है, जिसको पूर्ण विश्वास है कि मेरे आत्मा में कोई रागद्वेषादि विभाव नहीं हैं, न आठ कर्मों का संयोग है। जब आत्मा को कर्म के बंध में देखा जाता है तो वहां सांसारिक सब अवस्थायें झलकती हैं, क्योंकि वे सब परस्कृत हैं, इसलिए त्यागने योग्य हैं। सम्यक्त्वी जीव भेदविज्ञान की कला से विभूषित रहता है। षट् द्रव्यमई लोक में भी सब द्रव्यो को अलग-अलग देखता है। जगत के जीवों मे उसको परमात्मा का दर्शन होता है। वह भले प्रकार जानता है कि यह संसार आठ कर्मों का नाटक है, पुद्गल के संयोग से ही नाना प्रकार की विभाव पर्यायें होती है। वह इन सबसे उदास रहता है। सम्यक्त्वी बड़ा वीर होता है, कर्मों के तीव्र उदय में भी अपने स्वरूप को नहीं भूलता। यह सम्यक्त्व की ही महिमा है जो चक्रवर्ती सरीखे बड़े-बड़े सम्राट राजपाट त्यागकर निर्ग्रन्थ साधु हो जाते हैं और ध्यान की सिद्धि के लिए कठिन-कठिन तप करते है।

ज्ञानी जीवों के सविपाक निर्जरा भी ऐसी होती है, जो संसार के कारणीभूत बन्ध नहीं करती। सम्यक्त्वी के परिणामों से जब२ स्वानुभव होता है तब २ विशेष अविपाक निर्जरा होती है। जीव-स्वभाव का घातक मुख्य मोहनीयकर्म है। वीतरागता के प्रभाव से १० वें सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक इसका सर्वथा नाश कर दिया जाता है। सम्यक्त्व के बिना जितना तपादिक किया जाय वह मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। द्रव्यलिंगी में ११ अंग के पाठी होते हैं तो भी सम्यक्त्व के बिना भवसागर के पार नहीं जा सकते। सम्यक्त्व ही धर्म की नौका का खेवटिया है। धर्मवृक्ष का बीज है, चारित्रमहल की नींव है। यही परम धन है जिसका भोग करते हुए मोक्ष मार्ग के पथिक को कभी कोई कष्ट नहीं होता है। वह ज्ञानामृत का पान करता है। शुद्धभाव रूपी अन्न भोग करता है। अतः परम सन्तोषी रहता है। स्वतन्त्रता के उद्योगी जैनसाधु तप के बल से परतन्त्रता को हटाते रहते है और स्वाधीनता को प्रकाश करते जाते हैं।

---

१७४. वृत्तिपरिसंख्यान–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा स्वतन्त्रता के लिए कर्म-शत्रुओं के क्षय का उद्यम कर रहा है। शुद्धोपयोग ही कर्मक्षय का उपाय है, यही वास्तविक तप है। इसके साधन के लिये जैननिर्ग्रन्थसाधु वृत्तिपरिसंख्यान तप का अभ्यास करते हैं। जब भिक्षा के लिये जाते हैं, तब कोई प्रतिज्ञा लेते हैं और प्रतिज्ञा पूरी होने पर ही आहार करते है। यदि प्रतिज्ञा पूरी नही होती तो बड़ी शाति से उपवास करके ध्यान का अभ्यास करते हैं। व्यवहार ध्यान के साधन नीचे प्रकार है :—

(१ स्थान निराकुल होना चाहिये, (२) समय योग्य होना चाहिये' (३) किसी आसन पर बैठना चाहिये, (४)पद्मासन आदि कोई आसन लगाना चाहिये, (५) मन मे धर्मध्यान के सिवाय और विषय को न आने देना चाहिये, (६) वचन मे ध्यान सम्बन्धी मन्त्रों के सिवाय और वार्तालाप न होना चाहिये, (७) शरीर शुद्ध और निश्चल रखना चाहिये। निश्चय ध्यान में अपने आत्मा के प्रदेश ही स्थान है, आत्मा में नित्य उपयोग रहना ही काल है आत्मा ही आसन हैं, आत्मा ही पद्मासनादि है, वहा पर मन वचन काय का सम्बन्ध नही है। आत्मा आत्मा में ही लवलीन है। आप ही ध्येय है। निश्चय ध्यान मे ही शुद्धोपयोग का विलास है। इस ध्यान की जड सम्यग्दर्शन का प्रकाश है। यह सम्यक्त्व आत्मा का विशेष गुण है। मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी कषाय के उदय से इसका प्रकाश नही हो रहा है। इस कर्म के आवरण को हटाने के लिये भेद-विज्ञान की आवश्यकता है। भेद-विज्ञान के लिये जीवादिक पदार्थों के ज्ञान की आवश्यकता है। यह ज्ञान प्रमाण और नय से होता है। प्रमाण से पदार्थो का सर्वांश ज्ञान होता है, नय से एकांश ज्ञान होता है। नयों में निश्चयनय व्यवहार नय प्रधान है। व्यवहार नय से कर्मों से सापेक्ष आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है, तब यह झलकता है कि जैसे जल मिट्टी अलग है, तिल में तेल और

भूसी अलग है, मलीन वस्त्र मे वस्त्र और मलीनता अलग है, वैसे ही आत्मा सर्व रागादि भावों से, ज्ञानावरणादि कर्मों से, शरीरा द नोकर्मों से भिन्न है, इसी तत्व को ग्रहण कर ध्यान में लगाना चाहिये। तब ही शुद्धोपयोग का प्रकाश होगा और वास्तविक निर्जरा का कारण तप प्रकट होगा।

---

१७५. रसपरित्याग–निर्जराभाव

ज्ञानी जीव कर्मशत्रुओ के क्षय का उपाय विचार कर रहा है। स्वतन्त्रता का प्रेमी जैन निर्ग्रंथ-साधु होता है। वह इसलिये शुद्धोपयोग-मयी ध्यान का अभ्यास करता है और इसीलिए तप का साधन करता है। रसपरित्याग तपमे रस के स्वाद का त्याग होता है। दूध, दही, घो, तेल, शक्कर, नमक इन छः रसो से नाना प्रकार के व्यंजन बनते है। साधुजन वीतरागभाव से इनका स्वाद लेते हैं। वे महात्मा षट्-रसो के स्वाद से विमुख होकर आत्मरस का स्वाद लेते है। आत्मा में परमानन्द है; सुख उसका स्वभाव है। जो आत्म-रसिक होता है वह उस सुख को निरन्तर भोगता है। आत्मरसिक वही हो सकता है जो सम्यक्दृष्टी हो; जिसको भले प्रकार निश्चय है कि पांचो इन्द्रियों से जो सुख होता है वह पराधीन होता है; परवस्तु के संयोग से और पुण्य कर्म के उदय से होता है।

इस सुख मे अनेक बाधाएँ आजाती हैं। पुण्य-कर्म का क्षय होने पर वस्तु का समागम नही होता है। इन्द्रियसुख नाशवान होता है, क्योकि आयुपर्यन्त ही भोगा जा सकता है। इन्द्रियसुख रागभाव बिना भोगा नही जा सकता, इसलिए कर्मबन्ध का कारण है और आकुलता का हेतु है इसलिए आदरने योग्य नही है। जबकि आत्मिक-सुख स्वाधीन है, बाधा रहित है, अविनाशीक है और वीतरागभाव

सहित होने से कर्मबन्ध का नाशक है और निराकुलता के साथ शोभायमान है, इसलिए सम्यग्दृष्टी इसी अतीन्द्रियसुख का प्रेमी होता है। इसकी निरन्तर प्राप्ति के लिए बाधककर्मों का नाश करना चाहता है। रसपरित्याग तप करते हुए वह ज्ञानी शुद्धोपयोग के बल से आत्मानुभव करता है और शातिमय ज्ञानसमुद्र मे स्नान करता है। ज्ञानरस का ही पान करता है और परम तृप्ति को पाता है।

---

१७६. विविक्तशय्यासन–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओ के नाश की भावना कर रहा है। जैनसाधु बारह प्रकार के तपो मे विविक्तशय्यासन तप की भावना करते हैं। एकान्त स्थान में शयन व आसन करते है, जिससे ध्यान स्वाध्याय ठीक होता चले। निश्चयनय से सर्व परपदार्थों से, परभावों से भिन्न शुद्ध आत्मा के भीतर शयन व आसन विविक्तशय्यासन तप है। इस तप के द्वारा शुद्धोपयोग का लाभ ही होता है, जिससे कर्म की निर्जरा होती है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी अपनी आत्मा का निश्चय भलेप्रकार कर लेते है, क्योकि आत्म-ध्यान की भूमिका आत्मा का दृढ़ श्रद्धान है।

यह आत्मा अखण्ड होने की अपेक्षा एकरूप है, अनेक गुणो को रखने की अपेक्षा अनेकरूप है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा सत्रूप है। परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा असत्रूप है। अविनाशी होने की अपेक्षा नित्य है। स्वाभाविक परिणमन होने की अपेक्षा अनित्यरूप है। इत्यादि ज्ञान स्याद्वाद के द्वारा होता है। जैनसाधु स्याद्वाद के ज्ञान में कुशल होते है और अनिर्वचनीय, मन से अगोचर आत्मा के भीतर एकतान हो जाते है। तप ही वह अग्नि है जो सुवर्ण के समान आत्मा को शुद्ध करती है। तप ही वह पवन है जो आत्मा की कर्मरूपी रजों को उड़ाता है। तप ही वह समुद्र है जिसमे स्नान

करने से परमशांति की प्राप्ति होती है। तप ही वह अमृत है जिसके पीने से परम संतोष होता है। तप ही वह औषधि है जो कर्मरोग दूर करती है। यह आत्मा सबसे निराला अद्भुत पदार्थ है। इसका आनन्द भी उसी को होता है जो सर्व इन्द्रियो से और मन के विषय से अलग होकर आप मे ही ठहर जाता है और परमसुख को पाता है।

---

१७७. कायक्लेशतप–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओं के क्षय का उपाय विचार कर रहा है। बारह तपो मे कायक्लेश नाम का तप है जिसका अभिप्राय यह है कि शरीर को कष्ट देते हुए शान्तभाव से ध्यान का अभ्यास करना। जैन निर्ग्रन्थ साधु इस तप का साधन करते हैं। शीतकाल में नदी तट पर, ग्रीष्मकाल मे पर्वत पर, वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे ध्यान करते हैं। निश्चयनय से आत्मा के कोई पुद्गलकृत शरीर ही नही होता इसलिए कागक्लेश नही है। आत्मा चैतन्यधातु को मूर्ति है जिसके ऊपर पुद्गल कोई आपत्ति नही कर सकता है। इसलिए आत्मा सदा ही क्लेश रहित हो अपने स्वरूप में मनन करता है और आत्मिक आनन्द का स्वाद लेता है। साधक अवस्था मे जैनसाधु निश्चयनय के द्वारा अपने आत्मा को परमशुद्ध देख कर उसो मे तन्मय हो जाता है।

शुद्धोपयोग का प्रकाश करता है जिससे कर्म की निर्जरा होती है। वे साधु ससार शरीर--भोगों से उदास रहते है। ससार आसार है, दुखरूपी क्षारजल से भरा है, सयोग-वियोग सहित हैं। मानव का शरीर महान् अशुद्ध है इन्द्रियभोग अतृप्तिकारक व नाशवत हैं। एक निजस्वरूप हो ग्रहण करने योग्य है, जहां किसी पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल, व पर-भाव का प्रवेश नही है। यह नित्य अपने ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व आदि गुणो मे तल्लीन है। सर्व बाधा

रहित है। आत्मा ही अपने लिये आप ही गङ्गाजल है। आप से आप को पवित्र रखता है। आत्मा आकाश के समान निर्लेप और असंग है। ऐसी भावना जो भाता है वह परमआनन्द को पाकर तृप्त रहता है और स्वआत्म-रमणरूप को साधता है।

---

१७८. प्रायश्चिततप–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओ के नाश का विचार कर रहा है। निर्जरा का कारण शुद्धोपयोग है, वही वास्तव में ध्यान है। व्यवहार नय से बारह तपों में प्रायश्चित तप भी है। जैनसाधु अपने चारित्र में मन वचन काय जो कृतकारित अनुमोदन से लगे हुए है, अतिचारो की शुद्धि के लिये प्रायश्चित लेते है निश्चय से आत्मा परम निर्दोष है, उसमे कोई प्रायश्चित को आवश्यकता नही है। तप वास्तव में आनन्द का स्थान है। जब सम्यग्दृष्टि सर्व इन्द्रियों से और मन के विकल्पो से दूर होकर अपने से अपने आपको अपने लिये आप ही के द्वारा अपने आप ही स्थापित करता है तब वचन से अगोचर स्वानुभव प्रकट होता है, तब आत्मिक सुख का स्वाद आता है। यही भाव निर्जरा है। सम्यग्दृष्टि जीव भेद-विज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को सर्व ही परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल व परभावों से भिन्न जानता है। स्याद्वादनय के द्वारा भेद रूप अपने स्वरूप का निश्चय कर लेता है।

वह आत्मा अनन्तगुण पर्यायो का पिंड है इसलिये अभेद रूप है। परन्तु गुण-पर्यायो की अपेक्षा भेद रूप है। यह आत्मा अपने स्वभाव को कभी त्यागता नही है इसलिए नित्य है, परिणमन की अपेक्षा अनित्य है। अपने स्वभाव की अपेक्षा सत्‌रूप है, पर-भाव की अपेक्षा असत्‌रूप है। इस तरह स्वभाव का निर्णय करके व्यवहार निश्चयनय से आत्मा को जानकर जब ज्ञानी सर्व विकल्पों से रहित

होकर अपने मे स्थिर होता है तब मन वचन काय के विकल्प नहीं होते हैं।

एक सुन्दर उपवन मिल जाता है उसी में वह रमण करता है। वह स्वद्वीप में पहुंच जाता है, रत्नत्रय का आनन्द लेता है। क्षीरसागर के समान परमशान्त आत्मा मे स्नान करते हुए परम शांति पाता है। निर्मल आकाश के समान आत्मा मे असंग भाव रखकर ही समता का लाभ होता है वही परम सामायिक है, वास्तव मे वही प्रायश्चित तप है जिससे शुद्धता का अनुभव होता है और परम तृप्ति मिलती है। मोक्षमार्ग का पथिक परम निस्पृह होता है। आपके सिवाय किसी भी अन्य को नही चाहता है। देखा जाय तो वह मुक्तरूप ही है अथवा बंध मोक्ष की कल्पना से बाहर है।

---

१७९. विनयतप–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का विचार कर रहा है। कर्मक्षय का कारण शुद्धोपयोग है। उसी के साधन के लिसे विनय तप का विचार जैनसाधु करते है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र यह रत्नत्रयधर्म मोक्ष का साधक है। इसकी ही वे बड़ी भक्ति करते हैं, बड़े प्रेम से पालते है तथा रत्नत्रय के साधन करने वालो से भी प्रेम-भाव रखते है। निश्चयनय से विचारते है तो वे अपने ही आत्मा की अनुभूति करते हैं, यही विनय है। विनय-तप सम्यग्दृष्टि का मुख्य कर्तव्य है। सम्यग्दृष्टि को पूर्ण विश्वास है कि मेरा आत्मा सपूर्ण रागादिक भावों से, ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से और शरीर आदि नो कर्मों से जुदा है। इसकी सत्ता न्यारी है। यद्यपि स्वयमेव सब आत्माएं समान हैं। रागद्वेष का कारण ससारी आत्माओ को भेदरूप देखना है। एक समान देखने से रागद्वेष नही रहता, समभाव जागृत हो जाता है।

यही समताभाव शुद्धोपयोग है। सम्यग्दृष्टि निश्चयनय की दृष्टि रखकर व्यवहारनय से उदासीन रहता है। यद्यपि यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का धारी है, तथापि वे दोनो ज्ञान सविकल्प हैं। स्वसंवेदन ज्ञान के होते हुए मति-श्रुत दोनो उसी में गर्भित हो जाते हैं। वास्तव में ज्ञान सूर्य के समान एक प्रकाश है, जिसमे पाच भेद नही हैं। ज्ञानावरण कर्म का संयोग देखने पर ज्ञान के भेद देखने में आते है। सहजज्ञान आत्मा का स्वभाव है, उसी ज्ञान का अनुभव स्वतन्त्रता का उपाय है।

जैसी भावना भावे वैसा हो जावे, इस तत्व के अनुसार स्वतंत्रता की भावना स्वतत्र होने का उपाय है। स्वानुभव एक ऐसा शर्बत है जिसमें अनेक रसरूप आत्मिक गुणो का सम्मिलित स्वाद रहता है। स्वानुभव एक ऐसा आसन है जिसपर बैठने से पूर्ण स्थिरता प्राप्त होती है। स्वानुभव एक ऐसा दर्पण है जिसमे आत्मा का दर्शन होता है। स्वानुभव अमृत को घूट है जिसको पीने से परम तृप्ति होती है। स्वानुभव ही निश्चय तप है, इसी से कर्म स्वय क्षय हो जाते है और परमानन्द का लाभ होता है।

---

१८०. वैय्यावृततप–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओ के क्षय का विचार कर रहा है। जैन निर्ग्रन्थसाधु बारह तपो मे वय्यावृत तप का भी साधन करते है। दूसरे साधुओ की सेवा करते हुए उनके रत्नत्रय धर्म मे सहायक होते है। निश्चय से वे साधुगण अपने आत्मा की ही वैय्यावृत करते है। परपदार्थों से उपयोग को हटाकर अपने ही आत्मा के स्वरूप मे तल्लीन करते है, स्वानुभव को जगाते है, शुद्धोपयोग को झलकाते हैं, परमानंद को पाते है; तब कर्म स्वय झड़ जाते है। सम्यक्‌दृष्टि भले प्रकार निश्चय रखते है कि मेरा स्वरूप एकत्व रहे; उसमे कोई अन्य भावका

संसर्ग नहीं है। कर्मजनित अवस्थाएं पर हैं। आत्मा अपने स्वभाव से अखण्ड और अविनाशी हैं। उसका स्वरूप यद्यपि वचनो के द्वारा कहा जाता है या मन के द्वारा जाना जाता है तथापि उसका स्वरूप वचन से अगोचर है। जो कोई मन वचन काय से नाता तोड़ कर आपसे आप मे तिष्ठता है वही आत्मा को ठीक ठीक जान सकता है। आत्मा एक अनुपम पदार्थ है, उसके समान कोई दूसरा पदार्थ जगत मे नहीं है जिसकी सदृशता बताई जावे।

वास्तव में सम्यक्दर्शन गुण के प्रकाश होने पर ही आत्मा का साक्षात्कार होता है। ज्ञानी जीव पुनः पुनः निश्चयनय का मनन करके भेदविज्ञान को प्राप्त करते है, तब अपना स्वरूप दर्पण के समान झलक जाता है। अपने स्वरूप मे सब कुछ है। आत्मा का ज्ञान-गुण लोकालोक व्यापक है। जगत छः द्रव्यों का समूह है। श्रुतज्ञानी-केवलज्ञानी के समान आत्मा का अनुभव करते है। तप वही है जहां आत्मा आत्मा मे तपन करे अर्थात् आत्मध्यान की अग्नि जलाये। असल मे आपसे ही आप शुद्धता होती है, उपादान कारण आपका आप ही है। स्वानुभव ही अद्भुत कला है। जिसको प्राप्त हो जाती है वही सम्यक्दृष्टि है। वह अपने भीतर निर्वाण का अनुभव करता है। वह परमानन्दमयी अमृत का प्रवाह अपने में बहाता है, उसी मे गोते लगाता है, उसी को पीता है। सर्व तृष्णा का ताप शान्त हो जाता है। अपूर्व शान्ति का लाभ होता है। यथार्थ धर्म की प्राप्ति होती है। ससार-नाशक उपाय मिल जाता है। धन्य हैं वे पुरुष जो शुद्धोपयोग के द्वारा वास्तविक तप तपते है और सदा आनन्दमय है।

---

१८१. स्वाध्यायतप—निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओ के क्षय का विचार कर रहा है। जैन निर्ग्रन्थ साधु बारहतपो का अभ्यास इसीलिए करते है कि शुद्धो-

पर्यायरूप अग्नि जल जाए। इसी से ही कर्मों का विनाश होता है। स्वाध्याय भी परम उपयोगी तप है। जिनेन्द्रप्रणीत.शास्त्रों का पठन, पाठन, मनन करना स्वाध्याय है। इसके प्रताप से अज्ञान का नाश होता है और आत्मिक ज्ञान का प्रकाश होता है। निश्चय से अपने ही शुद्ध आत्मा का अनुभव स्वाध्याय है। आत्मा निश्चय से अपने स्वरूप में नित्य मगन हैं, उसमें कोई चचलता नही है। वह सदा आत्मीक तप में तपनशील है। सम्यग्दृष्टि जीव ही तपके साधक होते हैं, उनको भेद विज्ञान रहता है। जिससे वह धान मे चावल की तरह, तिल में तेल की तरह, सुवर्ण पाषाण मे सुवर्ण की तरह अपने आत्मा को सर्व पर-द्रव्यों से व पर-भावो से जुदा देखते है। उनकी दृष्टि मे यह जगत छह द्रव्यरूप जुदा जुदा दीखता है। सर्व पुद्गल परमाणुरूप सर्व-जीव सिद्ध के समान, शुद्ध, धर्म अधर्म आकाश काल अपने स्वभाव ही में स्थित दीखते हैं। पुद्गल से मिले हुए आत्माओ में भी सब आत्माएं शुद्ध झलकती हैं। तब समानभाव या वीतरागभाव प्रगट होजाता है। राग-द्वेष का कारण नही रहता है।

समताभाव रहना ही परम तप है। ज्ञानी जीव समताभाव में सुखसागर को पाते है; उसी में मगन हो जाते है, उसी के शान्त रस का पान करते है, उसी के निर्मलजल से कर्म-मल छुड़ाते है। समता-भाव एक अपूर्व चन्द्रमा है, जिसके देखने से सदा ही सुख शाँति मिलती है। समताभाव परम उज्ज्वल वस्त्र है जिसको पहनने से आत्मा की परम शोभा होती है। समताभाव एक शीघ्रगामी जहाज है जिसपर चढ़कर ज्ञानी जीव भवसागर से पार हो जाते है। समताभाव रत्नत्रय-की माला है जिसको पहनने से परमशांति मिलती है। समताभाव परमानन्दमयी अमृत का घर है, जिसमें भीतर से अमृतरस रहते हुए भी वह कभी कम नहीं होता है। जो समताभाव के स्वामी हैं वही परम तपस्वी हैं। वे शीघ्र स्वतन्त्रता को पाकर परमसन्तोषी हो जाते हैं। और तृष्णा के आताप से रहित हो जाते हैं।

---

१८२. व्युत्सर्गतप–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश के लिए आप विचार कर रहा है। शुद्धोपयोग ही सार तप है जिससे कर्म का क्षय होता है। उसी के लिए व्युत्सर्ग नाम अन्तरंग तप है। जहाँ बाहरी क्षेत्र आदि दशप्रकार परिग्रह और मिथ्यात्व, रागद्वेष आदि चौदह प्रकार अतरंगपरिग्रह से पूर्ण ममत्व का त्याग हो वह व्युत्सर्ग तप है। निश्चयनय से आत्मा व्युत्सर्ग तपरूप ही है। आत्मा बिल्कुल निराला है। परद्रव्यों के संबंध से रहित है। उसमे मोहनीय कर्म का कोई उदय नहीं है जिससे परसे ममत्वभाव हो सके। आत्मा अपनी सत्ता मे आप विराजमान है। अपनी शुद्धपरिणति का आप ही कर्ता है। अपने शुद्ध आनन्द का आप ही भोक्ता है। यह अनन्त गुणो का पिंडरूप द्रव्य है। असंख्यात-प्रदेशी इसका क्षेत्र है। शुद्ध परिणमन इसका काल है। शुद्धज्ञान दर्शन, सुख, वीर्यादि इसका भाव है। इस तरह अपने चतुष्टय से अपनी सत्ता निरालो रखता है। पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का इसमें अभाव है।

जब मन, वचन, कायके व्यापारों को बन्द कर दिया जाता है और आत्मा का उपयोग आत्मा मे ही थिर होजाता है तब शुद्धोपयोग का प्रकाश होता है। उस समय आत्मा सम्बन्धी गुण-पर्यायो का विकल्प मिट जाता है। निश्चयनय का भी भाव बन्द हो जाता है। मति, श्रुत-ज्ञान आदि का विचार भी नही रहता है। नाम आदि निक्षेप भी नही रहते। एक अद्वैत तत्व का अनुभव जगजाता है। इस अनुभव में अनन्त गुणो का स्वाद उसी प्रकार गर्भित है जैसे एक शर्बत में अनेक वस्तुओं का तत्व मिश्रित हो। स्वात्मानुभव एक अपूर्व दर्पण है जहां आत्मा का यथार्थ चमकता है। आत्मानुभव अपूर्व किला है जहां राग आदि भाव का व किसी संकल्प-विकल्प का प्रवेश नहीं हो सकता। आत्मानुभव एक अपूर्व शिला है जिस पर बैठकर आत्मा आप में मगन हो जाता है। आत्मानुभव एक सुन्दर महल है जहाँ बैठने से

शिव सुन्दरी का दर्शन होता है। आत्मानुभव एक ऐसा शस्त्र है जो कर्मों को काट देता है। आत्मानुभव आनन्दअमृत का घट है जिससे आनन्दरस सदा पान किया जा सकता है। आत्मानुभव एक अपूर्व आभूषण है जिससे आत्मा की शोभा होती है।आत्मानुभव शांति और समता की खान है जहा कभी भव आताप नही रहता। आत्मानुभव ही यथार्थ तप है। इसके स्वामी जैन निर्ग्रन्थ-साधु होते है जो स्वतंत्रता का लाभ करते है।

---

१८३. ध्यानतप–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कररहा है। बारह तपो म मुख्य तप ध्यान है। शेष तप ध्यान के लिए कारण हैं। जहाँ ध्याता किसी ध्येय का चिन्तवन करता है उसको ध्यान कहते है और ध्येय से एकाग्र हो जाना ध्यान है। ध्यानयोग्य अपना शुद्ध आत्मा है या अर्हन्त या सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रय धर्म है। धर्मध्यान शुक्लध्यान मोक्ष के कारण है। निश्चयनय से आत्मा ध्यान के विकल्पो से रहित है। वह स्वय आत्मानन्द में मग्न है। स्वात्मानुभूति का होना ही निश्चयध्यान है। जहाँ मन वचन काय के व्यापार बद हो जाते है, स्व-समाधि भाव जागृत होजाता है तब सर्व भदभाव दूर हो जाता है। यही सच्चा नग्नत्व है; यही दिगम्बरत्व है, यही निर्ग्रन्थ लिग है।

यहाँ क्रोधादि कषाय का भाव नही चलता। पाचों इन्द्रिया भी बेकाम हो जाती है। स्वानुभूति समताभाव को जागृत करती है। यही भाव वीतरागता सहित होने से कर्मों का नाशकारक है। रागद्वेष से बध होता है तब वीतराग भाव स बध का नाश होता है। यह भाव आत्मानद से परिपूर्ण है। इसमे कोई दुःख नही है। यही भाव शिवकन्या को मोहित करने वाला है। यही भाव ज्ञान का मन्दिर है। यही भाव शांति का सागर है। यही भाव निर्मल दर्पण है, जहाँ अनतभाव

दिखते हैं तो भी कोई विकार नहीं आता। यही भाव संसार बंधनाशक अग्नि है जो अन्तर्मुहूर्त में कर्मों का नाश कर देतो है। यही भाव प्रचण्ड-पवन है जो कर्म रज को उड़ा देता है। यहो भाव तोव्र मेघधारा है जो कर्मरज को बहा देतो है। यही भाव अनतगुणों की खान है जिसमें शर्बत की तरह मिश्रित स्वाद रहता है। यही भाव रमणीक उपवन है जहाँ आत्मा एकरस मे रमण करता है। यही भाव परमरत्न है जिससे आत्मा की शोभा होतो है। यही भाव निश्चय मोक्षमार्ग है और शिवमहल को जाने वाली सीधी सड़क है। यही. भाव परम तप है।

इस भाव के धारो परम तपस्वी शाँतरस में मग्न हो आत्मानंद का स्वाद लेते हैं और अपने आत्मीक सुवर्ण को शुद्ध करते चले जाते है इस भाव को महिमा अपार है, वचन अगोचर है, अनुभवगम्य है। जो जानता है वही आत्मज्ञानो निर्जरा तत्व है।

---

१८४. पदस्थध्यान–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का विचार कर रहा है। वह कर्मों का क्षय ध्यान की अग्नि से कर रहा है। ध्यान करने के अनेक उपाय है। उनमे से पदस्थ ध्यान भो एक है। पदो के द्वारा आत्मा व परमात्मा का ध्यान करना पदस्थ ध्यान है। ॐ, अर्हन्त, सिद्ध आदि पदो को शरीर के किसी स्थान मे स्थापित करके उन पदो के द्वारा ध्यान करना चाहिये. जैसे 'ॐ' मंत्र को नाभिकमल मे, हृदयकमल में मुख-कमल मे, नासिका के अग्रभाग मे, दोनों भौंहो के बीच में व मस्तक पर, सिर में बिराजमान् करके ध्यान करना। यह व्यवहार ध्यान है। इसके द्वारा निश्चय आत्मध्यान की सिद्धि होती है। णमोकार मंत्र के पाँचों पदों को एक कमल मे स्थापित करके ध्यान किया जा सकता है।

हरएक ध्यान में लक्ष्य शुद्धात्मा का होता है। स्वय स्वानुभव रूप है। यह ही वास्तव में सच्चा ध्यान है। जो निश्चयनय का अवलंबन लेते हैं वे अद्वैत एक ब्रह्मभाव मे पहुंच जाते हैं तब मन, वचन, कायका विकल्प नही रहता, परमसमाधि जागृत हो जाती है।

असल मे यही ध्यान की अग्नि है, इसी को धर्मध्यान या शुक्लध्यान कहते है। ऐसा ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक लगातार रहने से केवलज्ञान हो जाता है। जब आपसे आपमे ठहर जाता है तब पर पदार्थों से सम्बन्ध नही रहता है। सिवाय अपनी आत्मा के और आत्माओं का विचार भी नही रहता। इस समय अर्हन्त व सिद्ध का ध्यान भी परभाव रूप परिग्रह है, परतत्व है। निजतत्व तो आप असग है। इस तत्व के साथ किसी भी मोह का विकल्प नही है। यही वीतरागभाव है जो कर्मनाशक है। वीतराग भाव ही पानी की धारा है जो कर्मरज को बहाती है।

वीतराग भाव ही प्रचण्ड वायु है जो कर्म रज को उड़ाती है। वीतराग भाव ही वह अभेद किला है जिसमे मिथ्यात्व- अविरति, कषाय आदि आस्रव प्रवेश नही कर पाते। वीतराग भाव ही सुन्दर प्रफुल्लित उपवन है, जहाँ ज्ञानी सुख से रमण करता है। वीतरागभाव ही जहाज है जो भवसागर के पार जीव को ले जाता है। वीतराग भाव ही एक ऐसा अमृत है जिसको पान करने से जीव अमर हो जाता है। वीतराग भाव ही आनद का सागर है जिसम बार-बार स्नान करने से आत्मा शुद्ध होता है। यही निश्चय तप है।

---

१८५ पिण्डस्थध्यान–निर्जराभाव

(१)

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का विचार कर रहा है। बारह तपो मे मुख्य तप ध्यान है। ध्यान करने के अनेक प्रकार हैं। उनमे से पिण्डस्थध्यान भी है। पिण्ड नाम शरीर का है, उसमे स्थित आत्मा का

ध्यान पिण्डस्थध्यान है। उसकी पाँच धारणाएं हैं। पहली पार्थिवी धारणा है। उसमे ऐसा विचार किया जाता है कि मध्यलोक क्षीर-सागर के समान है, उसके बीच मे जम्बूद्वीप के समान एक हजार पाँख-ड़ीका कमल है। कमल के मध्य में सुमेरु पर्वत के समान कर्णिका है। सुमेरु पर्वत पर पांडुक वन है, उसमे पांडुकशिला है। उस पर मैं पद्मासन बैठा हूं। प्रयोजन कर्मो के भस्म करने का है। इस तरह बार-बार ध्यान करना पार्थिवी धारणा है। इससे उपयोग एक स्थान में केन्द्रीभूत हो जाता है। निश्चयनय से आत्मा स्वयं ध्यानस्वरूप है। आत्मा निरन्तर अपने स्वभाव मे बसता हुआ पर-भाव से विरक्त रहता है। अपनी स्वाभाविक सम्पदा का ही भोग करता है। उसकी ज्ञान दर्शन सुख वीर्य आदि अमिट व अविनाशी सम्पदा है।

इस सम्पदा का धनी कभी भी परस्वरूप परिणमन नही करता है, अपने ही रस मे मगन है। सम्यक्दृष्टी ज्ञानी जीव ही इस तत्व को पहचानते हैं। वे जानते है कि जगत मे छः द्रव्यों की सत्ता होने पर भी अपने अपने प्रदेशों मे हरएक पदार्थ अलग-अलग है। हर जीव भी दूसरे जीवों से भिन्न अपनी सत्ता रखता है। हरएक जीव अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव से न्यारा है। अपने को न्यारा देखते हुए सम्यक्त्वी जीव अपने समान सब जीवो को भी देखता है इसलिये राग द्वेष नहीं करता। आत्मानंद के लिए अपने ही स्वरूप मे थिर हो जाता है। यही वास्तविक आत्मध्यान है। इस आत्मध्यान मे वीतरागता का संचार है, जिससे कर्म की निर्जरा होती है। निर्जराभाव अपना ही तत्व है। इस तत्व में समुद्र के समान गम्भीरता है, पृथ्वी के समान क्षमता है, जल के समान शीतलता है, अग्नि के समान दाहकता है, सूर्य के समान प्रकाशपना है। इस तत्व में अद्भुत सौंदर्य है जिसकी उपमा जगत में नही दी जा सकती है। इस तत्व का प्रेमी अन्तरात्मा सदा सुखी रहता है। उसको सांसारिक विकल्प-जाल आकुलित नहीं

करते । जो इस तत्व में रम जाता है वही वास्तव में ध्यान करने वाला है और वही सुखशांति का सदा भोग करता है ।

---

१८६. पिण्डस्थध्यान–निर्जराभाव
(२)

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का विचार कर रहा है । ध्यान से कर्मों की निर्जरा होती है । पिण्ड़स्थ ध्यान की दूसरी धारणा आग्नेयी धारणा है । ध्यान करने वाला मेरुपर्वत पर पद्मासन बैठा हुआ ऐसा विचार करता है कि मेरे नाभिस्थान में ऊपर से उठा हुआ सोलह पत्ते का एक कमल है, उन पत्तो पर अ, आ आदि सोलह स्वर लिखे हुए है । कमल के बीच में 'र्हं' शब्द है । दूसरा कमल उसी के ऊपर हृदय-स्थान मे औधा आठ पत्तो का है जो ज्ञानावरण आदि आठ कर्मरूप है । फिर विचार करे कि नीचे के कमलके 'र्हं' की रेफसे धुआं निकला, फिर अग्नि की लौ बन्ध गई, वह ऊपर उठती हुई आठ कर्मों के कमल को जलाने लगी । उसकी लौ मस्तक पर आ गई । फिर शरीर के तरफ फैल गई । अग्नि मे त्रिकोण बन गया । यह त्रिकोण पर— अक्षरो से व्याप्त है । त्रिकोण के तीनों वायुकोणो में तीन स्वस्तिक अग्निमय बने हैं ।

इस तरह बाहर का अग्निमंडल शरीर को और भीतरी अग्नि-मंडल आठ कर्मों को जला रहा है । जलते-जलते शरीर और कर्म राख हो गये । ऐसा बार बार चिंतवन करना आग्नेय धारणा है । यह व्यवहार ध्यान है । निश्चय से आत्मा सदा ही ध्यान रूप है । वह कभी अपने से बाहर नही जाता, उसमें परमथिरता बनी रहती है, जिससे वह आत्मीक आनद का रस लेता रहता है । महावीतरागता के प्रभाव से कर्मास्रव नही होता । अद्भुत आत्मविकास रहता है । शुद्ध सूर्य के समान ज्ञान चमकता है । उसमे विश्व के सकल पदार्थ गुणपर्याय सहित झलकते रहते हैं । परन्तु विकार उत्पन्न नही करते ।

वह निर्मल ज्ञान दर्पण के समान होता है। ज्ञान ज्ञेय में जाता नहीं ज्ञेय ज्ञान में जाते नही। निर्मल आत्म अनुभूति सदा बनी रहती है, जिसके प्रताप से आत्मा में कोई परकी अनुभूति नही होती है। स्वसम्वेदन-ज्ञान झलकता है; वीतराग चारित्र चमकता है, निश्चयसम्यग्दर्शन झलकता है, स्वातन्त्र्यमयी एक सागर बन जाता है। परिणमन स्वभाव की अपेक्षा नाना स्वाभाविक पर्यायें कल्लोलवत् उठती हैं। तो भी आत्मसमुद्र में कोई मलीनता नही होती है। इस समुद्र में आत्मा आप ही स्नान करता है। आप ही उसमे क्रीड़ा करता है। प म सुख शांति को भोगता है। जो इस तत्व को समझता है वही कर्मों का नाश कर सकता है।

---

१८७. पिण्डस्थध्यान–निर्जराभाव

(३)

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का विचार कर रहा है। पिण्डस्थ ध्यान बहुत उपयोगी है। अग्निधारणा के बाद पवनधारणा का विचार किया जाता है। ध्याता विचार करता है कि मेरे चारो तरफ पवन का मण्डल घूम रहा है जो कर्म शरीर की रज को उड़ा रहा है, आत्मा को शुचि कर रहा है। यह व्यवहार ध्यान है। निश्चयनय से आत्मा मे ध्यान ध्येय ध्याता का विकल्प नही है। आत्मा स्वयं आत्मा रूप है। ज्ञानगुण अपेक्षा ज्ञानमय है। दर्शन गुण अपेक्षा दर्शनमय है। चारित्रगुण अपेक्षा चारित्रमय है। सुखगुण अपेक्षा सुखमय है। वीर्य-गुण अपेक्षा वीर्यमय है, तथापि अखण्ड स्वरूप है। इसमें भेद कल्पना भी नही है। इसका ज्ञान समुद्रसमान गम्भीर है। ज्ञेयो की अपेक्षा अनेक कल्लोलें उठती हैं तो भी ज्ञान सामान्य को प्रकट करती है। आत्मा मे कोई रागादि विकार नही होता है। वह पूर्ण शान्तिमय बना रहता है। जो कोई आत्मा को आत्मारूप जानता है वही सम्यग्दृष्टि तत्वज्ञानी है। वह कभी भावकर्म रागादिक, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि नोकर्म शरीरादि को अपना नही मानता है। सम्यक्त्वी जीव परमज्ञान

वैराग्य से परिपूर्ण रहना है। उसका ज्ञान केवली भगवान के समान पदार्थों को यथार्थ जानता है। उसको सासारिक पदार्थों मे किंचित भी राग नही होता। कर्म के उदय होने पर ज्ञातादृष्टा रहता है। अंतरंग में उसका भाव परमशात रहता है। वह ध्यानी स्वात्मीक रसका पान करता है, जिस समय ही ध्यान की अग्नि प्रगट होती है जो कर्मईंधन को जलाती है। यही सच्चा तप है, यही भावनिर्जरा है, यही मोक्ष-मार्ग है। यही भवसागर से तरने का जहाज है, यही परम तृप्तिकारी आत्मा का भोजन है, यही तृष्णाशमनकारी अमृत रस है, यही आकुलतानाशक निराकुल निजपद है, यही भवरोग शमनकारी औषधि है, यही साधुओ का रमण करने लायक एक मनोहर उपवन है, यही समता प्रसारक चन्द्रकला है, यही परम पुष्टिकारक बल है। जो इस भाव के स्वामी है, वे ही परम ध्यानी है। वे नित सुख–शांति का भोग करते है।

---

१८८. पिण्डस्थध्यान–निर्जराभाव

(४)

ज्ञानी आत्मा कर्मो के नाश का उपाय विचार कर रहा है। कर्म-क्षय का कारण आत्मध्यान है। पिंडस्थ ध्यान मे चौथी जलधारणा है। ध्यानी ऐसा विचारता है कि काली घटाए आ रही हैं। मेघों से जोर से पानी बरसने लगा। मेरे ऊपर जलमण्डल बन गया। जल की धाराए कर्मरज को व शरीर की रज को दूरकर आत्मा को स्वच्छ कर रही है। यह व्यवहार ध्यान है। निश्चय से आत्मा स्वयं ध्यान स्व-रूप है। आप ही ध्येय है, आप ही ध्याता है, आप ही ध्यान है। वहां परवस्तु का कोई सम्बन्ध नही है। एकाकी असग ब्रह्मस्वरूप आत्मा अपने में ही कल्लोल करता है, आप ही अपने आनन्द को लेता है। आप ही अपने शुद्धभाव का करता है। शुद्धभाव इसका कर्म है। अपने द्वारा ही करता है इसलिए आप ही करण है। अपने लिये आप

ही करता है, इसलिये सम्प्रदान है। अपने में से ही अपनी परिणति करता है, इसलिये आप ही अपादान है। अपने में ही अपने भाव को करता है, इसलिये आप ही अधिकरण है।

निश्चय से इन षट् कारकों का विकल्प आत्मा में नहीं है। यह ज्ञान चेतना स्वरूप है। ज्ञान का ही अनुभव करता है। ज्ञानानंद का ही स्वाद लेता है। यह अपने मे ही एक सागर बनता है। उसी में ही स्नान करता है, उसी के अमृत को पीता है। इस तत्व को सम्यग्दृष्टि ही जानता है। सम्यग्दृष्टि भेद-विज्ञान के प्रताप से अपने आपको जैसा है वैसा ही जानता है। उसमे परवस्तु का सम्बन्ध नहीं मिलता है। जैसे हंस दूध पानी को भिन्न २ जानता है। चतुर वैद्य एक गुटके की औषधियों को भिन्न२ जानता है। न्यारिया बालू से सुवर्ण की कणिका को अलग जानता है। किसान धान्य में चावल से तुष को अलग जानता है। तेली तिल के तेल से भूसी को अलग जानता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने आपको परभावों से भिन्न जानता है। आत्मज्ञान की अग्नि को जलाता है, उसी में आपको तपाता है। यही निश्चय तप है। इसी से कर्मों की निर्जरा होती है और परमानन्द का लाभ होता है। सब आकुलताएं मिट जाती है। निर्वाण का मार्ग हाथ लगजाता है, सन्तोष होता है। यही अमृत रसायन है जो अमर करती है। यही वीतराग-भाव है। यही समता का मंदिर है, जिसमें आत्मदेव शांति से विराजता है। उसी को उपासना करना ज्ञानी का कर्तव्य है।

१८९: पिण्डस्थध्यान-निर्जराभाव

(५)

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार रहा है। ज्ञान से ही कर्मों की निर्जरा होती है। पिंडस्थ ध्यान की पांचवीं धारणा तत्व-रूप होती है। ध्याता विचारता है कि मेरे आत्मा के सर्वकर्मजल

थे, कर्मरज धुल गई, आत्मा सिद्ध समान शुद्ध हो यगा । मैं सिद्ध हूं, ऐसा ध्यान करता हुआ शुद्ध भावना करता है और कर्मों की प्रचुर निर्जरा करता है। पिडस्थ ध्यान व्यवहार ध्यान है। निश्चय से आत्मा स्वयं ध्यान स्वरूप है, उसमें कोई विकल्प नही होते। सम्यग्दृष्टि इस बात को जानता है, मिथ्यादृष्टि इस तत्व को नही जानता वह कर्मजनित भावों में अहंकार ममकार करता है। मैं करता हूं,, मैं भोक्ता हूं इस भाव में फसा रहता है। क्योकि उसको भेद-विज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। सम्यग्दृष्टी जानता है कि मैं अपनी परिणति का करता हूं, और अपने ज्ञान-स्वभाव का भोक्ता हू। उसको अतीन्द्रिय-ज्ञान में प्रेम होगया है। वह इन्द्रियजनित भोगों से उदास है। उसको निज पद के सिवाय और किसी पद की इच्छा नही है। भेद विज्ञान की कला से वह अपने को परमात्मारूप देखता है या अन्य सर्व-आत्माओ को भी अपने समान देखता है। इसलिए रागद्वेषादि भावो से दूर रहता है। और वीतरागी बना रहता है, समभाव में मगन रहता है। इस तरह स्वानुभूति को जगाता है तब सब विकल्पजालो से मुक्त हो जाता है। आत्मा का नाम निर्देश भी नही रहता, न गुण-गुणी का भेद रहता है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान भी विलय हो जाते हैं। स्वसंवेदन सहज ज्ञान का उदय हो जाता है। वह ज्ञान सूय के समान प्रकाशमान होता है। वह पूर्ण और अखड है। ज्ञेयों के निमित्त से ज्ञान में भेद नहीं होते। जैसे दर्पण पदार्थों को दिखलाता हुआ भी निर्विकारी रहता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टी का ज्ञान निर्विकार रहता है। वह अपने ज्ञान सागर मे कल्लोल करता है। ज्ञान दर्शन का ही पाठ करता है। सम्यग्दृष्टी का आत्मा एक परम दृढ़दुर्ग के समान है जिसमें परद्रव्य-परभावो का प्रवेश नही हो सकता। वह निश्चिन्त निराकुल होकर बिराजमान रहता है। स्वानुभति में रमण करना ही वास्तव में तप है। जहां आनन्द का अनुभव होता है, वीतरागता प्रकाशमान होती है। इसी से कर्म की निर्जरा होती है। स्वानुभति

ही वह क्रिया है जो आत्मरूपी सुवर्ण को ज्ञान वैराग्य के मसाले से शुद्ध करती है। और मोक्षनगर में पहुंचा देती है। जो स्वानुभूति में रमण करते हैं वे ही तपस्वी हैं। वे परम सन्तोषी रहते हैं।

---

१६०. रूपस्थध्यान—निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। कर्मों का नाश आत्मध्यान से होता है। उसका उपाय रूपस्थ ध्यान भी है। रूपस्थ ध्यान में तीर्थंकर भगवान का स्वरूप विचारना होता है। अरहंत परमेष्ठी समोशरण के श्रीमडप में सिंहासन पर अन्तरीक्ष पद्मासन से विराजमान हैं। चमर आदि आठ प्रातिहार्य से सुशोभित हैं। चारों तरफ बारह सभाओ में चारों प्रकार के देव देवी, मुनिराज, आर्यिका, मनुष्य, पशु विराजमान हैं। इन्द्रादिकदेव स्तुति कर रहे हैं। बड़ी भक्ति से पूजन कर रहे हैं। भगवान की दिव्य-वाणी खिर रही है। भगवान का स्वरूप परम वीतराग है। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य--चार अनंत चतुष्टय से शोभायमान हैं। वे स्वात्मानुभव मे लीन है। आत्मानंद का रसपान कर रहे हैं। भक्तों पर प्रसन्न नहीं होते हैं तो भी भक्तजन भक्ति करके पुण्य बांध रहे हैं। उनकी शातमुद्रा देखकर भक्तजन अपने आत्मा का स्मरण करते हैं। स्वय आत्मानुभव में लीन होजाते हैं। इस तरह बार २ चिंतवन करना रूपस्थ ध्यान है।

यह ध्यान व्यवहारनय से किया जाता है। निश्चयनय से आत्मा में ध्याता ध्येय ध्यान का विकल्प नही है। आत्मा अपने स्वरूप में सदा स्थित है। आत्मा चैतन्य धातु की मूर्ति है, परमसमतारस में लीन है। अपने गुणों में अभेद्य है। इसके असंख्यात प्रदेशों में स्फटिकमणि के समान परम शुद्धता है। इसके निष्कंप योग में रहने से कोई कर्म-नोकर्म इसमें प्रवेश नहीं कर सकते।

इसलिए वह परम निराकुल रहता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर भी परम वीतरागी बना रहता है। नित्य ही अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद लेता है। इस तत्व को जो कोई समझता है वही सम्यग्दृष्टी है। वही उस नौका को पा लेना है जो आत्मा को भवसागर से पार ले जाती है। यह नौका सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रत्नत्रय से बनी हुई है, आत्मानुभूतिरूप है। ये बिना किसी चंचलता के मोक्ष-नगर पहुंच जाती है। जो इस नौका पर आरोहण करता है वह सदा निराकुल रहकर स्वात्मीकरस का पान करता है, संसार के प्रपच जाल से छूट जाता है, परम सन्तोषी और सुखी बना रहता है। इसी नौका को भाव निर्जरा कहते हैं।

---

१९१. रूपातीतध्यान–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। ध्यान अग्नि से कर्म जलते हैं। रूपातीत ध्यान भी बहुत उपकारी है। इस ध्यान मे सिद्धों के स्वरूप का विचार किया जाता है। सिद्ध भगवान आठकर्मरहित सम्यक्त्वादि आठगुणसहित पुरुषाकार पद्मासन खड्गासन अमूर्तीक स्वरूप लोकाग्र विराजमान हैं। वे अपने स्वरूप में तन्मय निरजन निर्विकार हैं। अकर्ता और अभोक्ता है। समदर्शी सर्वज्ञ स्वाभिमुखी आत्मीक रसपान करता है, उसी समान मैं हू। देहरूपी मंदिर में विराजमान हू, परमात्मा स्वरूप हूं। इस प्रकार सिद्ध का ध्यान रूपातीत ध्यान है। ये भी परतत्व है, इसलिए व्यवहार ध्यान है। निश्चय से आत्मा ध्यान के विकल्पो से रहित है, सदा ही स्व-स्वरूप मे स्थित है, अखण्ड है। हरएक प्रदेश आनंदगुण से व्याप्त है। जैसे नमक की डली में खारापन होता है, आत्मा बंध मोक्ष की कल्पना से रहित है, अपने आप ही अपने गुणों का विकाश करने वाला है। परम निश्चल और स्वतन्त्र है।

ऐसे आत्मा को जो सम्यग्दृष्टी पहचानता है, वही निश्चय-मोक्षमार्ग में स्थित है, वही रत्नत्रय से विभूषित है, शिवनगर का स्वामी होता है। वास्तव में आपही अपना उद्धारक है, आप ही साधक है, आप ही साध्य है, आप ही देवल है, आप ही देव है, आप ही पूजक है, आप ही पूज्य है, आप ही समरस को उत्पन्न करके आप ही उसका पान करता है, आप अपने स्वभाव में परम सन्तोषी है। निज तत्व में परम गम्भीरता है। वह अनन्त शक्ति का धारक है। इस तत्व का अनुभव स्वानुभव है। सम्यग्दृष्टी को ये कला आजाती है इससे वह गृहस्थ हो या साधु सदा हो निर्लेप रहता है। जगत के प्रपंच का ज्ञाता-दृष्टा बना रहता है। दर्पण के समान निर्विकारी रहता है।

---

१९२. आज्ञाविचयधर्मध्यान–निर्जराभाव

तत्वज्ञानी को जीवन्मुक्त कहते है। उसके ज्ञान में और केवल-ज्ञानी के ज्ञान मे कोई अन्तर नहीं है। सामान्यभाव का अनुभव निर्विकल्पसुख का साधन है, यह ही वास्तव मे तप है, यह ही ध्यान है, जो कर्मों की निर्जरा करता है। स्वतन्त्रता का अनुभव स्वतन्त्र होने का उपाय है, परममंगलस्वरूप परमआनन्दपद है, परमतृप्तिका-रक है, सहज ही में मुक्ति का साधन है।

ज्ञानी आत्मा कर्मो के नाश का उपाय विचार कर रहा है। आत्मध्यान से कर्मों की निर्जरा होती है। आज्ञाविचय धर्मध्यान भी बहुत उपयोगी है। इसमे जिनेन्द्र की वाणी के अनुसार तत्वों का विचार किया जाता है। मुख्य तत्व जीव अजीव हैं। जीवका स्वभाव अनेकान्तरूप ध्यान करना योग्य है। आज्ञाविचय में आज्ञा की प्रधा-नता है। सूक्ष्मतत्व की परीक्षा करने की शक्ति न होने पर आगम के अनुसार विचारपूर्वक तत्व को मान लेना आवश्यक होता है, वह भी व्यवहार ध्यान है। निश्चय से आत्मा स्वयं ध्यान-स्वरूप है। आत्मा

का तत्व वचनअगोचर है, अनुभवगम्य है। इसमे ज्ञाता ज्ञेय का विकल्प नहीं है। जहां मन वचन काय स्थिर हो जाते हैं वहीं आत्मा का दर्शन होता है। आपसे आपको जानना स्वसंवेदनज्ञान है। यही भावश्रुतज्ञान है। द्वादशांगवाणी का यह सार है। सम्यग्दृष्टी जीव के यही ज्ञान अवश्य होता है। इसमें रत्नत्रय गर्भित है।

महामुनिगण इसी तत्व का ध्यान करते हैं जिससे अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ होता है। यह तत्व गंगाजल के समान निर्मल है। इसमे अवगाहन करना परम शातिप्रद है, सब पापों का निवारक है। इन्द्रादिक देव इसी तत्व की स्तुति करते है। यही तत्व चौथे गुणस्थान से झलकने लगता है। इसी तत्व से अर्हन्त और सिद्ध को परमात्मा पद प्राप्त है। तत्वज्ञानी इसी तत्व को मनन करते हुए एक-एक दशा मे सुखी रहते हैं। जहा रागद्वेषमोह का कोई विकल्प रही होता है वही आत्मतत्व झलकता है। यही समयसार है। परम अविकार है। ज्ञानियों का आभूषण है। इसके बिना द्रव्यलिंगीमुनि मिथ्यात्वभाव में बने रहते हैं। यही भावलिंग है। परमसमता का साधक है। यही निश्चयनय है।

---

१९३. विपाकविचयधर्मध्यान–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म-शत्रुओ के क्षय के लिए उपाय विचार कर रहा है। वीतरागभाव ही कर्म की निर्जरा का कारण है। इसकी प्राप्ति का उपाय विपाकविचयधर्मध्यान भी है। जगत में संसारी जीव कर्म-बन्धन से मलीन हो रहे हैं। उन कर्मों में कोई पुण्य कर्म है, कुछ पाप कर्म है.

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय यह चार घातीयकर्म तथा असातावेदनीय, अशुभनाम, नीचगोत्र, अशुभआयु, यह चार अघातीयकर्म पाप है। और सातावेदनीय, शुभनाम,

उच्चगोत्र और शुभआयु यह पुण्य कर्म हैं। इन पाप-पुण्य कर्मों के विपाक से आत्मा के विभावभाव और दुख सुख के समान होते हैं।

संसारी प्राणियों की सर्वप्रकार की दुःखित वा सुखित अवस्था का हेतु कर्म का उदय है। ध्याता अपनी और दूसरों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर विचार करते हुए उनके कारण कर्म-उदय पर लक्ष्य देता हुआ साम्यभाव की प्राप्ति करता है और कर्मों से भिन्न शुद्ध-आत्मा को उपादेय मानता है। इस प्रकार का चिन्तवन, विपाक-विचय धर्मध्यान है। यह व्यवहार ध्यान है।

निश्चयनय से आत्मा में ध्यान का कोई विकल्प नही है। आत्मा सदा अभेद, एकरूप, नित्य, निरंजन, निर्विकार, ज्ञाता, दृष्टा, परमानन्दमयी झलकता है।

ज्ञानी जीव इसी नय के द्वारा शुद्धतत्व का मनन करते हैं। स्वतत्व ही शुद्धतत्व है। इसके सामने अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु यह पचपरमेष्ठी भी परतत्व हैं। पुद्गलादि पांचद्रव्य तो पर-तत्व है ही। निजतत्व में रमण करना स्वानुभव है। जहां स्वानुभव है, वहीं रत्नत्रय की एकता है, वही मोक्षमार्ग हैं। इस तरह निश्चय-नय से आप ही ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय है, ध्याता ध्यान ध्येय हैं, पूजक, पूजा, पूज्य है, परम तपस्वी इसी स्वानुभव को तप समझते हैं। यही ध्यान की अग्नि है, जो कर्मों को जलाती है, आत्मबल बढ़ाती है, परमानन्द प्रदान करती है। स्वानुभव हो निर्मलजल है जिसमें अवगाहन करने से सब--आताप मिट जाता है। जिसके पान करने से तृषा शमन हो जाती है।

स्वानुभव ही वह दुर्ग है जिसमें बैठ जाने से मिथ्यात्व अविरत, कषाय, योग द्वारा आने वाले कर्मास्रव प्रवेश नहीं कर सकते। स्वानु-भव एक दर्पण है जिसमें आपसे आपका दर्शन होता है। जिस दर्शन से परम सुख-शांति का लाभ होता है। स्वानुभव एक ऐसी कला है

जिसके द्वारा सम्यग्दृष्टिजीव व्यवहारकार्य करते हुये भी अकर्ता बने रहते हैं। सुख दुःख को भोगते हुए भी अभोक्ता बने रहते हैं। स्वानुभव एक चन्द्रमा है जिसका पूर्ण प्रकाश परमात्मा में होता है और उसके अपूर्णप्रकाश का प्रारम्भ सम्यग्दृष्टि को अविरत सम्यक्त्व गुण स्थान में हो जाता है । सर्व द्वादशांगवाणी का सार स्वानुभव है।

यह ही भावश्रुतज्ञान है। केवलज्ञान के समान है। स्वानुभव के करने वाले वास्तव मे परमनिस्पृही, परमसन्तोषी रहते हैं। स्वानुभव ही भावनिर्जरा है। स्वानुभव ही एक सीधी सड़क है जो मोक्षनगर को चली गई है। धन्य है वे मानव जो स्वानुभव के स्वामी हो जाते है।

---

१६४. अपायविचयधर्मध्यान–निर्जराभाव

ज्ञानीजीव कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। तप ही से कर्म की निर्जरा होती है। अपायविचय धर्म ध्यान भी बड़ा उपकारी है। ज्ञानीजीव विचारता है कि आत्मा का बधन रागद्वेष मोहादि भावों के कारण होता है। उस बंध से आत्मा को पराधीन होना पड़ता है, स्वतन्त्र-सुख का स्वाद नही आता है। इसलिए परतंत्र कारक बंध के कारणों को मिटा देना ही हितकरी है। इसलिये वह अपने आत्मा के सिवाय सर्व पर-भावों से उदासीन हो जाता है, और वीतरागभाव की भावना भाता है। यह भी व्यवहार ध्यान है, क्योंकि परतत्व का सम्बन्ध है। निश्चयनय से आत्मा सदा ध्यानस्वरूप है, निर्विकल्प है, अभेद है, अपने शुद्धगुणो से परिपूर्ण भरा हुआ उन्ही के साथ कल्लोल किया करता है। उसके स्वरूप में कोई परद्रव्य, परक्षेत्र परकाल और परभाव का प्रवेश नही हो सकता है।

वस्तु का यह स्वरूप ही है कि वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल,

भाव से अस्तिरूप है, उसी समय परचतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप है। आत्मतत्व में मगन रहना सम्यग्दृष्टि का कर्तव्य है। वह जानता है कि अपना पद अपने ही पास है। उसमें कोई आकुलता का कारण नहीं है। वही परब्रह्मस्वरूप है, वही भाव अहिंसा रूप है, वही समता का सागर है, वही रत्नत्रय का आभूषण है, वही दशलक्षण धर्म की एक माला है, वही ज्ञानियो का पूजनीय तत्व है। सम्यक्त्वी इसी तत्व का अत्यन्त प्रेमी होकर सर्व परतत्व से विमुख हो जाता है। गृहस्थ हो या साधु, उसकी दृष्टि इस ही तत्व में रमण किया करती है। व्यवहार कार्य करते हुए भी सम्यक्त्वी उसमे रंजायमान नही होता। जैसे स्वर्ण कीचड़ में पड़ा होने पर भी दूषित नही होता। सम्यक्त्वी को यह शुद्ध श्रद्धान, ज्ञान, और स्वरूपाचरण चारित्र उनके जीवन को मंगलमय बना देता है। और वह रत्नत्रयमयी भाव वास्तव में भावनिर्जरा है, इससे कभी भी किसी को बन्ध नहीं होता। वही वास्तव मे तप है। इस तप के तपने वाले तपस्वी स्वानुभूति को जगा लेते हैं और उसके प्रकाश में जागृत रहते हुए स्वात्मानन्द का स्वाद लेते हैं। उनको यह जगत शांतिमय झलकता है। कहीं भी कोई अशांति का दर्शन नही होता। वे तपस्वी वास्तव में इस ही तप के द्वारा आत्मा को शुद्ध करते हुए मोक्षनगर मे पहुच जाते हैं। और सदा ही सुख-शांति का अनुभव करते हैं।

---

१६५. संस्थानविचयधर्मध्यान–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओं के नाश का उपाय विचार कर रहा है। कर्म की निर्जरा ध्यान से होती है। संस्थानविचय धर्मध्यान भी एक उपाय है। इस ध्यान में ध्याता लोक का स्वरूप विचार करता है। यह लोक पुरुषाकार अनादि अनन्त अकृत्रिम है। जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल और आकाश इन छः द्रव्यों से भरा हुआ है। यह छः

द्रव्य सत्रूप हैं, उत्पाद व्यय ध्रुव स्वरूप हैं, नित्य होते हुए भी परिणमनशील हैं। इनमे जीव चेतन है और शेष द्रव्य अचेतन हैं। जोव स्वभाव से शुद्ध बुद्ध निरंजन निर्विकार परमानन्दमय स्वतन्त्र एक-सत्ता रखने वाला अमूर्तीक द्रव्य है। वही मैं हू। यद्यपि कर्म संयोग से मेरी पर्याय मलीन हो रही है परन्तु मेरे द्रव्य का स्वभाव सदा ही निर्भय है। ऐसे ही संसार में सर्व जोव हैं, इसलिये मेरे परम समता-भाव है। रागद्वेष का कोई कारण नही है। इस तरह विचारना व्यवहार धर्मध्यान है। निश्चयनय से आत्मा मे ध्यान का विकल्प नहीं है। आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से, सर्व अन्य द्रव्यों से पृथक् अपने अस्तित्व को रखता है। यद्यपि गुणो का समुदाय है तथापि अभेद है सर्वगुण सर्वाङ्ग व्यापक हैं, कभी पृथक नही हो सकते।

बन्धमोक्ष की कल्पना व्यवहार है। आत्मा मे बन्धमोक्ष नहीं हैं। यद्यपि व्यवहार में उत्तम क्षमा आदि दश धर्म कहे जाते हैं तथापि निश्चय से आत्मा अपने एक अभेद धर्मस्वभाव रूप है। इस तरह निश्चयनय से विचार कर तत्वज्ञानी जीव अपने स्वभाव में मग्न हो जाता है तब जैसे नोन की डली पानी में घुल जाती है वैसे ही यह आप अपने स्वरूप मे तन्मय हो जाता है। तब निश्चय सम्यक्चारित्र का भाव निक्षेपरूप प्रकाश हो जाता है। इसी को स्वानुभव अथवा सुसमय कहते हैं। यह भाव वीतरागता का द्योतक है।

ध्यानी जीव इसी स्वानुभव के प्रताप से गुणस्थानों के क्रम से चढ़कर अन्तरात्मा से परमात्मा हो जाता है। स्वानुभव ही वह मसाला है, सुवर्ण पाषाण के समान अशुद्ध आत्मा को शुद्ध कर देता है। स्वानुभव ही सुख का सागर है इसमे तत्वज्ञानी बार-बार स्नान करते हैं और उसी के शांतअमृत का पान करते है, जिससे वह पुष्ट बने रहते हैं, और सर्व चिंताओं से मुक्त होकर एक अद्वैतभाव में विश्राम करते है। यही एक अपूर्व शय्या है जिस पर लोट कर सुख

निद्रा में शयन करते हैं तथापि सदैव जागृत रहते हैं। यही भाव-निर्जरा है जो कर्मों का क्षय करती है।

---

१९६. जीवतत्वविचयधर्मध्यान–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म-शत्रुओं के नाश का उपाय विचार कर रहा है। धर्मध्यान में जीवतत्वविचय भी उपयोगी है। निश्चय से जीव सुख सत्ता चैतन्य बोध इन चार प्राणों का धारी है। सहजज्ञान दर्शनोपयोगका रखनेवाला है। वर्णादि रहित अमूर्तीक है। अपने शुद्ध परिणामों का करनेवाला है। सहजानन्द का भोक्ता है। लोकाकाश प्रमाण असंख्यातप्रदेश रखने वाला है। कर्मबन्ध से रहित है। सदा ही निश्चल क्रिया रहित है। अपने स्वभाव मे एकाकार है। अपने गुणों में गुणो से अभेद है, रागादि रहित है। एक अनादि सत् पदार्थ है। न इसका कोई कारण है, न यह किसी द्रव्य का उपादान कारण है। स्वभाव से यह प्रेरक निमित्त कारण भी नही है। जब कर्मबध सहित जीवका विचार किया जाता है तब व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि यह जीव इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोश्वास चार प्राणों का धारी है। मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान इन पांच उपयोगों का रखने वाला है। चक्षु अचक्षु, अवधि, केवल इन चार दर्शनोपयोग का रखनेवाला है। शरीर प्रमाण आकार रखता है। रागादि भावो का करनेवाला वा सुख दुःख का भोगने वाला है।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय भेदरूप है। नर, नारक, तिर्यच, देव इन चार गति में भ्रमण करने वाला है। जीव अकेला ही अपने कर्मों का कर्ता और भोक्ता रहता है। इस प्रकार जीव-तत्व का विचार करते हुए व्यवहार धर्मध्यान होता है। निश्चयनय से आत्मा में ध्यान का कोई विकल्प नहीं है। यह आत्मा शुद्ध स्फटिकमणि के समान निरंजन और निर्विकल्प रहता है। अपने

स्वानुभव में मगन रहता है जिसके प्रताप से सहजानन्द का सदा भोग करता है।

यह स्वानुभवजनित स्वाद हर एक सम्यग्दृष्टि को प्राप्त होता है, क्योंकि उसकी दृष्टि भले प्रकार अपने ही आत्मतत्व पर स्थिर हो जाती है। वह ससार से विमुख और मुक्ति के सन्मुख होजाता है। इस कारण एक गृहस्थ सम्यग्दृष्टि प्रयोजनवश मन, वचन, काय से व्यवहार करते हुए भी निर्लेप और निर्द्वन्द रहता है, उसको भेद-विज्ञान की कला प्राप्त है। जैसे स्वर्ण कीच में पड़ा हुआ मलिन नही होता वैसे सम्यक्त्वी जगत के कार्यों को करते हुए मलिन नही होता।

सम्यग्दर्शन की महिमा अपूव है। इसीलिये इसको रत्न कहते है। यह सदा बन्धमोचक सवर निर्जरा का कारण है।

सम्यक्त्वी जीव निराकुल रहने का उपाय जानता है। कर्म के उदय मे समभाव रहता है, भेद-विज्ञान पूर्वक स्वानुभव का लाभ जिनको हो जाता है वे ही अन्तरात्मा या महात्मा कहलाते है। स्वानुभव ही निर्जरा तत्व है, क्योंकि वहा वीतरागता है। वीतरागता ही समसुखरूप है। शीतल आत्मा रूपी चन्द्रमा की शुद्ध ज्योति है। ज्ञान सूर्य का प्रताप है। मोह-शत्रु के लिये कृपाण है। स्वानुभव प्राप्त योगी या तपस्वी ही निर्जरा के अधिकारी होते हैं। जीवतत्व का यही सार मनन है। परम अद्भुत है। सिद्ध के समान जीव को शुद्ध दिखाता है। यही परम सतोष का बीज हैं।

---

१९७. अजीवविचय, धर्मध्यान–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओं के नाश का विचार कर रहा है। अजीवतत्व के विचार से धर्म ध्यान करता हुआ तत्वज्ञानी ऐसा विचार करता है कि इस लोक मे जीवतत्व के सिवाय अजीवतत्व भी है। बिना अजीव के रहे जीवतत्व की व्यवस्था नहीं हो सकती। संसार

और मोक्ष नहीं हो सकते। जिसमें राग द्वेषपूर्वक काम करनेवाली कर्मचेतना, सुख दुःख भोगने वाली कर्मफलचेतना, शुद्ध ज्ञान को अनुभव करने वाली ज्ञानचेतना, ऐसी तीन चेतना न हों उसको अजीव तत्व कहते हैं। अजीव में मुख्य द्रव्य पुद्गल द्रव्य है, जो मूर्तीक है। इसीकी संगति से जीव संसार में काम कर रहा है। जब इसकी संगत छूट जाती है तब जीव संसरणरहित, क्रिया-रहित रहता है। परमाणु को पुद्गल कहते है, उन परमाणुओं से स्कन्धों में से आहारक वर्गणा से औदारिक वैक्रियिक आहारक शरीर बनते है। भाषावर्गणा से भाषा बनती है, मनोवर्गणा से मन बनता है, कार्माण वर्गणा से कार्माण शरीर बनता है। यही पुण्य पाप मे कर्मदेय है। इन्हीं के फल से जीवों को सांसारिक सुख दुःख जीवन मरण होता है। कर्मबन्ध से ही जीव अशुभ कहलाता है।

जीव और पुद्गल यह दो मुख्य द्रव्य हैं, इनके कार्यों में सहकारी शेष चार अजीव द्रव्य है। इनके गमन होने में उदासीन रूप से सहकारी लोकव्यापी धर्मद्रव्य है। जहाँ तक यह दो द्रव्य हैं वहा तक लोक की व्यवस्था है।

इनके न मानने से लोक मर्यादा रूप नही रह सकता। द्रव्यो को अवस्था बदलने में सहकारी काल द्रव्य है। यह अमूर्तिक अखण्डरूप लोक में व्याप्त असंख्यात कालाणु है। इस काल के बिना समय रूप व्य.हार काल नही हो सकता है। द्रव्यों को अवकाश देने वाला आकाश द्रव्य है जो अनत है। इस प्रकार पाँच प्रकार अजीव द्रव्य हैं, वही मैं हूं। पुद्गल से भिन्न देखूं तो मैं शुद्ध हू। इस प्रकार व्यवहार नय से अजीव तत्व का विचार धर्मध्यान में करे। निश्चयनय से ध्यान की कल्पना ही नही है। आत्मा सदा ही अपने स्वभाव के किले में विराजमान रहता है, जहाँ पर-द्रव्य प्रवेश नही कर सकता और न कोई उपाधि उत्पन्न कर सकता है। आत्मा परमनिराकुल रहता हुआ अपनी स्वानुभूति तिया से रमण किया करता है, परम आनन्द का

भोग करता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव इस तत्व के रसिक होकर अपना जीवन सफल करते हैं। भेदविज्ञानपूर्वक स्वानुभव को जगाकर अपने स्वरूप में जागृत रहते हैं। और निश्चयरत्नत्रय की भावना से समताभाव को प्राप्त करतें हैं। यही समताभाव निर्जरातत्व हैं। यही वास्तविक तप है। इस तप को तपने वाले ही तपस्वी कहलाते हैं। जितनी देर तप होता है सहजसुख का वेदन होता है। जिससे परम शान्ति का लाभ होता है। इस शांति के भोगने वाले को ही जिन या जिनेन्द्र कहते हैं। जिनमार्ग शांत स्वरूप है। जो इसका अनुयायी है वह परमसन्तोष के साथ शांतरस का पान करता है।

---

१६८. आस्रवविचय धर्मध्यान-निर्जरा तत्व

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओ के नाश का उपाय विचार कर रहा है। धर्मध्यान में आस्रव तत्व का विचार करते हुए वह ऐसा मनन करता है कि जीव के पाँच भाव होते हैं—औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक, औदयिक। इसमे से औदयिक भाव ही कर्म के आस्रव का कारण है। पूर्व मे बाँधे हुए कर्मों के उदय से तत्व का अश्रद्धानरूप मिथ्यात्व भाव, अप्रत्याख्यान कषाय के उदय से अविरति भाव सामान्य कषाय के उदय से कषाय भाव, शरीर नाम--कर्म के उदय से योगों की चंचलता ऐसे चार भावआस्रव के कारण है। मिथ्यात्वगुणस्थान में चारों ही होते हैं। आगे चौथे गुणस्थान तक अविरति आदि तीन भाव रहते हैं। आगे दसवे सूक्ष्मलोभ गुणस्थान तक कषाय और योग दो भाव रहते है। तेरहवे सयोगकेवली गुणस्थान में एक योग ही रहता है। सातवें गुणस्थान तक हर एक जीव के हर समय ज्ञानावरणादि सात कर्मो का आस्रव हो सकता है। परन्तु त्रसभाग में आठों कर्मों का आस्रव हो सकता है। आठवें नौवे गुणस्थान में आयु बिना सात कर्मों का ही आस्रव होता है। दसवें गुणस्थान मैं मोहनीय

कर्म के बिना छह कर्म का ही आस्रव होता है। तेरहवें गुणस्थान में एक सातावेदनीय कर्म का ही आस्रव होता है। पिछले कर्म के उदय होने पर ज्ञानीआत्मा समभाव रखता है तब कषाय का जोर घट जाता है इसलिये आस्रवभाव की मंदता हो जाती है। कभी आस्रव के कारण से जीव को ससार मे भ्रमण, अनादिकालीन संसार में बीज-वृक्ष के समान कर्मों के उदय से आस्रव भावों से नवीन कर्मों का आस्रव होता है।

इस आस्रव को रोकने वाले औपशमिक आदि चार भाव हैं। आत्मा स्वभाव से आश्रव रहित है। इस तरह व्यवहारनय से विचारते हुए ज्ञानी आत्मा जब शुद्ध नय से विचारता है तो आत्मा में आश्रव तत्व का सम्बन्ध ही नहीं दीखता। आत्मा स्वभाव से परम सवररूप है, स्वभाव गुप्ति के किले मे बैठा हुआ है। तब कोई आस्रव भाव इस किले मे प्रवेश नहीं कर सकते। आत्मा निरंजन निर्विकार नश्चल अभेद नित्य ज्ञातादृष्टा आनन्दमय झलकता है। शुद्धनय से देखने वाले सम्यग्दृष्टी होते हैं। उनको भेदविज्ञान की कला मिल जाती है जिससे वह अपने आत्मा को और परआत्मा को ससार दशा में रहते हुए भी स्वभाव रूप देखते हैं। जैसा द्रव्य है वैसा उनको दिखाई देता है, इस कारण वे अपनो शुद्ध आत्मद्रव्य में स्थिर होकर स्वानुभव प्राप्त कर लेते हैं। स्वानुभव मे रत्नत्रय की एकता होती है, यही साक्षात् मोक्षमार्ग है, यही सीधी सड़क मोक्षनगर तक चली गई है। इस सड़क पर चलते हुये कभी आकुलता नहो होती, सुख शांति का लाभ होता है। स्वतंत्रता पाने का यही उपाय है। जो स्वानुभव करते हैं, वे ही अंतरात्मा से परमात्मा हो जाते हैं। स्वानुभव बिना जप तप पूजा पाठादि स्वतंत्रता का उपाय नहीं है। स्वानुभव परम मंगलरूप है, आत्मज्योति स्वरूप है, स्वसमयरूप है, ज्ञानियों का परम मित्र है। यही स्वानुभव में वास्तव में निर्जरा तत्व है। स्वानुभवी जीव परम-सन्तोषी और सुखी बने रहते हैं।

---

१९९. बंधतत्वविचय धर्मध्यान–निर्जराभाव

ज्ञानी जीव कर्मशत्रुओं के नाश का उपाय विचार कर रहा है। बन्धतत्व का विचार करते हुये वह ऐसा मनन करता है कि यद्यपि आस्रव के पीछे बन्धतत्व कहा गया है तो भी कर्मों का आस्रव और बन्ध एक ही समय में होता है। कर्मवर्गणाओं का आत्मा के प्रदेशों में ठहर जाना बध है, इसको उभयबन्ध कहते हैं। कार्माणशरीर से कार्माणवर्गणा के बंध होने को द्रव्यबंध कहते हैं। कर्म के उदय से आत्मा के रागादिक भावों को भावबन्ध कहते हैं। आस्रव बन्ध के कारण एक ही है अर्थात् मिथ्यात्व अविरत कषाय प्रमाद यह चार वंध के कारण हैं। बध चार प्रकार का होता है। योगो की विशेषता से प्रकृति प्रदेशबंध होते हैं। कर्मवर्गणाओ में ज्ञानाबरणादि प्रकृति पड़ती है और वर्गणाओं की संख्या बढ़ जाती है। इसको प्रकृति प्रदेश-बंध कहते हैं। कषायो से स्थिति और अनुभागवन्ध होते हैं। कषाय तीव्र होने से आयुकर्म सिवाय सब कर्मों में स्थिति मन्दकषाय से देव, मनुष्य तिर्यंच आयुकी स्थिति अधिक पड़ती है। तीव्र से कम। जब कि आयु में तीव्र कषाय से अधिक और मंद कषाय से कम पड़ती है। तीव्र-कषाय से पापकर्मों में अनुभाग अधिक पड़ता है। मन्दकषाय से कम। मंदकषाय से द्रव्यकर्मों मे अनुभाग अधिक पड़ता है तीव्र कषाय से कम पड़ता है। बन्ध के ही कारण से यह आत्मा संसार मे सुख दुख उठाता है। आप ही बन्ध करता है, आप ही उसका फल भोगता है। बन्ध से आत्मा स्वतंत्र नहीं होता है, किन्तु बन्ध-छेद का उपाय स्वानुभव को प्राप्त करे तो बन्ध का नाश हो सकता है। इस तरह व्यवहारनय से बंधतत्व का विचार करते हुए जब निश्चयनय से विचार करता है तो आत्मा में बन्ध मोक्ष की कल्पना ही नहीं है। जैसे कमलनी का पत्ता जल से अलिप्त रहता है वैसे आत्मा अपने स्वभाव में पूर्ण स्वतन्त्र है, गुणों में अभेद है, शुद्ध चैतन्यमय है, परमानन्दमय है। यद्यपि इसके ज्ञान में विश्व के पदार्थ झलकते हैं, तो भी दर्पण के समान ज्ञान अलग

है, पदार्थ अलग है, आत्मा परम निरंजन निर्विकार निराकुल एक महान तत्व है इसके श्रद्धानज्ञानचारित्र को रत्नत्रयधर्म कहते हैं। वह धर्म स्वसमयरूप, समयसार, अपना है। इस धर्म के अनुयायी ही यथार्थ धर्मात्मा हैं। और वे ही परतन्त्रता के छेद का उपाय पा लेते हैं। जिस समय स्वानुभव जाग्रत हो जाता है उस समय परमानन्द का लाभ होता है और कर्म की निर्जरा होती है। स्वानुभव ही अमृत रसायन है, जिसके पीने से अमरत्व का लाभ होता है, निश्चयनय के द्वारा अपना तत्व पर से भिन्न झलकता है और समताभाव का लाभ हो जाता है। यही समभाव निर्जरा तत्व है, यही भाव तत्व है, तप है। इसके बिना बाह्य तप, असार है। यही सारभूत रमा कल्याणकारी अध्यात्मविद्या है। इसी के ज्ञाता विद्वान और पण्डित हैं, व परम सन्तोषी रहते हैं।

---

२००. संवरतत्वविचयधर्मध्यान–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मशत्रुओं के नाश का उपाय विचार कर रहा है। संवर तत्व का मनन करते हुये बिचारता है–स्वतंत्रता प्राप्ति के लिये कर्मों के आगमन को रोकने की जरूरत है जैसे--नाव में पानी रोकने के लिये छेद बन्द करने की जरूरत है। चार प्रकार आस्रव के लिये चार ही संवर भाव हैं। मिथ्यात्व को सम्यग्दर्शन से, अविरतिभाव को व्रतों के धारण से, कषाय को वीतरागभाव से, योग को अयोगभाव से रोका जाता है। सवर के लिए मन, वचन, काय आदि महाव्रत, ईर्या आदि पांचसमिति, उत्तम क्षमादि दशलक्षणधर्म, अनित्यादि बारहभावना, क्षुधादि बाबीसपरीषह का विजय, सामायिक आदि चारित्र, अनशनादि तप की जरूरत है। संवर का मूल कारण भेदविज्ञान है जिससे अपने आत्मा को सर्व पर से भिन्न समझा जाय। चौथे गुणस्थान से संवर का प्रारम्भ होता है। चौदहवें गुणस्थान में

पूर्ण संवर होता है। संवरभाव से मुख्यतया पापकर्मों के विरोध की जरूरत है। क्योंकि उनका उदय आत्मा की ही उन्नति में विघ्नकारक है। सवरभाव से यदि पुण्यकर्म का आस्रव होता है तो वह पुण्य आत्मा की उन्नति मे बाधक नही होता है। तो भी साधक को पुण्य-कर्म की वाछा नही करना चाहिये। अनतानुबधी कषाय के निरोध से स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है। अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान सज्व-लन कषायों के निरोध से यही स्वरूपाचरण चारित्र बढता रहता है। दशवे गुणस्थान के ऊपर इसी को यथाख्यातचारित्र कहते हैं। इस तरह व्यवहारनय से विचारकर निश्चयनय से जब मनन करता है तो उसे प्रतिभासता है कि आत्मा स्वय सवररूप है। इसके प्रदेशो मे इतनी दृढता है कि पुद्गल कर्म प्रवेश नही कर सकते। यह आत्मा परम पवित्र है, चैतन्यस्वरूप है, अविनाशी है, परमआनन्दमय है, अपने आनन्द गुणो को सदा अपने भीतर कायम रखता है।

क्योंकि इसमे अगुरुलघुगुण है जिस गुण के प्रताप से कोई द्रव्य अपनी मर्यादा को उल्लघन नही करता, आत्मा अपनी सत्ता को भिन्न रखता है। हर एक आत्मा अपना तत्व है, पर आत्मा मे पर तत्व है। इस तरह जो निज तत्व को लक्ष्य मे लेकर अनुभव करता है वह स्वा-नुभव को प्राप्त कर लेता है। जब स्वानुभव होता है तब मन, वचन, काय की चचलता मिट जाती है और वीतरागता पैदा हो जाती है। यही ध्यान की अग्नि है जो कर्मईधन को जलाती है। और आत्मा के बल को दृढ़ करती है, अज्ञान के अन्धकार को मेटती है। स्वानुभव क्षीरसागर के समान अमृत का समुद्र है। जिसमें आत्मारूपी हस कल्लोल किया करता हैं। और उसी शांतरस का पान करता है जिससे परमतृप्ति को पाता है। स्वानुभवी जीव सम्यग्दृष्टी महात्मा होते है, जो रत्नत्रय की नौका पर चढकर भवसागर से पार हो जाते हैं।

---

२०१. निर्जरातत्वविचय धर्मध्यान—निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के क्षय का विचार कर रहा है। निर्जरा-तत्व का विचार धर्मध्यान का एक उपाय है। कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा है। संसारी जीवों के कर्म अपने समय पर पककर उदय आते हैं, और झड जाते है, वह सविपाक निर्जरा है। यह गजस्नान की तरह आत्मा को शुद्ध करनेवाली नहीं है। सम्यग्दृष्टी जीव के अविपाक निर्जरा होती है। कर्मों की स्थिति घटाकर शीघ्र समय के पहले निर्जरा करना अविपाक निर्जरा है। सम्यग्दृष्टी जैसे-जैसे गुण-स्थान चढ़ता जाता है यह निर्जरा बढ़ती जाती है। इस निर्जरा का मुख्य कारण तप है। आत्मा मे आत्मा का तपना ही तप है। यहां सब इच्छाओ का निरोध होता है। आत्मलीनता में वीतरागता उत्पन्न होती है। यही निर्जरा का साधक है। यह निर्जरा संवरपूर्वक होती है। इसलिए मोक्ष का साधक है।

इस तरह व्यवहारनय से विचार करते हुये जब निश्चयनय से विचार करता है तो देखता है कि आत्मा मे कोई कर्मका बंध ही नही है, जिसकी निर्जरा करनी पडे। आत्मा अपने गुणों से अभेद है, एक-रूप है, ज्ञायक पदार्थ है, अमूर्तिक है, निरंजन निर्विकार है। यह आत्मा आपको आपरूप देखने जानने वाला है। अपनी परिणतिका ही कर्ता है, अपने ही आनन्द गुण का भोक्ता है, सर्व विकल्पों से रहित है, परम गम्भीर है। इसमे ज्ञेयपदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं तो भी उनसे विकारी नही होता है। इस तरह विचार करते हुए जब ज्ञानी आत्म-तत्व मे लय हो जाता है तो स्वानुभव दशा प्राप्त हो जाती है, वहा निश्चयनय और व्यवहारनय का कोई विकल्प नहीं रहता। स्वानुभव होते हुये अद्वैतभाव झलकता है, उस समय ज्ञान में उसी तरह मगन हो जाता है, जैसे नमक की किकरी पानी में घुल जाती है।

इस तरह का साधक भाव जिसको प्राप्त होता है, वही तपस्वी है। उसका आत्मा समुद्रवत् क्षोभरहित निश्चल झलकता है। वह

उस समुद्र में स्नान करता है, और उसी के आनन्द-अमृत को पान करता है। परमशान्ति सुख का अनुभव करता है। द्वादशांगवाणी का सार यही है। शुद्धात्मानुभव एक जहाज है जो सीधा जीव को मोक्ष द्वीप मे ले जाता है। स्वानुभव ही परम मगल है, जिससे आत्मा पवित्र होता है। धन्य है वह भेद-विज्ञानी जीव जो न्यारिये के समान कर्मरज के भीतर से आत्मा को अलग कर लेते हैं। और उसी के शांत उपवन में कल्लोल करते हैं।

---

२०२. मोक्षतत्त्वविचय धर्मध्यान-निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म-शत्रुओ के नाश का उपाय विचारता है। मोक्ष तत्व का मनन करते हुये ज्ञानी विचारता है कि जीव और पुद्गल दो द्रव्यो के बिना बन्ध मोक्ष की कल्पना नही बन सकती। जो लोग जगत में एक ही द्रव्य मानते है चेतन या जड उनके मत मे मोक्ष तत्व नहीं बन सकता। बन्ध से छूटने का नाम मोक्ष है। आत्मा संसार अवस्था मे अज्ञानी व रागी, द्वेषी, मोही हो रहा है। अज्ञान व रागादिक दोष है, यह बात सर्वमान्य है, आत्मा के स्वभाव नही हो सकते। इससे सिद्ध है कि आत्मा को आचरण करनेवाला कोई कर्म अवश्य है उसी कर्म के विच्छेद को मोक्ष कहते है। जिस तरह सुवर्ण शुद्ध हो जाता है, फिर मलिन नही होता या जिस तरह चना भुन जाता है, फिर उग नही सकता, इसी तरह कर्म के अभाव से मुक्ति हो जाती है तब फिर वह आत्मा बध को प्राप्त नही होता।

मोक्ष अवस्था में आत्मा सदा अपने स्वभाव में अटल बना रहता है। उसके ज्ञान आनन्द आदि गुण विकसित हो जाते हैं। मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। क्योंकि वहां धर्म, अर्थ, काम तीन वर्ग नही हैं। मोक्ष प्राप्त आत्मा ही परमात्मा है। यह सदा ही निर्विकार रहता है। उसमें कोई कर्तापने की इच्छा नहीं हो सकती। मोक्षतत्व बाधा रहित

परम सूक्ष्म है। मोक्ष प्राप्त आत्मा को सिद्ध कहते हैं। क्योंकि अपने साध्य को सिद्ध कर लिया। मोक्ष प्राप्त आत्मा अपने स्वरूप में तल्लीन होकर आत्मानंदरूपी अमृत का पान किया करता है तो आत्मा में बंध मोक्ष की कल्पना नहीं है। यह त्रिकाल अपने ध्रुव स्वभाव में अटल बना रहता है। स्वचतुष्टय को अपेक्षा अस्तिरूप है। पर चतुष्टय को अपेक्षा नास्तिरूप है।

आत्मा अनन्त गुणों का समुदाय है, अखण्ड द्रव्य है, असंख्यात प्रदेशी हैं, यही इसका स्वक्षेत्र है। अपने स्वभाव में परिणमन होना स्वकाल है, शुद्ध भाव इसका स्वभाव है।

आत्मा मे अनन्त शक्ति है, पर द्रव्य इसको बांध नही सकता है, यह एक रूप रहता है। क्षोभ रहित समुद्र के समान निश्चल है, परम वीतरागी है। इस प्रकार शुद्ध आत्मा का अनुभव भेदविज्ञान के द्वारा होता है। ज्ञानी जीव द्रव्यकर्म, ज्ञानावरणादि भावकर्म रागद्वेष आदि नोकर्म शरीरादि से भिन्न आत्मा को देखते हैं। धारावाही अभ्यास से स्वात्वानुभव का लाभ होता है। यही वास्तव में निर्जरा-तत्व है। स्वानुभव ध्यान की अग्नि है, जो कर्मों को जलाती है, ज्ञान को प्रकाश करती है, आत्मबल का बढ़ाती है। स्वानुभवी जीव सच्चे जिन उपासक हैं, वे ही परम जिन हो जाते हैं। स्वानुभव एक गम्भीर नदी है, जिसमे स्नान करने से पवित्र हो जाता है और सुख-शान्ति का अनुभव करता है।

---

२०३. उपशमसम्यग्दर्शनविचयधर्मध्यान–निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। उपशम सम्यग्दर्शन के संबंध मे मनन करता है। यह बड़ा उपकारी है। मोक्षमार्ग मे चलते हुए अनादिकाल के मिथ्यादृष्टी के सबसे प्रथम उपशम सम्यग्दर्शन का लाभ होता है तब अनंतानुबंधी क्रोधादि, कषाय

और मिथ्यात्व कर्मों का अन्तर्मुहूर्त के लिये उपशम होजाता है अर्थात् उदय नहीं रहता। जब यह सम्यक्त्व छूट जाता है तब सादिमिथ्यादृष्टि के सात प्रकृति का या कभी पाँच का ही उपशम होता है। मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति का भी उपशम हो जाता है इसको प्रथम उपशम सम्यक्त्व कहते है। उपशम श्रेणी चढ़ते हुए वेदक सम्यक्त्व जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसको द्वितीय उपशम कहते है।

यह सम्यक्त्व किसी को स्वभाव से किसी को दूसरे के उपदेश से होता है। इसके होने मे भेदविज्ञान की जरूरत है। सम्यक्त्वी को यह झलक जाना चाहिए कि मेरा आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, रागादि भावो से भिन्न हैं। कोई सात तत्वो को विस्तारपूर्वक जाने या उसके भाव को ही प्राप्त हो जावे। मुख्य बात यह है कि शुद्ध स्वभाव ग्रहण करने योग्य भासना चाहिये। सम्यक्त्वो के भीतर अतीन्द्रिय सुख की श्रद्धा हो जाती है। वह संसार शरीर भोगो से उदास हो जाता है। कर्मोदय से जो कुछ मन वचन काय की क्रिया करता है उसको अपने आत्मा का कर्तव्य नही जानता। वह शुद्ध उपयोग का प्रेमी होता है। अशुभ को तरह शुभ उपयोग को भी बध का कारण जानता है। ज्ञान वैराग्य से भीजा रहता है। इस सम्यक्त्व की प्राप्ति मे करणलब्धि होनो चाहिये। अतर्मुहूर्त के लिए परिणाम समय२ अनत विशुद्ध होते जाते हैं। उपशम सम्यक्त्व मे आयु का बध नही होता है न मरण होता है। परन्तु द्वितीय उपशम मे मरण हो सकता है। इस सम्यक्त्व को चारो गति के पञ्चेन्द्रिय सैनी जीव प्राप्त कर सकते है। बिना इसके धर्मध्यान का प्रारम्भ नहीं होता है। आर्त या रौद्रध्यान बना रहता है। इस तरह से व्यवहारनय से विचार करता है तो आत्मा मे उपशम सम्यक्त्व का कोई विकल्प नही है। यह सदा सम्यक्त्वी है। मिथ्यात्व का प्रवेश निश्चय से आत्मा में नही होता। आत्मा परम शुद्ध निर्विकारी बना रहता है। ज्ञान चेतना का अनुभव करता है, निराकुल आनन्द मे मगन रहता है।

निश्चयनय से आत्मतत्व का ज्ञान बहुत जरूरी है। तभी इस ज्ञान के होने से सम्यक्त्व हो सकता है। सम्यक्त्वी जीव जगत के पदार्थों को द्रव्यार्थिक नय से देखते है तब उनको छहद्रव्य अलग भासते है। ससारी और सिद्धात्मा मे कोई भेद नजर नही आता। जिससे समताभाव को पा लेते हैं। यही भाव निश्चियनय है, यही भाव परम समाधि है, शातरस का समुद्र है। जो इस समुद्र मे स्नान करते हैं, वे पवित्र हो जाते है।

---

२०४. उपशमचारित्रविचय, धर्मध्यान निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मो के नाश का उपाय विचार कर रहा है। धर्म-ध्यान मे उपशम चारित्र पर लक्ष देते हुए मनन करता है कि जब जैनसाधु शुक्लध्यान करते हुए उपशम श्रेणी पर चढ़ते है तब आठवे से ग्यारहवे गुणस्थान तक उपशमचारित्र होता है। उपशातकषाय गुण स्थान मे इसकी पूर्णता होती है। यहाँ चारित्रमोहनीय का उपशम हो जाता है। अन्तर्मुहूर्त का समय है। फिर ग्यारहवे गुणस्थान से नीचे आता है। यदि मनन करे तो चौथे गुणस्थान मे आकर देवलोक मे जाता है। वीतरागता के अश झलक जाते हैं। इस चारित्र को एक जन्म मे २ दफे या कुल ४ दफे पाकर फिर साधु अवश्य क्षपकश्रेणी पर चढ़कर मुक्त हो जाता है। इस चारित्र के होते हुए शुद्धोपयोग रहता है जिससे ध्याता को आत्मानंद का लाभ होता हैऔर कर्म की निर्जरा भी होती है। क्षायकसम्यग्दृष्टी और द्वितोयोपशमसम्यग्-दृष्टी इस चारित्र को पा सकते है। वास्तव मे कषायो के उदय से ही परिणामों में कलुषता रहती है। कषायों का दमन बड़ा उपकारी है। वीतरागता ही चारित्र है। ससार का उच्छेदक है, जीव के औपशमिक भाव दो प्रकार होते है—औपशमिकसम्यक्त्व; औपशमिकचारित्र। यद्यपि क्षायक भाव प्राप्त किये बिना मोक्ष नहीं होता है तो भी औप-

शमिक चारित्र साधक को उपकारी है, जहाँ इक्कीस प्रकार कषायों का उपशम किया जाता है। अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामों को प्राप्त होकर उपशमचारित्र होता है। निश्चयनय से से आत्मा में उपशमचारित्र की आवश्यकता नही है। आत्मा स्वय अपने चारित्र पर सदा आरूढ़ रहता है।

आत्म-द्रव्य परमशुद्ध निर्विकार निरजन अभेद अमिट अविनाशी अनादि अनन्त स्वतन्त्र तत्व है। इसमें अनतगुण वास करते हैं, इसकी शक्ति अनन्त है। अपने आत्मा को शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के बल से शुद्ध अनुभव करना चाहिए। शुद्ध अनुभव ही सम्यक्त्व का प्रकाश है, ज्ञान का विकाश है, स्वरूपाचरण चारित्र है। आत्मज्ञान बिना क्रियाकांड मोक्ष का साधक नही है। आत्मज्ञान का एक अपूर्व महत्व है जिसके भीतर बिराजने से परमशाति का लाभ होता है, दुखो का शमन होता है। जो इस तत्व को समझते हैं वे ही ससारसागर से पार होने को नौका पालेते हैं। आत्मज्ञान मे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनो गर्भित हैं व आत्मज्ञानी परम सन्तोषी होते है। ज्ञान चेतना का स्वाद लेत हैं यही भावनिर्जरा हैं यही यथार्थ तत्व है।

---

२०५. क्षायिकज्ञानविचयधर्मध्यान—निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। नौ प्रकार क्षायक भाव है। उनमे क्षायकज्ञान, ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षय से प्रकाशवान होता है। यद्यपि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, तथापि अनादिकाल से ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से अप्रकाशित है। जब भेद-विज्ञान का अभ्यास किया जाता है, आत्मा के स्वभाव को परभावों से भिन्न विचार किया जाता है और आत्मानुभव किया जाता है, तब शुक्लध्यान के द्वारा पाँचो ही प्रकार का ज्ञानावरणीय कर्म क्षय किया जाता है तब केवलज्ञान प्रगट होता है। यह ज्ञान सूर्य के

प्रकाश के समान स्वपर प्रकाशक है। जितने भी जानने योग्य पदार्थ हैं उन सबको बिना क्रम के एक साथ यह ज्ञान जान लेता है।

यदि लोकालोक के पदार्थ जितने हैं उनसे अनंतगुने भी पदार्थ हो तो भी यह ज्ञान जान सकता है। जैसे सूर्य प्रकाश करते हुए किसी से रागद्वेष नहीं करता है वैसे ही यह ज्ञान निर्विकार रहता है। केवलज्ञान से ज्ञानीआत्मा सबको जानते हुए भी अपने स्वरूप में मगन रहता है, स्वात्मानंद का भोग करता है इसमें अनन्त आनन्दशक्ति है। इसी से इस ज्ञान की महिमा अनत है, अनुपम है, सकल प्रत्यक्ष है। इस तरह व्यवहारनय से विचारते हुए निश्चयनय से देखा जावे तो ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। वह सदा ही निरावरण रहता है।

ज्ञान और ज्ञानी का भेद भी व्यवहारनय से है। निश्चयनय से आत्मा अपने गुणों में अभेद है, बाधा रहित है, निरंजन है, परम वीतराग है। एकरूप अखण्ड प्रकाशमान है। आत्मस्वभाव का ज्ञान ही सात तत्वों का ज्ञान है। इसका लाभ हरएक सम्यग्दृष्टो को होता है, जिससे वह आत्मानुभव का अभ्यास करता है और सुख शाति का लाभ करता है। धर्म का सार यही है। यही संसारसमुद्र पार होने की नौका है। जिसमे न कोई कर्मास्रव न बंध होता है। तत्वज्ञानी इसी के प्रताप से कर्मों की निर्जरा करता है और शुद्ध हो जाता है। आत्मज्ञान एक सुन्दर वाटिका है, जिसमे तत्वज्ञानी रमण करता हुआ परम संतोष पाता है। इसमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनो रत्न गर्भित है, इसी से इसको मोक्षमार्ग कहते हैं। इसके बिना व्यवहारचारित्र मोक्षमार्ग नही है। आत्मज्ञान ही भावनिर्जरा है, या भाव तप है।

तपस्वीजन इसी तप के लिये साधन करते हैं और अपने जीवन को सफल कर लेते हैं। केवलज्ञान के प्रकाश होने पर प्रत्यक्ष रूप से स्पष्टरूप से अपने आत्मा का दर्शन हो जाता है। जहाँ तक यह ज्ञान प्रगट न हो वहाँ तक श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता

हैं। अमूर्तीक पदार्थों को केवलज्ञान ही देख सकता है। जो इस ज्ञान के रसिक हैं, वे परम सतोषी होते हुए सुख-शांति का लाभ करते हैं।

---

२०६. क्षायिकदर्शनविचयधर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है। नौप्रकार क्षायक भावो मे दूसरा भाव क्षायकदर्शन है, जो दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से प्रकट होता है। जब साधु बारहवे गुणस्थान में दूसरे शुक्ल-ध्यान को ध्याते है, तब शुद्धभावो के प्रताप से चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है, तब क्षायक दर्शन उत्पन्न होता है। इसके द्वारा सपूर्ण पदार्थों का सामान्य स्वरूप एक साथ अवलोकन मे आता है। जगत के पदार्थ सामान्य विशेष रूप हैं। सामान्य का जानने वाला दर्शन है, विषेष को जानने वाला ज्ञान है। अल्पज्ञानियो के दर्शन-पूर्वक ज्ञान होता है, परन्तु केवलज्ञानियो के दर्शन व ज्ञान साथ होते है।

क्षायकदर्शन को आत्मा का स्वभाव जानना चाहिए। इसमे कोई प्रकार की आकुलता नही होती है। केवलज्ञानी सर्व पदार्थों को देखते जानते हुए भी निर्विकार रहते है। उनका आत्मअवलोकन स्थिर रहता है। यद्यपि उपयोग मे सब पदार्थ आ जाते है तथापि कोई मल उत्पन्न नही होता है यही क्षायक दर्शन, अनतकाल तक बना रहता है; क्योंकि शुद्धआत्मा के फिर कर्म का बध और आवरण नही होता है, अल्पज्ञानियो के यह दर्शन प्रकट नही होता है। क्योंकि पूर्ण शुद्ध उपयोग का प्रकाश नही होता है।

इस तरह व्यवहारनय से विचार करते हुये जब निश्चयनय से मनन किया जाता है यो आत्मा मे सदा ही दर्शनगुण का प्रकाश है। आत्मा निश्चय से निरञ्जन निर्विकार अविनाशी सार तत्व है। यह अपनी सत्ता सब जीवो से निराली रखता है। जैसे मिठाइयो के भीतर

मीठापन या मिष्टपदार्थ भिन्न है वैसे आत्मा पुद्गलों के मध्य रहता हुआ भी भिन्न है। भेदविज्ञान के द्वारा हरएक ज्ञानीजीव अपने आत्मा को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, दर्शनादि नोकर्म और रागादि भावकर्म से भिन्न देखता है। तब इसको आत्मा अपने द्रव्यस्वभाव से यथार्थ देखने मे आता है। ज्ञानीजीव इसी आत्मतत्व पर लक्ष्य रखते हुये ध्यान का अभ्यास करते हैं, और आत्म-अनुभव को पाते है तब उनका आत्मा अपने आत्मा के ही गम्भीर सागर में गोते लगाता है। और इसी से आत्म आनन्द रूपी अमृत का पान करता है। स्वानुभव एक परम प्रतापवान सूर्य है।

जिसके द्वारा आत्मा अपनी परम ज्योति में दैदीप्यमान रहता है और सब पदार्थों को जानते हुये भी निर्विकार रहता है। आत्मानुभव परम सुगधित फूलो की माला है, जिसे पहिनकर तत्वज्ञानी परम शोभायमान रहता है। और आत्मोक वीतरागता मे गंध को ग्रहण करता है। आत्मानुभव एक चन्द्रज्योति के समान चमकता हुआ शांतभाव को झलकाता है। आत्मानुभव ज्ञानियो के ज्ञान का आभूषण है, उससे अलकृत होकर आत्मा परमशोभायमान रहता है यही वास्तव मे भावनिर्जरा है, जिससे कर्म का क्षय होता है और सुखशांति का लाभ होता है।

---

२०७. क्षायिकदानविचयधर्मध्यान निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मो के विनाश का उपाय विचार कर रहा है। ९ प्रकार क्षायिक भावो मे तीसरा भाव क्षायिक दान है। जब साधू शुक्लध्यान के वल से घातीयकर्मों का क्षय करता है तब दानातराय-कर्म क्षय होने से क्षायिकदान की शक्ति प्रकट हो जाती है। इस शक्ति के कारण अरहन्त भगवान प्राणीमात्र को अभयदान देते हैं। उनके द्वारा किसी भी प्राणी को कोई भय या कष्ट नहीं होता है तथा

दिव्य ध्वनि द्वारा सम्यक्ज्ञान का दान करते हैं, जिससे भव्यजीव आत्मकल्याण मार्ग पाकर ससार-समुद्र से पार होने का उपाय करते हैं। निश्चय से वह अपने आत्मा का निरन्तर आत्मानंद देते हैं, अन्त-राय कर्म न होने पर उनके दान में कोई विघ्न बाधा नहीं होती। अल्प-ज्ञानियों के अन्तराय कर्म के उदय होने पर दान करने की इच्छा होने पर भी दान नहीं कर पाते है। शुक्लध्यान बारहवे गुणस्थान मे एक-त्वरूप रहता है जिससे परमशुद्ध परिणामों का विकास होता है क्योंकि वहाँ घातक कर्मो का उदय बिलकुल नही होता है। यह क्षायिकदान अनन्तकाल तक बना रहता है।

सिद्ध भगवान भी अपने को स्वात्मानन्द का दान करते हैं। इसके सिवाय जो कोई भक्त श्री अरहन्त सिद्ध भगवान की आराधना करता रहे, उसको सुख शाति का लाभ होता है। यह भी दान है। इस भाव की महिमा अपार है। शुद्ध आत्मानुभव के प्रताप से इस शक्ति का प्रकाश होता है। आत्मानुभव परम कल्याणकारी है यही मोक्ष मार्ग है।

निश्चयनय से विचार किया जाय तो आत्मा मे क्षायिक दान का विकल्प भी नही होता है। आत्मा अपने गुणों से अभेद है। परम निरजन निर्विकार है। न उसमे कर्मों का बंध और स्पर्श होता है, न वह नर नारक आदि रूप धारण करता है, न उनमे कोई चञ्चलता होती है, न वहा राग द्वेष आदि का विकल्प होता है। वह सदा ही ध्रुव ज्ञायक भाव को रखने वाला है, नयों के विकल्पो से बाहर है। नाम स्थापना द्रव्यभाव निक्षेपो से दूर है, न उसमें ज्ञान के भेद हैं। वह सूर्य के समान सदा प्रकाशमान रहता है। अपने को और सकल विश्व को बिना क्रम के एक साथ जानता है।

हरएक आत्मा की सत्ता निराली है। तो भी द्रव्य अपेक्षा सब समान है। जो ज्ञानीजीव इस तरह निश्चयनय से विश्व की आत्मा-ओंको देखते है उनके अन्तरग मे समताभाव जग जाता है, वे इस

समता देवी की उपासना बड़े गौर से करते हैं जिस कारण उनके परिणामों की उज्वलता समय समय पर बढ़ती जाती है, सम्यग्दृष्टि जीव चौथे गुणस्थान से बराबर समतादेवी की उपासना करते हैं तब मन, वचन, काय स्थिर हो जाते हैं और आत्मा अपने आत्मिक समुद्र में मग्न हो जाता है वही निरन्तर स्नान करता है, उसी के शांतरस का पान करता है, यही अमृतरसायन है, इसी से भव्यजीव अमर हो जाता है। समतादेवी अरहन्त, सिद्ध आचार्य उपाध्याय, साधु पाँचों परमेष्ठियों को परमप्रिय हैं, वे इसकी आराधना में तन्मय रहते हैं। परम समाधिभाव का उपयोग रखते है। समता परम सुखकारिणी है। ये ही भावनिर्जरा है जिससे कर्मों का क्षय हो जाता है, सूर्य का विकाश होता है, ज्ञानियो को इसी की उपासना करना योग्य है।

---

२०८. क्षायिकलाभविचयधर्मध्यान निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। नौ प्रकार क्षायक भावो में क्षायक लाभ चौथा भाव है। जब साधु बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान के द्वारा घातियाकर्मों का क्षय करता है तब लाभांतराय कर्मो के क्षय से क्षायकलाभ शक्ति प्रगट होती है। इसके प्रभाव से अर्हन्त भगवान के परमौदारिक शरीर को पुष्टिकारक नोकर्मवर्गणाओं का लाभ होता है, जिससे ग्रास रूप भोजन किये बिना ही शरीर का पोषण होता है। अर्हन्त को नित्य ही आत्मानन्द का लाभ होता है, यह भी क्षायिक लाभ है। यह शक्ति अनन्तकाल तक बनी रहती है। सिद्धो के कषाय के अभाव से कर्मों का बंध नहीं होता है, इससे उनके ज्ञान और आनन्द में कोई अंतराय नही पड़ता है। निश्चयनय से आत्मा में क्षायकलाभ का कोई भेद नहीं है, आत्मा सदा ही अनन्तवीर्यमय है। आत्मा अपने स्वभाव से अभेद निरंजन निर्विकार है इसका स्वरूप परमशुद्ध ज्ञानानन्दमय है। यद्यपि हरएक आत्मा की सत्ता भिन्न है तथापि स्वरूप समान है।

तत्वज्ञानी जीव द्रव्यदृष्टि से अपने और पर के आत्मा को एक समान शुद्ध देखते हुए समताभाव में लीन हो जाते है, वीतरागता का प्रकाश करते हैं, जिससे कर्मों की निर्जरा होती है; और आत्मानन्द का लाभ होता है। आत्मा की परतन्त्रता का कारण रागादिक भाव हैं। इन्हीं से कर्म का बध होता है। स्वतन्त्रता का उपाय सिद्धत्व का शुद्ध तत्त्व का श्रद्धान ज्ञानादिक आचरण है, यही निश्चय रत्नत्रय का भाव है। संसारी जीवो मे लाभान्तराय का उदय रहने से साताकारी पदार्थों का लाभ नही होता है। शुद्धात्मा मे अन्तराय कर्मो के नाश से अनन्त-वीर्य प्रगट होता है।

आत्मा अपने स्वरूप से दर्पण के समान है जिसमे लोकालोक के समस्त पदार्थ एक साथ झलकते हैं तो भी कोई विकार नही होता है। क्योकि वहाँ रागादिक का कारण मोहभाव नही है। तत्त्वज्ञानी व सम्यग्दृष्टी भले प्रकार निज तत्त्व के श्रद्धान मे दृढ रहते हैं और भेद-विज्ञान के प्रताप से अपने स्वरूप को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रागादि भावकर्म, शरीरादि नोकर्म से भिन्न अनुभव करते है। जब उपयोग को मन, वचन, काय के विकल्पो से दूर रक्खा जाता है, तब स्वानु-भाव की शक्ति प्रगट होती है। स्वानुभव ही स्वतन्त्रता की सीधी सड़क है। इस ही पर सर्व हो धर्म आत्मा गृहस्थ या साधु चलते है। उनका मुख सिद्ध स्वरूप को तरफ रहता है। ससार से विमुख रहता है। उनको दृढ़ श्रद्धान है कि अपना निज स्वरूप ही ग्रहण करने योग्य है। और परस्वरूप त्याज्य है। वे अपने स्वरूप मे निःशक रहते है, परपदार्थ की वाछा नही रखते, सब पर समताभाव रखते हुए ग्लानि भाव से अलग रहते है, कभी भी मूढ़ता को आश्रय नही करते हैं। अपने गुणो को बढ़ाते है। अपने श्रद्धान मे स्थिर रहते हैं। रत्न-त्रय से वात्सल्यभाव रखते है। आत्म-धर्म की भावना करते हैं। इन आठों अगो को पालते हैं और मोक्षमार्ग को तय करते जाते हैं। स्वा-नुभव हो निर्जरा भाव है, यही सार तप है, इस ही का आश्रय करने

से कर्मों की निर्जरा होती है। सुख शांति का यही मार्ग है, स्वतन्त्रता का यही उपाय है।

---

२०६. क्षायिकभोगविचय–धर्मध्यान निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के विनाश का उपाय विचार करता है। नव प्रकार क्षायिकभाव में क्षायिकभोग पाचवां भाव है। एक साधु शुक्ल-ध्यान के बल से जब धाती कर्मों का विनाश करता है तब भोग-अंतराय कर्म के नाश से आत्मा में क्षायिकभोग की शक्ति प्रगट हो जाती है। अरहन्त भगवान के समवशरण मे पुष्पो की वृष्टि होती है। भगवान को कोई प्रकार की बाधा नही होती। वे प्रभू अपने आत्मीक रस का पान करते हैं यह भी क्षायिक भोग है। यह शक्ति भगवान के अनतकाल तक बनी रहती है। प्रभु वीतराग रहते हैं, सिद्ध भगवान भी आत्मीक रस का भोग करते हैं।

निश्चयनय से आत्मा में इस शक्ति का कोई भेद नही है। आत्मा अपने गुणो के अभेद है। परम निरजन ज्ञातादृष्टा एकरूप है। आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है। हर एक आत्मा की सत्ता निराली है, प्रदेशों से सब समान हैं तोभी अनन्तकाल तक अपनी सत्ता भिन्न रखते हैं। आत्मा का तत्व अद्भुत है इसमें सर्व विश्व झलकता है तोभी कोई विकार पैदा नहीं होता। भेदविज्ञान के प्रताप से वे अपने को सर्व रागादिक भावों से जुदा विचारते हैं तब उनके भीतर स्वानुभव प्रगट हो जाता है और वे इस अनुभव के द्वारा परमतृप्त रहते हैं। आत्मिक-रस का पान करने से वे परम पुष्ट रहते है। उनके मन, वचन, काय आत्मिक रस से पुष्ट हो बाधक नही होते। ज्ञानी जीव इन्द्रियभोग करते हुए तृप्ति नही पाते। क्योंकि भोगअन्तराय कर्म का उदय है। आत्मज्ञानी होकर हरएक पक्ष में उत्साही रहता है और समभाव का प्रेमी हो जाता है जिससे परम शांति का अनुभव करता है और मोक्ष-

मार्ग के ऊपर चलता है, संसार से उदासीन रहता है, मंगलमय जीवन बिताता है। आत्मिक रस का पान ही स्वतन्त्रता का उपाय है इसीसे कर्म की निर्जरा होती है। इसके बिना व्रत, तप, जप, सर्व वृथा है।

धर्म का सार आत्मज्ञान है। जैसे रसोई में लोन डालने से स्वाद आ जाता है ऐसे ही आत्मज्ञान से हरएक धर्मकार्य में रस आ जाता है। आत्मज्ञान चिंतामणिरत्न के समान है, सब आकुलताओं को निवारण करनेवाला है। आत्मा में गुणों का समूह है और अनंत-धर्म है। स्याद्वादनय से इसका यथार्थ ज्ञान होता है। जो स्याद्वादनय में कुशल हैं वो संयमी पुरुष हैं, वे ही आत्म श्रद्धान कर सकते हैं, सुख-शाँति का अनुभव उन्हीं को है।

---

२१०. क्षायिक-उपभोगविचय-धर्मध्यान निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। नव प्रकार क्षायिकभाव में क्षायिक उपभोग छठा भाव है। शुक्ल ध्यान के बल से घातीयकर्मों का क्षय हो जाता है तब क्षायिकउपभोग की शक्ति प्रगट हो जाती है, जिससे अरिहन्त भगवान के समोसरण में नाना प्रकार की समोसरण बिभूति का संयोग होता है। और आत्मा में आत्मानन्द का बार-बार उपभोग होता है। यह शक्ति अनन्तकाल तक बनी रहती है। सिद्धों में भी रहती है। निश्चयनय से आत्मा अपने गुणों से अभेद है। निरतर अपने स्वरूप मे तल्लीन है, निर्विकार है, निरंजन है, सर्व प्रकार रागादि भावों से शून्य है। परम प्रतापशाली है। एक अद्भुत पदार्थ है। उस ज्ञान में सर्व विश्व रहता है। तो भी वो निर्लेप है। आत्मतत्व का ज्ञाता ही सम्यग्दृष्टी होता है। वह अपने स्वरूप में एकसा बना रहता है। उसको संसार असार दीखता है। मोक्षतत्व ही सार दीखता है। वह स्वतन्त्रता का पुजारी है। हरएक पद में निराकुल रहता है। और आत्मानन्द का उपभोग करता है।

जिससे परम शांति का अनुभव कर रहा है। उसके ज्ञान में केवली भगवान की तरह सर्व पदार्थ यथार्थ दिखते हैं। वह किसी पदार्थ में रागद्वेष नहीं करता है। कर्मों के उदय को साम्यभाव से देखता है और अपनी बुद्धि को तत्वज्ञान के साधन में लगाता है, परम सतुष्ट रहता है। गुणस्थानों के अनुसार भाव में निश्चल रहता है, मोक्षमार्ग पर दृढ़ता से चलता है। ज्ञान वैराग्य को अपनी खड्ग बनाता है। जिससे कर्मों को काटता जाता है, परम सन्तोष मानता है।

तत्वज्ञान के प्रताप से समभाव जाग्रत हो जाता है, जिससे यह विश्व की आत्माओ को सिद्ध और संसारी जीवो को एक समान देखता है। समताभाव सीधी सड़क है, जो मोक्ष महल तक चली गई है। उसके पथिक समान दृष्टि से चलते हैं, और निराकुल रहते हैं। समताभाव के दृढ करने को स्याद्वाद के ज्ञान की जरूरत है जिससे वस्तुओं के अनेकान्त धर्मो को सम्यक् प्रकार से विचार करके वीतराग रहा जाय। और संयम की आवश्यक्ता है, जिससे मन वचन काय को स्थिर करके स्वरूप मे तल्लीन किया जाय। भेदविज्ञान के प्रताप से अपना स्वरूप पर से भिन्न दीखता है। जैसे दाल छिलके अलग हैं, तेल और खल अलग है, व्यजनों में लवण अलग है और शाकादि भिन्न हैं, उष्ण-जल मल, जल और अग्नि अलग है, उसी तरह कर्म-नोकर्म, भावकर्म के भीतर आत्मा भिन्न दीखता है। तब स्वानुभव करने की कला प्रगट हो जाती है। जिससे ज्ञानी जीव अपने स्वरूप के सम्मुख रहता है। यही परम पुरुषार्थ है। इससे निर्जराभाव प्रगट हो जाता है, जो आत्मा को कर्मों से छुड़ाता है। और शुद्धता का प्रकाश करता है। परतन्त्रता को मेटकर स्वतन्त्रता का प्रकाश करता है।

---

२११. क्षायकवीर्यविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। शुक्लध्यान के प्रभाव से जब घातिया कर्मों के क्षय हो जाता है तब

वीर्यान्तराय कर्म के नाश से क्षायकवीर्य गुण प्रगट होता है। इस गुण के प्रताप से अनन्तकाल तक कोई निर्बलता नहीं आती। यह गुण अनन्तकाल तक बना रहता है। सिद्धों मे भी प्रगट रहता है। जहां तक इस गुण का लाभ नहीं होता है, आत्मा पूर्ण शक्ति को प्राप्त नहीं होता है। संपूर्ण गुणों को यह गुण स्थिर रखनेवाला है। निश्चयनय से विचार किया जावे तो आत्मा मे इस गुण का कोई विकल्प नही है। आत्मा सदा ही अपने गुणों से अभेद है। परम निरजन निर्विकार है। आत्मद्रव्य स्वपर ज्ञाता-दृष्टा है, दर्पण के समान पदार्थों को प्रकाश करते हुए निर्विकार रहता है।

यह परम सूक्ष्मतत्व है। मन, वचन, काय से अगोचर है। यद्यपि छ: द्रव्यमयी लोक है तथापि आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय उभय रूप है। अनात्मद्रव्य ज्ञेय मात्र है। जो इस तत्व को समझते हैं वही सम्यग्दृष्टी है, उनको हरपद में भेदविज्ञान के द्वारा आत्मा का दर्शन होता है। श्रुतज्ञान इसमे सहायक है। आत्मदर्शन ही मोक्षमार्ग है, इसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों गर्भित है। आत्मा एक गम्भीर समुद्र है, जो कि अपने स्वरूप में नियमित रहता है। पवन के वेगों के समान भारी पदार्थों के सम्बन्ध में विकृत नही होता है और आत्मा अनन्त गुणरूपीरत्नो का भण्डार है। आत्मतत्व का ज्ञाता ही जिन हैं।

इसीका अपूर्व प्रकाश अभ्यास में रहता है। केवलज्ञान के समय पूर्ण प्रकाश हो जाता है। अनन्तवीर्य आत्मा का प्रभावशाली गुण है। शुद्धआत्मा को कभी अशुद्ध नही होने देता। मुनियो को बड़े बड़े उपसर्ग आते हैं जो वे आत्मबल से जीतते हैं। परमानन्द का लाभ शुद्धआत्मा को उसके प्रताप से बना रहता है। यह आत्मा का परम आभूषण है।

आत्मा को आत्मरूप मे सदा रखने को यह परम सहायक है। अन्तराय कर्म के नाश हो जाने के बाद फिर उसका बंध नहीं होता।

इसलिए कोई निर्बलता नहीं आती। ज्ञानी जीव अपने आत्मबल को संभालते हुए आत्मा का अनुभव करते रहते हैं। इससे सुख-शांति का अनुभव करते हैं ओर स्वतन्त्रता को प्राप्त करते हैं।

---

२१२. क्षायकसम्यक्त्व विचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का विचार कर रहा है। नौ प्रकार क्षायकभावो में क्षायक सम्यक्त्व आठवा भाग है जब क्षयोपशम या वेदक सम्यग्दृष्टी कर्णलब्धि के द्वारा अनन्तानुबन्धी चार कषाय को विसंयोजन करके दर्शन को तीनों प्रकृतियों का क्रमश: क्षय करता है, तब क्षायक सम्यक्त्व भाव प्रगट होता है। यह भाव केवली व श्रुत-केवली के निकट चौथे गुणस्थान से सातवे गुणस्थान तक किसी में प्रगट होता है यह परम निर्मल भाव है, इसका कभी नाश नही होता है। केवलज्ञानी के इस भाव को परमावगाढ़ सम्यक्त्व कहते हैं। इस भाव का धारी अपने शुद्ध आत्मा को परम निर्मल निश्चल अनुभव करता है। और उसी भवसे या तीसरे भवसे या चौथे भवसे मुक्त हो जाता है।

निश्चयनय से विचार किया जावे तो आत्मा मे इस भाव का कोई विकल्प नही है। आत्मा अपने गुणो से अभेद है। आत्मा नित्य निरजन निर्विकार परमशुद्ध ज्ञातादृष्टा एक अखण्ड पदार्थ है। यह मन, वचन, काय के अगोचर हैं। आत्मतत्व सब तत्वो मे सार है। इसके सिद्धान्त को जो ठीक समझता है वही जैनी है। वह जगत मे दर्पण के समान ज्ञातादृष्टा रहता है। उसके ज्ञान मे सर्व पदार्थ यथा-वत् झलकते हैं। तो भी कोई विकार नहीं होता है। क्योंकि मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश होगया है। आत्मतत्व एक अद्‌भुत रत्नाकर है, जिसमें अनन्त गुणों का निवास है, परन्तु ज्ञानावरणादि अष्टकर्म रागादिक भाव कर्मों का अभाव है। इस समुद्र में परमशात समरस

का प्रवाह है। इस शांतरस को आत्मज्ञानी पीते हैं। और उसी में मज्जन करते हैं। और कर्ममल को धोते हैं। शांतरस के समान कोई भी रस ठहर नही सकता। क्योकि उसमें वीतरागता अनुभव रहता है। स्वात्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, जिस पर साधुगण.चलकर मोक्षमार्ग को तय करते हैं और अनुपम ज्ञानभाव का स्वाद आता है। स्वानुभव परम प्रतापशाली सूर्य है जिसमे कषाय की उष्णता नहीं है, परम निष्कषाय भाव है। इस भाव के प्रकाश करनेवाले सम्यग्दृष्टी होते है, जो निरन्तर साम्यभाव रहकर समय बिताते है और जगत मे शाति का उदाहरण पेश करते है। क्षायक सम्यक्त्वो निर्मल सम्यक्त्वी के प्रभाव से अपने श्रद्धान में निश्चल रहते हैं। कष्टों के आने पर भी विचलित नही होते है। उसके सम्यक्त्व के प्रभाव से सदा ही निर्जरा रहती है। आत्मानुभव के समय-विशेष कर्म की निर्जरा करते हैं। यह उसके ज्ञान-वैराग्य का फल है। वास्तव में सम्यग्दृष्टी किसी भी परभाव की इच्छा नही करते। अपने स्वरूप के स्वाद के प्रेमी बने रहते हैं, जिससे सदा ही निर्मोही रहते है।

---

२१३. क्षायिकचारित्रविचयधर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्म शत्रुओ के नाश का उपाय विचार कर रहा है। नौ प्रकार के क्षायिक भावो मे क्षायिकचारित्र नौवा भाव है। जब साधु शुक्लध्यान के बल से क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होता है तब दशवें गुणस्थान के अन्त मे चारित्रमोहनीय की सर्व प्रकृतियों का क्षय कर डालता है। तब क्षायिकचारित्रगुण प्रगट होता है। इससे वीतरागता प्रकाशमान हो जाती है। रागद्वेष आदि की कल्लोलें मिट जाती हैं, आत्मा का भाव पूर्ण निर्विकार रहता है। यह गुण अर्हन्त और सिद्धो मे भी रहता है। शुद्ध पारणामिक भाव हो जाता हैं। आत्मा का स्वभाव निरजन अमूर्तिक निर्विकार है। ज्ञान की अपेक्षा

देखा जावे तो आत्मा के ज्ञान में सर्वविश्व के पदार्थ अपने गुणपर्याय सहित दर्पण के समान झलकते हैं। न पदार्थ ज्ञान में प्रवेश करते हैं, न ज्ञान पदार्थ में प्रवेश करता है। आत्मतत्व ही सार तत्व है, इस तत्व को जो समझते है वही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी हैं। संसार में सम्यग्दृष्टी जीव जल में कमल के समान अलिप्त रहते हैं। धर्म का सार आत्मज्ञान है। इसमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनो गर्भित हैं। भेद-विज्ञान के द्वारा आत्मज्ञान होता है। तैजस कार्मण और औदारिक शरीर के मध्य में आत्मा व्यापक है तो भी उनसे स्पर्श नही करता है। मिथ्यादृष्टी की श्रद्धा आत्मतत्व पर नही रहती। वह आत्मा का स्वरूप और का और जानता है। चिदानंदमई आत्मतत्व उसकी पकड़ म नही आता है। आत्मतत्व बहुत सूक्ष्म है। मन, वचन, काय के अगोचर है।

जो कोई सर्व इद्रियो को और मन को रोककर भीतर देखता है उसको स्वानुभव जागृत हो जाता है। स्वानुभव ही मोक्ष मार्ग है, इसी से स्वतत्रता का लाभ हो जाता है। इसी भाव से कर्मों की निर्जरा होती है और आत्मा के गुण प्रगट होते रहते हैं। जहाँ पर सर्वतत्वो के विकल्पो का अभाव है वहाँ स्वानुभव प्रगट हो जाता है। चौथे गुणस्थान से स्वसवेदन झलक जाता है और बुद्धिपूर्वक राग, द्वेष मोह नही होते हैं।

जगत मे घोर उपसर्ग सह करके भी जब तक आत्म-तत्व प्रगट नही होता है, तबतक मोक्ष मार्ग का लाभ नही होता है। क्योकि वहा भेद-विज्ञान की कला नहीं जागी। स्वानुभव चद्रमा के तुल्य बढ़ता जाता है। केवलज्ञानी के भीतर स्वानुभव पूर्ण हो जाता है। वे परम वीतराग और निश्चल रहते हैं। स्वानुभव अमृतमयी भोजन है, जिसका स्वाद सुखशाँति मय है। सिद्धो के भीतर यह स्वानुभव सदा बना रहता है। इसी से सिद्ध भगवान अनन्तसुख का वेदन करते हैं। ज्ञानी जीवों का आभूषण यह स्वानुभव है। संसार में राग द्वेष, मोह

के बंध के कारण हैं। वीतरागभाव संवर निर्जरा का उपाय है। इसको प्राप्त करके अभ्यासी जीव परम तृप्त हो जाता है।

---

२१४. क्षायोपशमिकमतिज्ञानविचयधर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी जीव कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। अठारह प्रकार क्षायोपशमिकभाव हैं। मतिज्ञान पहिला भाव है। मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से और वीर्यअन्तराय के क्षयोपशम से मतिज्ञान पैदा होता है। सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय से प्रकट होता है। मतिज्ञान पाँच इंद्रियों मन के द्वारा पदार्थ का सीधा ज्ञान है। सम्यग्दृष्टि के ज्ञान को मतिज्ञान कहते है। अवग्रह ईहा अवाय के भेद से मतिज्ञान होता है। चार इन्द्रियाँ पदार्थ को स्पर्श करके जानती है। आँख और मन दूर से जानते है। मतिज्ञान मे पहिले दर्शन होता है, फिर अवग्रह, जिसमे कुछ आकार ग्रहण होता है। फिर विशेष ज्ञान होता है, जिसको ईहा कहते है। फिर पदार्थ का निश्चय हो जाता है जिसको अवाय कहते है। फिर धारणा हो जाती है। फिर स्मृति प्रत्यभिज्ञान चिन्ता अनुमान हो जाता है। सम्यग्दृष्टी जीव पदार्थों को जानकर समभाव रखते है, वस्तु स्वरूप को विचार लेते हैं, पदार्थों मे रागद्वेष नही करते है, मतिज्ञान से मोक्षमार्ग का साधन करते है। यह मतिज्ञान मोक्षमार्ग मे सहायभूत पदार्थों के जानने मे उपकारी है। निश्चयनय से ज्ञान मे कोई भेद नही है।

ज्ञान एक प्रकार सूर्य समान तेजस्वी है। आत्मा परम शुद्ध निरजन निर्विकार है। कर्मों से न बद्ध है न स्पृष्ट है। आत्मा अनेक अवस्थाओ मे रहने पर भी अपने अमूल्य स्वरूप को नही त्यागता है। आत्मतत्व की गम्भीरता को समुद्र आदिक किसी पदार्थ की उपमा नही दी जा सकती। आत्मा परम चेतन तत्व है। जो इस तत्व को पहिचानते हैं वही ज्ञानी सम्यग्दृष्टी है। वे इस लोक, परलोक, वेदना,

अनरक्षा, अगुप्त, मरण आकस्मिक ऐसे सप्तभयों से रहित हैं। आत्मतत्व परमप्रकाशमान पूर्णमासी का चन्द्रमा है, जिसको कोई आवरण कभी ढक नही सकता। वह नित्य उद्योत करता है। आत्मा सुख शांति का सागर है जिसमें ज्ञानी जन नित्य,कल्लोल करते हैं और उसी का शांत रसपान करते हैं। इसी तत्व के बार-बार मनन करने से स्वानुभव प्रकाशमान होता है। स्वानुभव ही मोक्षमार्ग है। स्वानुभवी जीव नित्य आनन्द में मगन रहते है, और कर्म की परतन्त्रता की बेड़ी काटकर स्वतन्त्र होते जाते हैं। स्वानुभव ही भाव निर्जरा हैं।

---

२१५. श्रुतज्ञानविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कररहा है। क्षयोपशमिक दूसरा भाव श्रुतज्ञान है। इसको श्रुतज्ञान इसलिए कहते हैं कि अर्हन्त भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है उसको गणधर सुनते है और उसी के आधार पर द्वादशागवाणी की रचना करते हैं। उस वाणी को श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञानावर्णीय कर्म के क्षयोपशम से श्रुतज्ञान होता है। इसके दो भेद हैं—अनक्षरात्मक, अक्षरात्मक। मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय आदिक सब जीवो के होता है। जेसे शीत का स्पर्श हो उसका ग्रहण मतिज्ञान है। पश्चात् उसका सुहावना व असुहावना मालूम होना अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। अक्षरो को सुनकर उनके अर्थ का ज्ञान होना अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। आचारांग आदि बारहअंग अक्षरात्मक श्रुतज्ञान हैं। जिनवाणी का मनन कर भेदविज्ञानपूर्वक आत्मा का अनुभव होना भावश्रुत ज्ञान है। भावश्रुतज्ञान के मनन से केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है।

श्रुतज्ञान के अनुभव मे द्वादशांगवाणी का सार है। निश्चय-नय से विचार करने पर ज्ञान में कोई भेद नही। ज्ञान एक ही प्रकार है। जैसे सूर्य के प्रकाश में कोई भेद नही।

आत्मा स्वभाव से अभेदरूप है, निरजन निर्विकार है। कमल के समान कर्म नोकर्म से अल्प्ति है। मन और इंद्रियों के अगोचर है। जो मन और इद्रियो को सयम मे लाकर भीतर देखते हैं उनको आत्म दर्शन होता है। आत्मा आपसे ही जानने योग्य है, परमसूक्ष्म पदार्थ है। इस तत्व को जो समझते है वही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी है। उनको जगत मे हर एक आत्मा शुद्ध दीखती है, तब रागद्वेष का अभाव हो जाता है, समभाव जाग जाता है। इस समभाव मे लीन होते हैं वे प्रचुर कर्मों की निर्जरा करते हैं। उनके भीतर सम्यग्ज्ञान और वैराग्य शक्ति प्रगट हो जाती है। गृहस्थ हो या मुनि वे सब आत्मानुभव की प्राप्ति समभाव से करते है। आत्मानुभव मोक्षमहल की सीधी सड़क है, शुद्धोपयोग स्वरूप है, धर्मध्यान और शुक्लध्यानमय है। इस आत्मानुभव मे रत्नत्रयधर्म गर्भित है। परम निराकुलता का स्थान है। जो कोई शुभ अशुभ भावो से मुह मोड़ लेते है वही शुद्धात्मानुभव को पाते है। यह स्वानुभव शांत अमृत का सागर है। जो इसमे गोते लगाते है वही शुद्ध हो जाते है। ज्ञानीजीव इसी भाव को भाव-निर्जरा समझते है, जो स्वतन्त्रता पाने का एकमात्र उपाय है।

---

२१६. अवधिज्ञानविचय धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। तीसरा क्षयोपशमभाव अवधिज्ञान है। जिसमे द्रव्यक्षेत्रकालभाव की मर्यादा है। इसलिए उसको अवधिज्ञान कहते है। यह ज्ञान परकी सहायता बिना आत्मा से ही होता है। इसलिये इसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के द्वारा भविष्य और भूतकाल की बातों को भी जाना जाता है। देव और नारकियो को यह ज्ञान जन्म से ही होता है। इसलिये इसको भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। जो ज्ञान सम्यग्दर्शन तथा तपादिक के प्रभाव से होता है, उसको गुणप्रत्यय कहते हैं।

मनुष्य तिर्यंचों को भी गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है, जिसमें ज्ञाना-वरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है।

अवधिज्ञान छह प्रकार का भी है। अनुगामी जो दूसरे क्षेत्र-भव में साथ२ जाय। अननुगामी जो दूसरे क्षेत्र-भव में साथ न जावे। वर्द्ध-मान जो ज्ञान बढ़ता जावे। हीयमान जो ज्ञान घटता जावे : अवस्थित जो ज्ञान स्थित रहे। अनवस्थित जो ज्ञान एकसा स्थित न रहे। जो कभी घटे कभी बढ़े। इस ज्ञान के तीन भेद और भी हैं—देशावधि, परमा-वधि, सर्वावधि। परमावधि और सर्वावधि दो ज्ञान साधुओ को होते है, जो उसी जन्म में मोक्ष जाने वाले है। देव नारकियो को देशावधि ही होता है। अवधिज्ञानी कई जन्मो की बातो को जान सकता है। अवधिज्ञान का विषय मूर्तिक पदार्थ है। अर्थात् संसारी आत्मा और पुद्गल है। अमूर्तिकपदार्थों को नही जानता है यह अवधिज्ञान सम्यग्-दृष्टी के होता है।

सम्यग्दृष्टी अवधिज्ञान से विषयो को जानकर उनमे आसक्त नही होता है। निश्चयनय से विचार किया जाय ता ज्ञान मे कोई भेद नही है। कर्मों के निमित्त से यह भेद हो जाते है। ज्ञानी जीव हरएक आत्मा को शुद्ध व एकरूप देखते हैं तब उनके रागद्वेष का अभाव हो जाता है, समभाव जागृत हो जाता है। इस समभाव से कर्मों की निर्जरा होती है, और सुखशांति का लाभ होता है। तत्वज्ञानी जीव आत्मा के भीतर आप से आप मगन होते हुए मोक्षमार्ग पर चढ़ते जाते है। धर्मध्यान शुक्लध्यान इस भाव से प्रगट होजाते हैं। स्वानु-भूति जागृत हो जाती है। भेदविज्ञान का अभ्यास करने से स्वानुभूति प्रगट रहती है।

स्वानुभूति के समय मन, वचन, काय के विकल्प नही उठते हैं। एक शुद्ध अद्वैतभाव प्रकाशमान हो जाता है। मन, वचन, काय की क्रिया स्थिर हो जाती है, और निर्जराभाव झलक जाता है।

---

२१७. मनःपर्ययज्ञानविषय–धर्मध्यान निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का विचार कर रहा है। मन.पर्यय-ज्ञान क्षयोपशम भाव है। यह मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोप-शम से उत्पन्न होता है, ऋद्धिधारी साधु को प्राप्त होता है। दूसरे के मनमें चितित बात को जानना उसका विषय है। इसके दो भेद हैं–ऋजुमती, विपुलमती। दूसरे के मन मे सरल उपस्थित वात को जान लेना ऋजुमतो का विषय है। वर्तमान काल मे चितित की हुई बातको ऋजुमती जानता है। सरल और बक्र दोनो प्रकार की बातो को जो दूसरे के मन मे वर्तमान में हो या भूतकाल मे हो या भविष्य मे हो उसको विपुलमती का ज्ञान जान सकता है। इसका विषय अवधिज्ञान से भी सूक्ष्म है। इसका क्षेत्र ४५ लाख योजन ढाईद्वीप है। अवधिज्ञान की अपेक्षा मन पर्यय ज्ञानवाले के परिणामो मे विशुद्धि अधिक रहती है। इसका विषय मूर्तिक पदार्थ है। केवलज्ञान की प्राप्ति में यह नियम से सहकारी नही है। ऋजुज्ञान से केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। निश्चवनय से ज्ञान मे कोई भेद नही है। ज्ञान अभेद एक रूप आत्मा का स्वभाव है। आत्मा निश्चयनय स अखण्ड अभद निरजन और निर्विकार है, ज्ञातादृष्टा है। यह अपने को भा, और परपदार्थों को भी एक समय मे जानता है। आत्मा स्वभाव से भावकर्म रागादिक, द्रव्य-कर्म ज्ञानवरणादिक और नोकर्म शरीरादिक से भिन्न है। जो आत्मा के स्वरूप को परमशुद्ध अनुभव करते हैं वही सम्यग्दृष्टी है। उनके अनुभव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तीनो रत्नो की एकता प्रकाशमान होती है।

भेदविज्ञान के प्रताप से ज्ञानी जीवों को आत्मानुभव का लाभ होता है। उस समय शुभ शाति का स्वाद आता है। समरस का पान होता है। समरस में कोई प्रकार का विकार नही है। यह निर्मल अमृतमई पदार्थ है। समरस में निर्जराभाव रहता है। और उससे

कर्मों की निर्जरा रहती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति का यही उपाय है कि पाँच इन्द्रियो और मन को वश में रखकर एक आत्मा को ही लक्ष्य-बिन्दु बनाया जावे तभी आत्मानुभव प्रगट होता है और कर्म की निर्जरा होती है।

---

२१८. कुमतिज्ञानविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। कुमतिज्ञान एक क्षयोपशम भाव है जो मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयो-पशम से होता है। मतिज्ञान के साथ मिथ्यादर्शन का उदय रहता है। इसलिए इसको कुमतिज्ञान कहते है। कुमतिज्ञान पाच इन्द्रिय और मन के द्वारा पदार्थों को जानकर अपने ज्ञान को मोक्षमार्ग से विपरीत कार्यों मे प्रयोग करता है। जिनसे अपना और दूसरो का हित न हो ऐसे कार्यो के करने की बुद्धि करता है। मतिज्ञान के ३३६ भेद इस प्रकार होते है। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, चारप्रकार मतिज्ञान १२ प्रकार के पदार्थों का होता है। बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध, क्षिप्र (शीघ्रगामी), अक्षिप्र (मदगामी), अनिःश्रित (छिपा हुआ), नि सृत (प्रगट दिखनेवाले), अनुक्त (बिना कहा हुआ), उक्त (कहा हुआ), ध्रुव (दोर्घकाल स्थायी) और अध्रुव (क्षणभगुर)।

इसलिये १२को ४ से गुणा करने पर ४८ भेद हुये। यह ५ इन्द्रिय और मन हरएक से हो सकता है। इसलिये ४८ को गुणा करने पर २८८ हुये। यह भेद अर्थ–अवग्रह के हैं जिसमे पदार्थ का स्पष्ट ज्ञान होता है। जहां पदार्थ का ज्ञान दृष्टज्ञान न हो, कुछ ग्रहण मात्र हो उसको व्यजनावग्रह कहते हैं। इसमे ईहा, अवाय, धारणा नही हो सकते स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण, यह ४ इन्द्रियां पदार्थों को स्पष्ट कर जानती है। आँख और मन दूरसे जानते हैं। बारह प्रकार के पदार्थों का ग्रहण हो सकता है। इसलिये बारह भेद हुए। ४ इन्द्रिय की अपेक्षा से ४८ भेद हुए। कुल भेद ३३६ हुए। मिथ्या-

दर्शन के कारण कुमतिज्ञान बहुत अनर्थकारी होता है। कुमतिज्ञान के कारण बुद्धि उल्टा काम करती है। हिंसादि पापों को बढ़ाने में बुद्धि प्रवीणता बताती है। कुमतिज्ञानी पदार्थों को जानकर उनसे संसारवर्धक विषयकषायों मे प्रयोग करता है। नानाप्रकार के अस्त्र-शस्त्र खोटे अभिप्राय से बनाता है। जितना अधिक कुमतिज्ञान होता है, उतना अधिक उसके आत्मा को हानिकारक होता है। उनको आत्मतत्व का श्रद्धान नही होता है।

कुमतिज्ञान से इन्द्रियो का दुरुपयोग करता है। कुमतिज्ञान एकेंद्री आदि सब ही मिथ्यादृष्टी प्राणियों मे पाया जाता है। जिनके मन नही है वे अधिक विचार नही कर सकते तथापि प्राप्त शरीर मे मोह होने के कारण अज्ञान भाव रहता है। सैनी मनवाले प्राणियो का कुमतिज्ञान सम्यग्दर्शन के होने पर सुमतिज्ञान हो जाता है। इस तरह कुमतिज्ञान हानिकारक है। निश्चयनय से विचार किया जाय तो ज्ञान मे अनेक भेद नही है। ज्ञान एकआकार सूर्य के समान सर्व प्रकाशक है और वीतराग भी है। क्योंकि जानने मात्र से राग-द्वेष नही होता है। निश्चय से आत्मतत्व एक अद्भुत पदार्थ है, जिसका सम्यक् प्रकार से ज्ञान सम्यग्दृष्टी महापुरुषो को होता है। वे अपने ज्ञान मे पदार्थों का सत्यस्वरूप केवलज्ञानी की तरह जानते हैं। और ज्ञान वैराग्य की शक्ति से कभी पदार्थ मे मोहित नही होते। वे आत्म-तत्व के ज्ञाता आत्मा के ध्यान पर लक्ष्य रखते हैं, जिससे स्वानुभूति उत्पन्न हो जाती है, जिससे उनको क्षुधा-शांति का अनुभव होता है।

स्वानुभूति एक अग्नि है जो कर्मरूपी ईंधन को जलाती है। यह रत्नत्रय स्वरूप है। यही भावनिर्जरा है। इसी अग्नि को सेवन करने वाले यथार्थ ब्रह्मवेदी है। उन्ही का जीवन सफल है।

---

२१९. कुश्रुतज्ञानविचयधर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। कुश्रुत ज्ञान भी क्षयोपशमिक भाव है। इस ज्ञान को कुश्रुत इसलिए कहते हैं कि श्रुतज्ञान के साथ मिथ्यादर्शन का उदय मिला हुआ है, जिसके कारण प्राणी श्रुतज्ञान का उपयोग सांसारिक भावना में करता है। जिनके मन नहीं है उनको अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान होता है। संनी प्राणी के अक्षरात्मक श्रुतज्ञान भी होता है। कुश्रुतज्ञान के प्रभाव से शास्त्रज्ञान कषाय की पुष्टि का काम करता है। कुछ लोग किसी पर क्रोधित हो करके किसी व्यक्ति के हानि करने में कुश्रुतिज्ञान काम करता है। कुछ लोगों को शास्त्र ज्ञान का अभिमान हो जाता है, वे अपनी प्रतिष्ठा कराने में ही शास्त्र ज्ञान का उपयोग करते हैं। और मानपुष्टि के लिये नाना प्रकार के व्याकरणादि ग्रन्थों की रचना करते है और सन्मान पाकर बहुत राजी हो जाते है। कभी कोई मिथ्या ज्ञान के प्रचार में अपनी माया कषाय के कारण तत्पर हो जाते हैं। कुछ लोग लोभ के उदय से ऐसे शास्त्रों को रचना करते हैं जिनसे उनका लोभ पुष्ट होता है। और जगत में मिथ्यात्व का प्रचार होता है। कुश्रुतज्ञान के कारण ऋग्वेद आदि ग्रंथों का ऐसा अर्थ किया जाता है जिससे यज्ञ में व देवी-देवताओं के मठों में धर्म के नाम में पशुबलि हों। कुश्रुतज्ञानी शास्त्र ज्ञान का बड़ा दुरुपयोग करते हैं। जिन शास्त्रों से आत्मकल्याण करना था उनसे साँसारिक प्रयोजन चलता है। कुश्रुतज्ञानी मिथ्या ज्ञान के कारण कुधर्म का प्रचार करके जगत को ठगते हैं। कुश्रुतज्ञानी एकान्त नय से वस्तु का स्वरूप प्रतिपालन करते है, असत्य का जगत में प्रचार करते हैं।

जिस शास्त्र ज्ञान से मोक्षमार्ग का प्रयोजन सिद्ध न किया जावे वह सब कुश्रुतज्ञानी अशुभ परिणामों से महान कर्मबंध करते हैं। इस लिये कुश्रुतज्ञान जीव का अपकार करने वाला है। निश्चयनय से ज्ञान में कोई भेद नहीं है। ज्ञान ही एक अभेद सूर्य के प्रकाश समान उद्योत-

मान है। निश्चय से आत्मा परमशुद्ध निर्मल व अविनाशी अमूर्तिक ज्ञातादृष्टा एक स्वतंत्र पदार्थ है। इसमे कोई पर पदार्थ का सम्बन्ध नहीं है। वह स्फटिकमणि के समान परम स्वच्छ है। आत्मज्योति की उपमा किसी भी भौतिक पदार्थ से नही दी जा सकती। वह अखण्ड ज्योति निरन्तर प्रकाश करने वाली है। उसको रात्रि का अन्धकार नही है, न वह भोगों से आच्छादित होता है, न राहु आदि नक्षत्र उसमें बाधक हो जाते हैं। इस आत्म-ज्योति को भीतर देखने वाले ज्ञानी और सम्यक्‌दृष्टी हैं। वे इस दृष्टि से स्वरूप मे रहते है। और इंद्रिय विषय विकारों से बचकर अतीन्द्रिय आनंद का लाभ करते हैं। उनके भीतर शुद्ध उपयोग भाव निर्जरारूप प्रगट रहता है जिससे पिछले कर्म से निर्जरा होती है और सुख-शाति का लाभ करते हुए वे परम संतोषी रहते हैं।

———

२२०. कुअवधिज्ञानविचयधर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। कुअवधिज्ञान क्षयोपशमिक भाव अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। यह ज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल भाव के मर्यादा पूर्वक पदार्थों को जानता है। मिथ्यादर्शन के उदय मे इस ज्ञान को कुअवधि-ज्ञान कहते हैं। मिथ्यादर्शन के कारण मिथ्यादृष्टि जीव उस ज्ञान से पदार्थों को जानकर ज्ञान का उपयोग अशुभभाव मे करता है। परि-णामों को सक्लेशित कर लेता है। जो भाव संसार को बढाने वाले हैं उनकी पुष्टि करता है। यह ज्ञान चारो गति के जीवो को हो सकता है। इस ज्ञान से मिथ्यात्वकर्म पुष्ट होता है, कषायों की तीव्रता हो जाती है। मिथ्यात्व के समान जीव का कोई शत्रु नहीं है। उल्टे मार्ग मे चलाने वाला मिथ्यात्व भाव है। जो सम्यग्दर्शनरूप, आत्मीक गुण को प्रगट नही होने देता, मिथ्यादृष्टि जीव को स्वानुभव का लाभ नही हो सकता है। क्योंकि उसका श्रद्धान

अपनेआत्मतत्व पर नही होता है। निश्चयनय से ज्ञान में कोई भेद नही है। सूर्य के प्रकाश की तरह ज्ञान एकाकार सदा प्रगट रहता है। ज्ञान का स्वभाव सर्व ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थों को अक्रम से एक साथ जानना है। ज्ञान के विषय को मन, वचन, काय द्वारा प्रगट करने मे क्रमवार होता है। क्योंकि इसमें परकी सहायता हो जाती है। ज्ञान स्वभाव से असहाय और स्वतन्त्र है। आत्मा का स्वभाव स्व और पर दोनो को एकसाथ जानना है। और किसी प्रकार का विकार या राग द्वेषभाव नही करना है। यह विकार मोहनीयकर्म के उदय से होता है।

आत्माके स्वभाव मे कर्मों का संयोग नही है। वह सदा ही निराला निरजन निर्विकार है। स्फटिकमणी के सदृश निर्मल परिणमनशील है। आत्मस्वभाव के ज्ञाता सम्यक्दृष्टि जीव होते हैं। ग्यारह अंग नौ पूर्व के ज्ञाता भी आत्मज्ञान के बिना अज्ञानी कहलाते हैं। क्योंकि आत्मा के ज्ञान मे सम्यग्दर्शन चारित्र है। इन तीनों की एकता आत्मज्ञान मे रहती है। और वहां ही सच्चा वैराग्यभाव होता है। इसी आत्मज्ञान का अनुभव स्वानुभव है। यही ध्यान अग्नि है जो कर्म ईंधन को जलाती हैं और आत्मा को शुद्ध करती है। आत्मज्ञान से ही आनन्दरूपी अमृत झरता है, जिसको पानकर ज्ञानी संतुष्ट हो जाता है। आत्मज्ञान ही दोज के चन्द्रमा के समान है, यही बढ़ते २ पूर्ण चन्द्रमा के समान केवलज्ञान हो जाता है।

आत्म ज्ञान मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है। जो कोई निःशंक होकर इस सीढी पर गमन करता है वह शीघ्र ही सिद्ध स्थान को प्राप्त हो जाता है। आत्म ज्ञान मे कोई विकल्प या विचार नहीं रहता मैं हूं या नहीं यह विकल्प भी नही उठता है। आत्मज्ञान अद्वैतभाव जागृत कर देता है। विश्व के अन्दर छह द्रव्यों के रहते हुए भी स्वानुभव मे आत्मस्वरूप ही झलकता है, जो मन, वचन काय से अगोचर है।

आत्मज्ञानी स्वरूप में तृप्त रहकर अन्य विषय की आकांक्षा नहीं करता है। यही निर्जराभाव है, और परम उपादेय है।

---

२२१. चक्षुदर्शनविचयधर्मध्यान–निर्जराभाव

ज्ञानी जीव कर्मों के नाश के उपायों का विचार कर रहा है। चक्षुदर्शन क्षायोपशमिक भाव है। चक्षुदर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्रकट होता है। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा सामान्य निराकार अवलोकन को चक्षुदर्शन कहते हैं। मतिज्ञान के पहले यह होता है। त्रीन्द्रिय जीवों तक उसका प्रकाश नही होता। चतुरिन्द्रय और पंचेन्द्रिय जीवों को उसका प्रकाश होता है। सब जीवों के शक्ति एकसी प्रकट नहीं होती। जैसा क्षयोपशम होता है वैसी ही शक्ति प्रकट होती है। यह चक्षुदर्शन बारहवे गुणस्थान तक पाया जाता है। यद्यपि इसका प्रकट कार्य छठे प्रमत्त गुणस्थान तक ही होता है क्योंकि सकल्प विकल्पपूर्वक ज्ञान की क्रिया यहीं तक सभव है। आगे के गुणस्थानो मे सब साधु ध्यानमग्न रहते हैं, आत्मध्यान में लीन रहते हैं। दर्शन में वस्तु का विशेष बोध नही होता, केवलगम्य सामान्य ग्रहण होता है। चक्षुदर्शन भी अपने कार्यों में उपयोगी है। निश्चयनय से आत्मा मे गुणो की अपेक्षा भेद नहीं है। आत्मा निरंजन द्रव्य या स्वतन्त्र द्रव्य है। इसका ज्ञान दर्पण के समान निर्विकार है।

ज्ञेयों को जानते हुए भी उनसे पृथक् रहता है। आत्मा के ज्ञान की अपूर्व महिमा है। सम्यग्दर्शन का अविनाभावी है। इसके बिना आत्मानुभूति नहीं होती है। आत्मानुभूति मे ही मोक्षमार्ग है। क्योंकि वहां सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों ही गर्भित हैं। आत्मानुभूति के बिना सुख और शाति का लाभ नही होता। जब उपयोग को सर्व अन्य पदार्थों से विरोध करके और मनके संकल्प विकल्पो को दूर कर अन्तर्मग्न हुआ जाता है तब स्वयं सिद्धि प्रगट होती है। इसका प्रारंभ

अविरत सम्यग्दृष्टी चौथे गुणस्थान से होता है। और पूर्ण स्वानुभूति केवली परमात्मा के होती है। सिद्धों में भी इसी का प्रकाश रहता है। यह एक अद्वैतभाव है, जिसमें प्रमाण नय निक्षेप का भी कोई विकल्प नहीं रहता है। द्वादशांगवाणी का भी यही सार है। अभव्य श्रुतज्ञान का पाठ करने पर भी इसको प्राप्त नही कर सकते। यह एक अमूल्य अमृत का समुद्र है। जो इसमें अवगाहन करते हैं वे कर्मों से शुद्ध हो जाते हैं।

---

२२२. अचक्षुदर्शनविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी जीव कर्म के नाश का उपाय विचार कर रहा है अचक्षु-दर्शन क्षयोपशमिक भाव है। अचक्षुदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय पर्यन्त प्राणियों के होता है। इसके द्वारा चक्षु-इन्द्रिय के सिवाय स्पर्शनादि चारइन्द्री और मन द्वारा सामान्यपने पदार्थों का अवलोकन किया जाता है। दर्शनपूर्वक मतिज्ञान होता है। मतिज्ञान में पदार्थों का आकार ग्रहण होता है। परन्तु दर्शनउपयोग में आकार का ग्रहण नही होता। आत्मा का उपयोग पदार्थों के ग्रहण के लिये तैयार होता है। दर्शनोपयोग का उपयोग अल्पज्ञानी के मति-ज्ञान के पहले होता है। इसका तात्पर्य केवली भगवान के ज्ञानगम्य है; चेतनागुण के दर्शन, ज्ञान दो भेद है। ऐसा भी आगम का मत है।

निश्चयनय से आत्मा के गुणों में कोई भेद नहीं है। आत्मा अभेद अखण्ड एक ज्ञायक पदार्थ है।

आत्मा के स्वरूप में कोई राग-द्वेष आदि विकार नहीं है, वह स्फटिकमणी के समान परमशुद्ध पदार्थ है। जो भव्यजीव इस आत्मा को परम शुद्ध निर्विकार अनुभव करते हैं। वही सच्चे मोक्षमार्ग पर चलने वाले सम्यग्दृष्टी हैं। वे अपने शुद्ध आत्मा का यथार्थ अनुभव करते हुये सुख-शांति का परम अमृतपान करते हैं और कर्मों के मध्य

में पड़े हुए भी अपने को उनसे निराला जानते है। जैसे–सुवर्ण कीच में पड़ा हुआ भी अलिप्त रहता है।

आत्मा एक परमशान्त अद्भुत चन्द्रमा है, जिसको कभी कोई आवरण नहीं हो सकता। जैसे सूर्य निरावरण रहता है। आत्मा सूर्य के समान स्वपर प्रकाशक और परम वीतराग है। इस आत्मतत्व के अनुभव करने वाले परमयोगी होते है। जिस तत्व के जाने बिना कोटिग्रन्थों का पाठी ज्ञानी नही बन सकता है, क्योंकि आत्मज्ञान ही सार पदार्थ है। बड़-बड़े महर्षि इसी तत्व का रातदिन मनन करते हैं। आत्मा को ही परमात्मा निर्मल स्वरूप पदार्थ देखते हैं। और उसी में मगन होकर अपने जीवन को सफल समझते हैं। निर्जरा का साधन वीतराग भाव है, जो आत्मा की अनुभूति से भले प्रकार प्राप्त होता हूं। सर्व व्रत संयम आदि आत्मज्ञान मे गर्भित हैं। आत्मज्ञान के बिना घोर तप भी निःसार है। आत्मा की अनुभूति सीधी सड़क मोक्षमहल को चली गई है। उसमें कोई रागादिक विकार की कोई जगह नहीं है। वह एक अद्वैत भाव है, जिसमें सर्व चिन्तवन बन्द हो जाते हैं, मन वचन काय दूर रह जाते हैं। यही धर्मध्यान है, जो कर्म की निर्जरा का कारण है।

---

२२३. कुअवधिदर्शनविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मोके नाशक उपाय विचारता है। कुअवधि-दर्शन एक क्षयोपशमिक भाव है, जो अवधिदर्शनावरण कर्मके क्षयोप-शमसे होता है। इसको कुअवधि इसलिये कहते हैं कि मिथ्यात्वके उदयके साथ ही होता है। अवधिदर्शनसे अवधिज्ञानको प्राप्तकर उसका मिथ्या उपयोग करता है, आर्तध्यान या रौद्रध्यानको बढ़ा लेता है, जिससे घोर कर्मोंको बांधता है और मोक्षमार्गसे दूर होता जाता है, सुख और शाति कभी प्राप्त नहीं कर सकता। यह भाव संसार बढ़ाने-वाला है। नारकी, देव, मनुष्य, पशु, सैनो पंचन्द्रिय जीवोंके होसकता

है। व्यवहारनयसे दर्शनके भेद होते हैं। निश्चयनयसे आत्माके गुणोंमें भेद नहीं है। आत्मा एक अभेद अनुपम पदार्थ है। यह स्वभावसे परम वीतराग आनंदमय है। इसमें कोई रागादिक विकार नहीं हैं न कर्मों का संयोग है। यह परम निरंजनदेव हरएक प्राणीके भीतर बिराजमान है। मैं आत्मा हूं और सब अन्य आत्मा मेरे बराबर हैं। ऐसा जानने से समभाव प्रगट होता है। तब कोई और विकार नही रहते। यह समताभाव परम उपकारी है। वीतरागभाव को प्रगट करता है। इससे नवीन कर्मों का सवर होता है, पुराने कर्मों की निर्जरा होती है। इसको भावनिर्जरा कहते है। यही धर्मध्यान है। सर्व आपत्ति-योंसे दूर है। जो इस समताभाव का अनुभव करते हैं वही सम्यग्दृष्टि हैं। उन्ही का जन्म सफल है। उनको सत्यमार्ग पर चलते हुए थकन मालूम नही होती। क्योंकि वह आनदअमृत का पान करते हैं और आकुलता रहित रहते हैं। समताभाव गुणो का प्रकाश करता है और विभावों को नही आने देता, जिससे साधक साध्य की सिद्धि शीघ्र कर लेता है और निर्वाण को निकट बुला लेता है और अपने स्वरूप का पूर्ण प्रकाश कर लेता है, परममंगलमय हो जाता है। ध्यान ही सब कामो में मुख्य है। जो अपना हित चाहते हैं उनको निरतर अभ्यास करना चाहिये।

द्वादशांगवाणी का सार यही है कि भावश्रुतज्ञान को प्राप्त किया जाय। आत्मा का अनुभव ही भावश्रुतज्ञान है। जिन २ जीवों ने इसका अनुभव प्राप्त किया है, वे जीव शुद्धस्वरूप का स्वाद लेते हुए परम तृप्त रहते हैं। और अनादिकाल से चली आई हुई बंधपद्धति का अन्त कर देते हैं। चौथे अविरत सम्यग्दर्शन से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक हरएक गुणस्थान में आत्मानुभव बढ़ता जाता है। और अन्त में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान प्रकाशमान हो जाता है। इसी से कर्म की निर्जरा होती है और आत्मानंद का प्रकाश होता। तत्त्वों का सार यही है—इसी को पाकर सर्व भ्रम दूर हो जाता है और

निःशंकवृत्ति ठहर जाती है, सब जप तप व्रत इसी से सफल होते हैं, ज्ञान का पूर्ण प्रकाश होता है।

---

२२४. क्षयोपशमदानविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी जीव कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। १८ प्रकारके क्षयोपशम भावोंमें क्षयोपशमदान एक लब्धि है, जिसके कारण दान देने के भाव होते हैं। यहां दानान्तराय कर्म का क्षय नहो हुआ है, किन्तु क्षयोपशम है, जिससे दान देने की पूर्णशक्ति विकसित नहीं हुई है। इस लब्धि का काम एकेन्द्रिय आदि जीवों को भी रहता है। मिथ्यात्वगुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणमोहगुणस्थान पर्यन्त इस लब्धि का प्रकाश है। सैनो पंचेन्द्रिय तिर्यंच तथा मनुष्य के पांचवे और छठे गुणस्थान पर्यन्त यथासम्भव दान का विकल्प रहता है। दानान्तराय के उदय से इच्छित दान नहीं हो सकता। केवलीभगवान के दानान्तराय कर्म का क्षय हो जाता है, इसलिए उनके अनन्तदान की शक्ति प्रकट हो जाती है। व्यवहारनयसे इस तरह विचार करता हुआ निश्चयनय से जब विचार करता है, तो आत्मा के गुणो में कोई दोष नही है। आत्मा अभेद, निरंजन, ज्ञायक, परम वीतराग, एक अद्भुत सत्रूप पदार्थ है। हरएक आत्मा अपनी सत्ता को भिन्न-भिन्न रखता है। निश्चय से सब आत्माएं समान हैं। इस दृष्टि से देखते हुए राग-द्वेष-मोह की उपाधि नही रहती है, परमसमताभाव जागृत हो जाता है। यही साम्यभाव है, यही मोक्षमार्ग है; क्योंकि इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता है। इसी भाव में लय होने से स्वात्मानुभव प्रकट हो जाता है। तब सर्व विकल्प मिट जाता है। एक अद्वैत आत्मीक भाव ध्याता के ध्यान में रह जाता है। तब परम आनन्दअमृत का प्रवाह बहता है। यह अतीन्द्रियसुख आत्मा का स्वाभाविक गुण है। रागादिक मोह बिकार होने के कारण

इस सुख का अनुभव नहीं होता। स्वानुभव की कला चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान से प्रारम्भ हो जाती है, और जैसे-जैसे गुणस्थान में साधक बढ़ता है, स्वानुभूति की निर्मलता और स्थिरता बढ़ती जाती है। यहां तक कि परमात्मा में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान विकास हो जाता है। सिद्धों मे भी यह स्वानुभव प्रकाशित रहता है।

आत्मतत्व के ज्ञाता ही द्वादशांग वाणी के यथार्थ समझनेवाले होते हैं। स्वानुभव ही भावश्रुतज्ञान है, यही केवलज्ञान का साधक है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान के साधक नहीं हैं। क्योंकि उनके अभाव में भी केवलज्ञान हो जाता है। स्वतन्त्रता का साधक यह ही आत्मानुभव है।

योगी तपस्वी बाह्य तप करते हुए इसी तत्व पर दृष्टि रखते है। निश्चय से यही सार तप है। क्योंकि इसमें इच्छाओं का निरोध है। यही भाव-तप कर्मकी विशेष निर्जरा का कारण है। जो आत्म-हित करना चाहते हैं उन्हें उचित हैं कि आत्मतत्व को अनेकान्त स्व-रूप से समझ लें और सतत इसका मनन करें, तब जैसे दही बिलोने से मक्खन निकलता है वैसे भावना भाने से स्वानुभव का प्रकाश होता है। कर्म की परतन्त्रता का क्षय इसी से होता है।

————

२२५. क्षयोपशमलाभविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। अठारह प्रकार मिश्रभावों में क्षयोपशम लाभ एक वह भाव है जिसके कारण इष्ट वस्तु के लाभ में अन्तराय नहीं पड़ता। लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से यह शक्ति प्रगट होती है।

एकेन्द्रियादि सब प्राणियों के यह शक्ति कम या अधिक होती है। बारहवें गुणस्थान तक इसका प्रकाश रहता है। फिर लाभान्त-राय के क्षय से अनन्तलाभ का प्रकाश होजाता है। मिथ्यादृष्टि जीव

इष्ट वस्तु के लाभ में बहुत हर्ष और वियोग में बहुत विषाद करता है। सम्यग्दृष्टी जीव इष्टवस्तु के लाभ व अलाभ में साम्यभाव रखता है। धन धान्यादिक का अधिक लाभ होते हुए उस सम्पत्ति को शुभ कार्यों में लगाता है। विशेष लाभ होने पर उन्मत्त नहीं होता। वह जानता है कि मेरो सम्पत्ति आत्मिक गुणो का विकास हैं। परवस्तु छूट जाने वाली है। पाप पुण्य से उसका संयोग या वियोग होता है। निश्चयनय से आत्मा मे भावो के भेद नही है।

आत्मा अभद अखण्ड अजर अमर अमूर्तिक शुद्ध स्वभाव का धारी है। ६ द्रव्यो मे यही सार है क्योकि यह सुख और शाति का भण्डार है।

आत्मा का ज्ञान बहुत आवश्यक है। अनेक शास्त्रो के पढ़ने पर भी आत्मिकज्ञान बिना आत्महित नही हो सकता; क्योकि निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आत्मा मे ही है। जो आत्मशुद्धि के इच्छुक है वे भेदविज्ञान पूर्वक आत्मिक ज्ञान को प्राप्त करते हैं। यह आत्मा ज्ञानावरणादि अष्टकर्म, रागादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म से निराला है। इसके स्वभाव मे कोई विकार नही है। कमलनी के पत्ते के समान यह आत्मा सर्व अन्यद्रव्यो से अलिप्त रहता है। इसका स्वभाव स्फटिकमणि के समान निर्मल है। सम्यग्दृष्टो जीव इसी आत्मतत्व का अनुभव करके आत्मशुद्धि को बढ़ाते रहते है। जो कोई आत्मारूपी गगा मे स्नान करते है, उनके सर्वकममल धुल जाते है। आत्मज्ञान के समान कोई जहाज नही है, जो सीधा मोक्षद्वीप को जाता हो। जो इस पर आरूढ़ रहते है और दृढ़ता के साथ बढ़ते हैं वे अवश्य भवसागर से पार हो जाते है।

आत्मज्ञान एक ऐसी कला है जिसके होते हुए सम्यग्दृष्टो मन वचन काय से क्रिया करते हुए भी आसक्त नही होते। तीर्थंकरादि महापुरुषो ने इसी आत्मज्ञान का आश्रय लेकर सिद्धि को प्राप्त किया था। जो भव्यजीव इस लोक और परलोक मे सुख और शांति को

चाहते हैं उन्होंने आत्मज्ञान का आश्रय लेकर सिद्धि को प्राप्त किया था। जो भव्य जीव इस लोक और परलोक मे सुख और शांति को चाहते हैं उन्हें आत्मज्ञान का आश्रय लेना चाहिये। निरन्तर आत्म-ज्ञान को भावना करने से आत्मानुभूति प्रगट होती है। यही भाव-निर्जरा है, जो कर्मों को नष्ट कर देती है।

---

२२६. क्षयोपशमभोगविचय–धर्मध्याननिर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। अठारह प्रकार के मिश्र भावो मे, क्षयोपशमभोग भी है। भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से यह शक्ति उत्पन्न होती है जिससे पदार्थों का भोग किया जा सकता है। यह शक्ति एकेन्द्रियादिक सब जीवो में कम या अधिक प्रगट रहती है। बारहवे क्षीणमोहगुणस्थान तक इसका प्रकाश रहता है परन्तु बुद्धिपूर्वक उपयोग प्रमत्तविरत्त छठे गुणस्थान तक रहता है। सम्यग्दृष्टी जीव पदार्थों का भोग करते हुये भी समभाव रखता है, उन्मत्त नहीं होता है।

निश्चयनय से आत्मा में गुणों का या भावो का भेद नहीं है। यह आत्मा एक स्वतन्त्र ज्ञातादृष्टा निरंजन निर्विकार पदार्थ है, जिसके ज्ञान में सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ एक साथ झलकते है, तो भी कोई विकार नही होता है। आत्मा स्वभाव से रागादि विकारो से ज्ञाना-वरणादि आठ कर्मों से शरीरादि नो-कर्मों से परे है। इसका स्वभाव शुद्ध जल के समान परम निर्मल है। इस आत्मतत्व को जो व्यक्ति ठीक-ठीक जानते हैं वे मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होकर चल सकते हैं। आत्म ज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव प्रगट होता है। इस अनुभव से सर्व संकल्प-विकल्पों का अभाव हो जाता है और ध्यान की अग्नि प्रगट होती है। जिससे कर्ममल का नाश होता है। और आत्मशुद्धि प्रगट होती है। तथा सुखशांति का अनुभव होता है। यह आत्मानुभव

अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान से प्रकाशित होता है। और बढ़ते-बढ़ते तेरहवें गुणस्थान में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान प्रगट हो जाता है। यही सार्थक तत्व है जिसको पाकर ज्ञानी जीव सन्तुष्ट हो जाते हैं। आगम का निचोड़ यही है। जो आत्मानुभव किया जावे उसमे कर्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान आदि षट्कारकों का विकल्प नही है। निर्विकल्प तत्व परतन्त्रता का नाश करने वाला है, स्वतन्त्रता को जागृत करने वाला है।

यही भाव निर्जरा है, यही तप है। उपवास आदि तप बाह्य निमित्त कारण है। आत्मा की शुद्धि का उपादान कारण आत्मा ही है। आपसे आपकी शुद्धि होती है। परभावो से बन्ध होता है। स्वभावो से मुक्ति होती है।

---

२२७. क्षयोपशमउपभोगविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय कर रहा है। १८ प्रकार क्षयोपशम भावों में क्षयोपशम उपभोग भी है। भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से यह भाव एकेंद्रियादि सर्व प्राणियों में प्रगट होता है। जो पदार्थ बराबर भोगने मे आवें उसको उपभोग कहते हैं। जैसे वस्त्र, गृह आदि। इस शक्ति के द्वारा उपभोग करने योग्य पदार्थों का उपभोग किया जा सकता है। यह शक्ति बारहवें गुणस्थान तक प्रगट रहती है, परन्तु बुद्धिपूर्वक इस शक्ति का उपयोग छठे गुणस्थान तक रह सकता है। मिथ्यादृष्टी जीव उपभोग करते हुए रजायमान हो जाता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव आसक्त नही होता। तेरहवें गुणस्थान में अनत उपभोग शक्ति प्रगट हो जाती है। वहां अन्तराय कर्म का क्षय हो जाता है। व्यवहारनय से ऐसा भेदभाव रहता है। निश्चयनय से आत्मा में कोई भी भेदभाव नही। वह अखण्ड एक ज्ञाता-दृष्टा पदार्थ है, जिसकी महान सपत्ति ज्ञान है, जिसमें सब ज्ञेय पदार्थ यथार्थ जैसे के तैसे प्रकाशमान होते हैं। आत्मा सुखशांति का सागर

है, जिसमें रागादि दोषों का आरोपन नहीं है। आत्मतत्व परम शुद्ध अविनाशी है। इस तत्व को जिन्होंने पाया है और अनुभव किया है, वे मोक्षमार्ग पर चलनेवाले महान आत्मा हैं।

इसी तत्व के ध्यान से कर्मकलंक जल जाता है और अन्तरात्मा परमात्मा हो जाता है। इस तत्व को पाने के लिए पुनः भावना भाने की जरूरत है। जिस तरह दूध विलोने से मक्खन निकलता है, उसी तरह भावना भाने से आत्मा का अनुभव प्रगट होता है, यही यथार्थ-भाव श्रुतज्ञान है द्वादशांगवाणो का यही सार है गणधरादि महान ऋषीश्वर इसी तत्वज्ञान से अपनी आत्म-उन्नति करते हैं।

इस रूप के ध्याने से सुख-शांति का लाभ होता है और प्रच्छन्न आत्मीक गुणों का विकास होता है। सम्यग्दृष्टीजीव सदा ही इस तत्व के मनन से संतोषित रहते हैं। निराकुलता प्राप्त करने का यही उपाय है। जिन जीवों को ससार-समुद्र से पार होना हो उनको आत्म-तत्व रूपी जहाज पर चढ़ना चाहिये और स्थिरता के साथ स्वतंत्रता पर लक्ष्य रखते हुए सीधे गमन करना चाहिये। आत्मतत्व का अनुभव ही भाव-तप है, जो कर्म की निर्जरा का कारण है। आत्मानुभव ही ज्ञानियों का अमृतपान है, जो परम-तृप्ति का कारण है।

---

२२८. क्षयोपशमवीर्यविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है। १८ प्रकार मिश्र भावों में क्षयोपशमवीर्य भी है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षयो-पशम से यह प्रगट होता है। एकेन्द्रियादि सम्पूर्ण प्राणियों के इसका प्रकाश कम वा अधिक विद्यमान रहता है। जिससे आत्मीकबल करता है। बारहवें गुणस्थान तक यह प्रगट रहता है। फिर वीर्यान्त-राय के क्षय से अनन्तवीर्य केवलीभगवान के प्रगट हो जाता है, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति में आत्मा वीर्यउपयुक्त होता है। इसी के प्रताप

से तपस्वीजन अनेक प्रकार का तप करते हैं और आत्मा को उन्नत बनाते हैं। अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति इसी से होती है। पुरुषार्थ करने में यह सहायक होता है। व्यवहारनय से ऐसा विचार करके फिर निश्चय से विचारता है, तो आत्मा मे स्वभाव और गुणों की अपेक्षा कोई भेद नहीं है। आत्मा अखन्ड, अभेद, ज्ञातादृष्टा परम पदार्थ है। आत्मा निर्विकार निरञ्जन अविनाशी अमूर्तिक एक स्वतंत्र वस्तु है।

आत्मा का यथार्थ ज्ञान जिनको हो जाता है वे आत्मस्वातंत्र्य की तरफ बढ़ते जाते है और कर्मोदय की परतन्त्रता को मेटते जाते हैं। और भवसागर से पार होने को अग्रसर होते जाते हैं। जहाँ आत्मिक ज्ञान है वहाँ सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र तीनों रहते हैं। आत्मज्ञान के द्वारा आत्मानुभव होता है, तब सब विकल्प मिट जाता है और अद्वैत-भाव प्रगट हो जाता है तब सुख शांति का स्वाद आता है। यही धर्मध्यान और शुक्लध्यान है। आत्मानुभव स्वतंत्रता के लिए एक परम कला है। इसी को सम्यग्दृष्टी श्रावक मुनि आदि सर्व अनुभव करते है। और मोक्षमार्ग को तय करते जाते है। आत्मानुभव एक परम रसायन है, जो सर्व रागद्वेषादिक दोषो को मेटने वाला है। जहा आत्मानुभव है। वही सब उत्तम गुणो का विकाश होता है। आत्मानुभव ही भाव निर्जरा है, यही वीतराग भाव है, यही त्याग और सयम है। यही ब्रह्मचर्य है यही शीलसंतोष है यही अद्भुत आत्म-गुण है, जो एक अन्तर्मुहूर्त मे आत्मा को परमात्मा बना देता है। यही ज्ञानियो का परम धर्म है।

---

२२६. क्षयोपशमसम्यक्त्व–विचयधर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है। सम्यग्दर्शन यद्यपि एक प्रकार है। तथापि कर्मावरण की अपेक्षा तीन प्रकार

है। उपशम, क्षायोपशम या वेदक क्षायक। १८ प्रकार मिश्रभावों में क्षयोपशम सम्यक्त्व भी है। प्रथम उपशमसम्यक्त्व में दर्शनमोहिनी अनंतानुबंधीकषाय का उपशम रहता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व में सम्यक्त्व मोहिनी प्रकृति का उदय रहता है। जिसके कारण सम्यक्त्व में कुछ अतीचार रहता है। इस प्रकृति के उदय को वेदन करने से इसको वेदकसम्यक्त्व कहते हैं। उसके कई भेद हैं। एक भेद यह है—अनन्तानुबंधी कषाय का विसंयोजन हो, अर्थात् प्रत्याख्यानादि कषाय रूप परिणमन हो जाय। और मिथ्यात्व और मिश्रप्रकृति का उपशम हो। दूसरा भेद यह है—मिथ्यात्व का क्षय हो और मिश्र का उपशम हो। तोसरा भेद यह है कि मिथ्यात्व और मिश्र दोनो का क्षय हो। चौथा भेद यह है कि अनतानुबधीकषाय मिथ्यात्व और मिश्र इन छहो का उसशम हो। यह सम्यक्त्व उपशम सम्यक्त्वके बाद होता है। और इसीसे क्षायक सम्यक्त्व हाता है। क्षायक सम्यक्त्व होने के पहले जब सम्यक्त्व मोहिनो उदय रहता है और वह उदय क्षय के सन्मुख होता है, तब उसको कृत्कृत्य वेदकसम्यक्त्व कहते है। इस सम्यक्त्व को लिए हुए मनुष्यगति से अन्यगति मे जा सकता है वहा क्षायक हो जाता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व चारो गतियो मे पैदा हो सकता है। इस सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति ६६ सागर है। जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। यह सम्यक्त्व उपशम और क्षायक के समान निर्मल नही है। इसमें चल-मल अगाढ़ दोष लगता है जो बहुत सूक्ष्म है, अनुभवगम्य है। निश्चय-नय से आत्मा मे गुणो के भेद नही है। आत्मा अखण्ड अविनाशी निज स्वरूप स्वतंत्र अमूर्तिक पदार्थ है। आत्मा का यथार्थ ज्ञान होना आवश्यक है। क्योकि इसके बिना सम्यक्त्व-ज्ञान-चारित्र नहीं हो सकता।

आत्मा मे सम्पूर्ण सयम तप या त्यागादि धर्म हैं। जिसने आत्मा को नही जाना उसका शास्त्र का ज्ञान व्यर्थ है। आत्मज्ञानी ही यथार्थ श्रावक व मुनि है। आत्मज्ञानसे आत्मानुभव की प्राप्ति होती है

जिससे सच्ची सुख शांति प्राप्ति होती है और यथार्थ तत्व का लाभ होता है। इस पर चलने से आत्मा की शुद्धि होती है और कर्म की निर्जरा होती है। आत्मानुभव साक्षात् सम्यक्त्व है, यही भावनिर्जरा है। यही सार है। यही ज्ञानियों का आश्रय है। परम शरणभूत है, सिद्धांत का यही निचोड़ है। जो आत्मा का अनुभव करते हैं वे सीधे मोक्षमार्ग पर गमन करते हैं। यही उत्कृष्ट ध्यान है।

———

२३०. क्षयोपशमचारित्रविचय-धर्म ध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। १८ प्रकार मिश्रभाव मे क्षयोपशमचारित्र भी है। यह चारित्र प्रमत्त तथा अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती जीवो को होता है। यहा पर अनतानुबंधी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान कषायो का उदय नही होता है। केवल संज्वलन का उदय है। अन्तर्मूहूर्त छठे और सातवे गुणस्थान का काल है इसलिये साधु इन दोनो गुणस्थानों मे बारम्बार आते जाते रहते हैं। जब तक श्रेणी चढ़ने के सन्मुख न हो तब तक यही क्रम रहता है सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान की पूर्णता होती है, जहां पर ध्यान अवस्था ही रहती है। साधु व्यवहारनय से पांच महाव्रत, पाँच समिति तीन गुप्ति इस तरह १३ प्रकार चारित्र का पालन करता है। मोक्ष-मार्ग पर आरूढ़ होता हुआ, सुख शांति का उपभोग करता है, आत्मा की उन्नति करता है। धर्म ध्यान में मुख्यता निर्विकल्प भाव की है। इसी भाव को वास्तव मे धर्म ध्यान कहते है।

धर्मध्यान चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान से प्रारम्भ होता है धर्मध्यान से शुक्लध्यान मे गमन होता है। इस तरह व्यवहारनय से विचारना चाहिए। निश्चयनय से आत्मा में भावों के भेद नही है। वह एक अखण्ड स्वतंत्र ज्ञाता दृष्टा अनुपम पदार्थ है। उसका स्वरूप ठीक ठीक जानने से आत्म-बोध होता है। यही आत्मध्यान सम्यग्दृष्टी का परम ध्येय होता है।

आत्मज्ञानी ही सर्व तरह से माननीय और पूज्य है। क्योंकि वह मोक्षमार्ग पर दृढ़ता से जमा रहता है। और निरन्तर भेदविज्ञान पूर्वक आत्मानुभव नहीं पाया उनको निर्मल सुख-शांति का लाभ नहीं होता है। जहाँ धर्मध्यान है वहाँ पर कर्मों की निर्जरा वीतरागता के प्रभाव से रहती है और सरागभाव से पुण्यकर्म का बंध होता है।

धर्मध्यानी आत्मानुभव के प्रताप से अपने आत्मा की निर्मलता करता है। और अनेक प्रकार के धर्म सम्बन्धी भावों की दृढ़ता से एक समान साम्यभाव में लाता है। यह बात स्वय सिद्ध है कि जैसा ध्यावे वैसा हो जावे। शुद्ध आत्मा के ध्यान से परमात्मा हो जाता है। ध्यान एकाग्रभाव को कहते हैं। अथवा आत्मज्ञान में स्थिर होना धर्म ध्यान है। धर्मध्यान में उत्तम क्षमा आदि दश धर्म गर्भित हैं। और भी सद्गुण धर्मध्यान से प्रकाशित रहते है। यह बात स्वयं सिद्ध है कि अपने ही आत्मानुभव से अपना लाभ होगा। आत्मानुभव एक ऐसी मीठी औषधि हैं कि जो भवरोग की व्यथा को दूर करती है। और आत्मा को पुष्ट करती है। धर्मध्यान में इसी प्रकार कष्ट का अनुभव नहीं होता। यही एक उत्तम तप है, जो भाव-निर्जरा रूप हैं और सर्व रागादिक भावों को मेटने वाला है। और उपादेय मोक्षतत्व का मूल कारण है। परम विवेकरूप है।

---

२३१. संयमासंयमविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार कर रहा है। संयमासंयम १८ भेद मिश्रभेदों में से अन्तिम भेद हैं यह भाव पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती श्रावकों के होता है। प्रत्याख्यानावरणी कषाय के उदय से श्रावकजन पूर्ण संयम को नहीं पाल सकते। एकदेश संयम को पालते हैं। इसलिए उनके भाव असंयम-मिश्रित संयमरूप होते हैं। यद्यपि वे पूर्ण संयम पालना चाहते हैं, परन्तु जब तक

आरम्भ परिग्रह का सम्बन्ध है तब तक आरम्भी हिंसा से निवृत्त नहीं हो सकते। कषाय के उदय से पूर्ण सयम के भाव नहीं होते हैं। यह भाव दर्शन प्रतिमा मे स्थूलरूप होता है। जैसे २ प्रतिमाये बढ़ती जाती हैं वैसे २ यह भावसयम की तरफ बढता जाता है, और असंयम से हटता रहता है। ११ वीं प्रतिमा उद्दिष्ट त्याग है, उसके बाद साधु का आचरण पूर्ण सयमरूप हो जाता है। श्रावक जैसे २ बाह्य चारित्ररूप बढाता जाता है वैसे २ अन्तरङ्ग में त्यागभाव बढ़ता जाता है, और आत्म सवेदन की उन्नति होती जाती है।क्योंकि मुख्य संयम अन्तरङ्ग में आत्मलीनता है।

इस तरह व्यवहारनय से विचार करके निश्चयनय से विचार करता है तो आत्मा मे स्वभाव से यह सयमासंयम भाव नही है। आत्मा सदाकाल अपने स्वरूप मे स्थिर रहने की अपेक्षा संयमरूप है। आत्मा एक स्वतत्र ज्ञातादृष्टा, अमूर्तिक, अविनाशी शुद्ध द्रव्य है। यह सर्व सांसारिक विकारो से शून्य है। यह स्फटिकमणि के समान ही निर्मल पदार्थ है।

जिसमे सर्व जाननेयोग्य विश्व के पदार्थ अपनी भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीन काल सम्बन्धी पर्यायों के साथ सदा झलकते रहते हैं, तो भी यह आत्मा किसी भी पर पदार्थ मे राग द्वेष, मोह नही करता है, अपने शुद्धोपयोग से सदा निर्विकल्प रहता है। जो कोई इसके आत्मतत्व को जानते हैं वही आत्मज्ञानी मोक्षमार्गी हैं। उनके अन्तरङ्ग मे सुखशांति का विलास रहता है, वे भले प्रकार अपने आत्मद्रव्य का आनद लेते रहते हैं, कर्मों के उदय में समभाव को अपना आभूषण बनाते हैं और शांतिमय पथपर चलते हुए ससार—सागर को पार करते जाते हैं, वे प्रफुल्लित कमल के समान विकसित रहते हैं। उन्हीं के अन्दर गुणस्थान की अपेक्षा उन्नति होती जाती है। वे कर्मों की निर्जरा करते हैं। यही मुख्य तप है, शुद्धभाव है। यह उनके भीतर चमकता रहता है। वे स्वानुभव में मग्न रहते हुए आत्मीक

शांतिमई अमृतरस का पान करते हैं और खुश होते जाते हैं। परतंत्रता को काटते जाते हैं और स्वतंत्रता की तरफ बढ़ते जाते हैं।

---

२३२. औदयिकगतिभावविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाशका उपाय विचार कर रहा है कि किस प्रकार औदयिक भावों मे ४ गति सम्बन्धी औदयिकभाव होते हैं। पंचमगति मोक्ष है, जो कर्मों के नाश से होती है। चारगति गतिनामा कर्म के उदय से होती हैं। जिस गति में जीव जाता है, उस गति में गति सम्बन्धी भाव उस जीव के होते हैं। नरक में क्रोध की तीव्रता, तिर्यचगति मे मायाचार की तीव्रता, मनुष्यगति में मानकी तीव्रता, देवगति में लोभ की तीव्रता रहती है। यद्यपि कषायों का उदय चारों गति में है, तथापि गति के अनुकूल भाव होते हैं। नरकगति मे आर्तरौद्रध्यान के भाव अधिक बने रहते हैं। परस्पर दुःख देने के भाव बड़े विकट होते हैं। इससे वे सदा आकुलित रहते हैं, दुःखके पाने का असह्य कष्ट भोगते हैं। नारकियों के कभी क्षणमात्र के लिये भी शान्ति नही मिलती। शारीरिक और मानसिक वेदनाओं से सदा पीड़ित रहते है। रौद्रध्यान के परिणामों से नरकगति प्राप्त होती है। वहां दीर्घकाल तक रहना पड़ता है। तिर्यंचगति में एकेन्द्रिय जीवों के अज्ञान सम्बन्धी और निर्बलता सम्बन्धी महान कष्ट रहता हैं। उनके कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्या सम्बन्धी भाव होते हैं। दो इन्द्री, तेइन्द्री, चोइन्द्री, असैनी पंचेन्द्री जीव मनरहित इन्द्रिय आधीन दुःखों से रातदिन संतप्त रहते हैं। वहाँ महान कष्ट, पराधीनता वश भोगते हैं। सैनोपचेन्द्रीतिर्यंचों के मन होता है। जिससे कि मन से तर्क वितर्क कर सकते हैं। उनके भी भाव अतिशय कुटिल रहते हैं। बहुत से क्रूर परिणामी जीव दुष्ट होते हैं। वे निरन्तर हिंसा में रत रहते हैं। इनके कृष्ण, नील, कापोत के सिवाय पीत, पद्म,

शुक्ल यह शुभ लेश्याएं भी हो सकती हैं। जिससे वे सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर सकते हैं। और श्रावक के व्रतों को भी पाल सकते हैं। मनुष्य गति में मन के द्वारा विचारशक्ति अधिक होती है, जिससे वे हर प्रकार की लौकिक और परलौकिक उन्नति कर सकते हैं। और योग्य कार्य में ध्यानादिक करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। यह गति इस अपेक्षा से सब गतियों में श्रेष्ठ है।

देवगति में पुण्य के फल से देवगति सम्बन्धी भोग करते हैं। उनके पहले चार गुणस्थान सम्बन्धी भाव हो सकते हैं। वे जिनेन्द्र की भक्ति अपने विमानों के मन्दिरों में करते रहते हैं। उनके पर्याप्त अवस्था में पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्यायें होती है। मध्यलोक मे तीर्थंकरों के कल्याणकों मे वह और अन्य अवसरो मे भक्ति करने आते रहते हैं। इस प्रकार गति सम्बन्धी औदयिक भाव होते हैं।

निश्चयनय से विचार किया जावे तो आत्मा चारों गति संबंधी प्रपंच से रहित है। यह आत्मा शुद्ध, अमूर्तीक, ज्ञाता, दृष्टा, पदार्थ है इसमें किसी प्रकार का विकार नही है यह अपने स्वरूप में सदा तन्मय रहता है। आत्मा का स्वभाव ही परम निराकुलता सहित वीतराग है। यह अपने स्वरूप में ऐसा गुप्त रहता है कि किसी प्रकार के विभाव इसमें नहीं होते हैं। कर्मों का बंध नहीं होता। आत्मज्ञानी मोक्षमार्ग पर चलने वाले होते हैं, वे हमेशा परतन्त्रताकारक कर्मों की बेड़ी काटते रहते हैं। उनके भीतर शुद्धोपयोग रमण करता है। इससे वह स्वतन्त्रता की ओर बढ़ते हैं। उनका यह भाव निर्जरा रूप है।

---

२३३. कषायविचय–धर्मध्यान, निर्जरातत्व

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है। औदयिक भावों में चार कषाय भी हैं। जो आत्मा के भावो को कलुषित करे

उसे कषाय कहते हैं। मुख्य चार भेद हैं--क्रोध, मान, माया, लोभ। इन्हीं की कलुषता से पाप पुण्य कर्मों का बंध होता है। मंद कषाय से शुभ भाव होते हैं। तीव्र कषाय से अशुभ भाव होते हैं। शुभ भाव से अघातिया कर्मों को पुण्य प्रकृतियों का बंध होता है। अशुभ भावों से पाप प्रकृतियों का बन्ध होता है। सातावेदनीय, शुभआयु, शुभनाम, उच्चगोत्र पुण्य प्रकृतियां हैं असातावेदनी, अशुभ आयु, अशुभ-नाम, नीचगोत्र पाप प्रकृतियां हैं। चार घातिया कर्मों का बन्ध कषाय के उदय मे बराबर होता रहता है, शुभ भावों के होने पर घातिया कर्मों में और अघातिया पाप प्रकृतियों मे स्थिति अनुभाग कम पड़ता जाता है।

अशुभ भावों से घातिया कर्मों में और अघातिया पाप प्रकृतियों में स्थिति अनुभाग अधिक पड़ते हैं। इन कषायों के २६ भेद हैं—अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ जो सम्यग्दर्शन और स्वरूपा-चरण चारित्र को घातते हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ जो एकदेश चारित्र को घातते हैं। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और नौ प्रकार को नोकषाय हास्य, रति, अरति. शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री; पुरुष, नपुंसक वेद, यथाख्यात चारित्र को घातते हैं। कषायों के अंश दो प्रकार के होते हैं, स्थिति अध्यवसाय जो कर्मों की स्थिति बांधते है। अनुभाग अध्यवसाय जो कर्मों मे तीव्र या मन्द रस डालते हैं। कषायों का बन्ध नौवें अनुवृत्तिकरण गुणस्थान तक रहता है और उसका उदय दसवें सूक्ष्म लोभ गुणस्थान तक रहता है। उसी गुणस्थान तक छह कर्मों का बंध होता है।

मोहनीय और आयुकर्म का बन्ध नहीं होता। आयु का बन्ध सातवें गुणस्थान तक होता है। मोहनीकर्म का बन्ध नौवें गुणस्थान तक होता है। कषाय ही संसार--भ्रमण का मुख्य कारण है। इस तरह व्यवहारनय से कषायों का विचार करके निश्चयनयसे विचार करने से आत्मा में कषायों का उदय नहीं है। आत्मा सदा ही कषाय रहित

वीतराग विज्ञानमय है। आत्मा एक अमूर्तीक अविनाशी स्वतन्त्र पदार्थ है। इसमें किसी प्रकार के विकार नहीं हैं। यह असंख्यात प्रदेशी एक अनुपम चैतन्य शक्ति का सागर अतीन्द्रियसुख से पूर्ण है। हर एक आत्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न है तथापि स्वभाव से सब समान हैं। आत्मज्ञान का लाभ जिनको होता है वही समझ सकते हैं। वह सम्यग्दृष्टी मोक्षमार्गी है और आत्मानुभव को प्राप्त करके सुखशांति का अनुभव करते हैं। कर्म की परतन्त्रता मेटने का यही उपादान कारण है। आत्मा आप ही अपने लिये जहाजरूप है स्वतन्त्र होने में यही कारण है।

---

२३४. लिंगऔदयिकभावविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है कि किस प्रकार औदयिक भाव में तीन लिंग भी हैं। भाव भेद तीन प्रकार हैं-- स्त्री-पुरुष नपुंसक। इन्ही को भावलिंग कहते हैं। स्त्रीवेद के उदय से पुरुष की कामना होती है। पुवेद के कारण स्त्री की कामना होती है। नपुंसक वेद के कारण स्त्री-पुरुष दोनों की कामना होती है। देवगति में स्त्री पुरुष के भेद दो प्रकार हैं, और जैसा भाववेद का उदय होता है वैसा ही द्रव्यलिंग का होता है। नरकगतिमे और सन्मूर्च्छन तियंचों में नपुंसक वेद का उदय होता है। भोगभूमि में स्त्री पुरुष दो भाववेद होते हैं। और द्रव्यलिंगी भी वैसा ही होता है। कर्मभूमि के गर्भज्ञ मनुष्य और तिर्यंचों के तीनों ही भाव वेद होते हैं, और द्रव्यलिंग स्त्री पुरुष नपुंसक तीनों होने पर भी भावलिंग हरएक के तीनों हो सकते हैं। वेद का उदय ९वें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक रहता है। परंतु भाव में कामविकार की सम्भावना छठे प्रमत्तगुणस्थान तक रहती है। वेद के उदय के होने वाले भाव को निरोध करना ज्ञानी जीव का कर्तव्य है। अणुव्रती श्रावक स्वदारसन्तोषी होते हैं। महाव्रती पूर्ण ब्रह्मचर्य को पालते हैं। भाव बाह्य निमित्तों के अधीन होते हैं।

इसलिये ज्ञानी जीव निमित्तों का ध्यान रखते हुए वर्तन करते हैं। आत्मा का स्वभाव भाववेद से रहित है, पूर्ण ब्रह्मभाव को रखने वाला है। निश्चय से आत्मा परम शुद्ध ज्ञातादृष्टा अविनाशी एक स्वतंत्र पदार्थ है। यह परम वीतराग ज्ञातादृष्टा है। इसमें ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म और रागादिक भावकर्म का कोई सम्बन्ध नही है। यह अपने असंख्यात प्रदेशों को परम शुद्ध रखता है। इसमें शुद्ध दर्पण के समान परम निर्मलता है। इसके ज्ञान में सब ज्ञेय पदार्थ झलकते हैं, तोभी कोई विकार नहीं होता है।

वह अपने शुद्ध भाव में निःशंकित और निष्कम्प अचल रहता है। इसमें पर पदार्थ का प्रवेश नही होता। यह सबसे जुदा अपने स्वरूप को भोगने वाला है और सुख शांति का सागर है। आत्मज्ञान के सिवाय कोई स्वतन्त्रता का मार्ग नहीं है। मोक्षमार्गी आत्मज्ञान के द्वारा आत्मानुभव की प्राप्ति करते हैं और अपने आत्मा को शुद्ध करते जाते हैं। यही सार तत्त्व है, ज्ञानियों के द्वारा सदा ही बन्दनीय है, और मननीय है। यही परमरत्न है। इससे आत्मा की शोभा है। आत्मज्ञान के लाभ होने पर नर्क मे रहना भी अच्छा है, किन्तु स्वर्ग में रहना आत्मज्ञान के बिना अच्छा नही है। आत्मीक रस एक अद्भुत अमृत है। इससे परम तृप्ति होती है। और हरएक अवस्था में परम धैर्य का लाभ होता है। यही जीवन का रसायन है। इसके रसीले सदा ही इसके रसका पान करते हैं। मोक्षमार्ग के लिये उत्सुक वीरों का यह तीव्र शस्त्र है और शान्त चित्त वालों का यही एक आभूषण है।

---

२३५. मिथ्यादर्शनविचयधर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है। मिथ्यादर्शन औदयिक भाव है, जिसके उदय से सम्यग्दर्शन नहीं होता है। मिथ्यादर्शन आत्मविश्वास के अभाव को कहते हैं। मिथ्यादर्शन एक

प्रकार है। तो भी कारण की अपेक्षा ५ भेद हैं—एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान, विनय। वस्तु में अनेक धर्म होते हैं। उनमें से एक ही धर्म को मानना अन्य को न मानना एकांत मिथ्यात्व है। वस्तु द्रव्य अपेक्षा नित्य है, पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। वस्तु गुण समुदाय की अपेक्षा एकरूप है। परन्तु अनेक गुण की अपेक्षा अनेक रूप है। वस्तु अपने स्वरूप की अपेक्षा अस्ति रूप है, परस्वरूप की अपेक्षा नास्ति-रूप है। ऐसा अनेकांत वस्तु स्वरूप होने पर भी न मानकर एकरूप ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

विपरीत मिथ्यात्व वह है जो अधर्म को धर्म मान ले, हिंसादि पंच पापों को शुभ फलदायक मान ले। संशय मिथ्यात्व वह है कि कई कोटियाँ उठाकर किसी का भी निर्णय न करना। अज्ञान मिथ्यात्व वह है कि किसी तत्व का निश्चय करने के लिये आलसी रहना, मूढ़ता से देखादेखी धर्म को मानना। विनय मिथ्यात्व वह है—जो किसी तत्व का निश्चय न करके सभी प्रचलित धर्मों मे आदर करना, आत्मा का सच्चाहित न विचारना।

इस प्रकार मिथ्यादर्शन के कारण यह जीव तत्व का निश्चय नहीं कर पाता और विषय कषाय जिनसे पुष्ट हो, उन्ही धर्म-क्रियाओं को मानने लगता है या संसार मे पूर्ण आसक्ति रखता है। अपना आत्महित नही कर पाता, और देह मे आत्मबुद्धि करता है। अपने स्वार्थ के लिए पर के साथ अहित करता है और ससार के कार्यों में रंजायमान रहता है। कुदेव, कुगुरु, कुधर्म की प्रशसा भक्ति करता है।

व्यवहारनय से इस प्रकार विचार करके मिथ्यात्व के समान कोई वैरी नही है। निश्चयनय से विचारता है तो आत्मा में मिथ्यात्व का कोई सस्कार नही है। आत्मा सदा ही स्वभाव में तन्मय रहता हुआ अपने गुणों में परम शुद्धता रखता हुआ परवस्तु के ससर्ग से सदा ही भिन्न रहता है। और वीतराग विज्ञान स्वभाव में तल्लीन रहता

है। कोई प्रकार कर्म नोकर्म का संसर्ग नहीं रखता है। अपने ज्ञान स्वभाव में सदा ही तिष्ठता हुआ सर्व जानने योग्य ज्ञेय को एक समय में जानता है और निर्विकार रहता है। परस्वरूप परिणमन नहीं करता है। परम सुखसागर में मगन रहता है। आत्मा का तत्व परम गम्भीर है और जो आत्मतत्व को अनुभव करता है वही सम्यग्ज्ञानी है। वह अपनी आत्म उन्नति करता रहता है। कर्म से शुद्धता की ओर बढ़ता रहे तो अपने जीवन को स्वतंत्र और सुखी बनाता है।

आत्मानुभव ही स्वतन्त्र होने का उपाय है। यही मोक्षमार्ग है, रत्नत्रय स्वरूप है, सर्व आकुलता से रहित है, यही ज्ञानियों का आभूषण है।

———

२३६. अज्ञानभावविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश क. उपाय विचारता है कि किस प्रकार औदयिक भावों में अज्ञान भाव भी है। ज्ञानावरणीय कर्मों के उदय से यह अ ान भाव जहाँ तक केवलज्ञान न हो वहाँ तक रहता है। मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान तक पाया जाता है। इस कारण अनंतज्ञेय पदार्थों का त्रिकालवर्ती ज्ञान नहीं हो पाता है। अज्ञानभाव के कारण एकेन्द्री आदि जीव अपनी इन्द्रियों से बहुत थोड़ा जानते हैं। जितना ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है उतना ज्ञान प्रगट होता है। अज्ञान के कारण मिथ्यादृष्टी जीव तत्वज्ञान को नहीं पा सकते हैं और इसलिए आत्मकल्याण नही कर सकते। अज्ञानभाव अन्धकारमय है। जिसके अन्धेरे में पदार्थों का सच्चा स्वरूप नही जान पड़ता है। अज्ञानभाव के कारण लौकिक और पारलौकिक कार्य बहुधा असफल होते हैं।

जैसे अज्ञानी मनुष्य किसी यंत्र के चलाने की विधि न जानकर यंत्र को चला नहीं सकता, वैसे ही अज्ञानी जीव धर्म, अर्थ और काम

पुरुषार्थ को साधन नहीं कर सकता है और कार्यों को बिगाड़ डालता है। धर्म पुरुषार्थ के लिए ज्ञान का पाना बहुत आवश्यक है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा, मोक्ष, यह सात तत्व और पुण्य पाप को लेकर नौ पदार्थ हैं, इनका ज्ञान होना जरूरी है, जिससे यह आत्मा अपने स्वरूप को जान सके, कर्मों के बंधन को काटने का उपाय कर सके। इसलिये तत्वज्ञान के देने वाले शास्त्रों का अच्छी प्रकार पठनपाठन करना चाहिये। ज्ञान के साधन से ज्ञान की वृद्धि होती है। श्रुतज्ञान केवलज्ञान का कारण है। द्वादशाग वाणी का सार आत्म-ध्यान है। आत्मध्यान के द्वारा आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा-नुभव मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनो गर्भित है।

आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। आत्मा के स्वरूप मे लीनता सम्यक्चारित्र है। ज्ञान के साधन के लिए जैन शास्त्रो का स्वाध्याय पाँच प्रकार करना चाहिए। शास्त्रों को पढ़ना और सुनना। प्रश्न करके शकाओ को निवारण करना। बारम्बार शास्त्रो के अर्थ का बिचार करना। शुद्धता के साथ शास्त्रों को कण्ठस्थ करना और जाने हुये धर्म का उपदेश देना। अज्ञान के नाश के समान जोव का कोई हित नही है। अज्ञान बड़ा भारी अंधकार है। ज्ञान सूर्य के प्रकाश होने पर यह दूर होता है। ज्ञान के समान कोई दान नही है। जगत के प्राणियो को सम्यग्ज्ञान का दान करके अज्ञान को मेटना चाहिये।

अज्ञान को रात्रि मे जगत सो रहा है। अपने सच्चे हित को भूले हुये है। अज्ञान की शय्या पर सोने वालो को जगाना चाहिये। अज्ञान के समान कोई बैरी नही है। ज्ञान के समान कोई मित्र नहीं है। अज्ञान का उदय राहु के विमान के समान है। अज्ञान का परदा हटने से ज्ञान भानु का प्रकाश होता है। निश्चयनय से बिचार किया जावे तो अज्ञान का नाम तक आत्मा में नही है।

आत्मा ज्ञाता, दृष्टा, अमूर्तिक, अविनाशी, परम वीतराग स्वतंत्र पदार्थ है। आत्मा का अनुभव अमृत रसायन है। जो उसको पान करते हैं अमर हो जाते हैं। सब ही महात्मा लोग इस अमृत का पान करते हैं। इसी सुख शांति का स्वाद आता है। आत्मानुभव ही स्वतंत्रता के पाने का उपाय है। यही भावनिर्जरा है, यही सार तत्व है, ज्ञानियों को मंगलदायक है।

---

२३७. असंयतभावविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार करता है। औदयिक भाव में असंयत भाव भी गर्भित है। जहाँ तक अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता है वहाँ तक असंयत भाव बना रहता है, संयम लेने के भाव का न होना असंयत भाव है। असंयमी प्राणी, हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म, परिग्रह इन पाच प्रकार के पापो से विरक्त नही होता है। पाँचो इन्द्रियो को वश मे नही रखता है। पृथ्वी आदिक छः प्रकार के प्राणियो की दया नही पालता है। वह असयत भाव मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर अव्रत सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान तक रहता है। एकेंद्रियादिक प्राणी असैनी पचेन्द्रिय पर्यन्त सब असयमी होते हैं। असयत भाव पाचवे देशव्रत गुणस्थान मे एकदेश छूट जाता है। छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में बिलकुल नहीं रहता। असंयमी प्राणी विवेकपूर्वक वर्तन नही करता है। स्वार्थ के लिये हिंसादि पापो को स्वच्छन्दता से करता है। नरक, तिर्यंच, देव मनुष्य चारो गतियो में भ्रमण करता है। जब कि सयमी प्राणी देवगति के सिवाय और गति में नहीं गमन करता है, अथवा मुक्त हो जाता है। असयत भाव निर्दयता का प्रचार करने वाला है और ससार के क्लेशों का मूल है। संयमभाव परम मर्यादा में प्राणी को रखने वाला है। असंयम भाव से अपनी हानि यह होती है कि कषायो की वृद्धि हो जाती है और दूसरे प्राणियों को हानि पहुंचती है। असंयम भाव संसार-भ्रमण का कारण है।

असंयम से मन, वचन, काय चंचल होते हैं। असंयम भाव जीवन को पतित करने वाला है। संयम भाव जीवन को उच्च बनाने वाला है। असंयम भाव आकुलता का कारण है, बहुत आरम्भ व बहुत परिग्रह का हेतु है। असंयम भाव से तृष्णा का समुद्र बढ़ जाता है, विनय का ह्रास हो जाता है।

असंयम से मायाकार की वृद्धि हो जाती है। असंयम भाव संतोष को नही आने देता है। असंयम भाव कर्मबंध का कारण है, राग-द्वेष को बढ़ाने वाला है। असयमभाव द्यूतरमण आदि सप्तव्यसनों का कारण है। असयमभाव जगत मे अनीति को विस्तारने वाला है। सयमभाव नीति और धर्म को पुष्ट करता है। असंयमभाव दुर्गति का कारण है। असंयमभाव प्राणी को उत्तम पुरुषार्थ के साधन में सफल नही होने देता। निश्चयनय से आत्मा का कोई असयमभाव नही है।

आत्मा स्वभाव से परम संयमी ज्ञातादृष्टा अनन्त शक्ति का धारी है। आत्मा स्वय एक दृढ़ किला है, जिसमें परवस्तु का प्रवेश नही हो सकता। आत्मा सुख-शाति का भडार है। परम अनुपम पदार्थ है। आत्मज्ञान ही परम धर्म है। इसी के द्वारा आत्मानुभव होता है जिससे पाप को दग्ध करने वाली ध्यान की अग्नि प्रज्वलित होती है, यही भावनिर्जरा है, जो आत्मीक स्वतंत्रता का कारण है।

---

२३८. असिद्धत्वविचयधर्मध्यान—निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है। ससार में जब तक जीव पाप पुण्य कर्मों से बंधा हुआ भ्रमण किया करता है, तब तक इसके असिद्धत्व भाव पाया जाता है। पूर्ण शुद्ध अवस्था को जब, आत्मा प्राप्त कर लेता है, तब वह आत्मा सिद्ध कहलाता है। अर्थात् असिद्धत्व भाव का नाश हो जाता है। सिद्धत्व भाव मे आत्मा पूर्ण स्वतन्त्र और सुखी रहता है। किसी प्रकार की चिन्तायें बिल्कुल

नहीं करती हैं। अनन्तकाल तक सिद्धत्व भाव का उदय सदा काल बना रहता है। निकटभव्यजीव कर्मों के नाश कर लेने पर असिद्धत्व भाव का उच्छेद कर डालते हैं। असिद्धत्व भाव का उदय जब तक रहता है तब तक यह जीव पूर्ण निराकुल सुख को प्राप्त नहीं करता। और कर्मों के बंधन के अनुसार देव मनुष्य तिर्यंच नरक गतियों में नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेकर संसार के सुख दुख भोगा करता है। यह असिद्धत्व भाव अनादिकाल से संसार की परिपाटी चला करती है।

हर एक ज्ञानी जीव को उचित है कि असिद्धत्वभाव के नाश करने का प्रयत्न करे। क्योंकि जब तक इसका उदय है तब तक परतंत्रता का नाश नहीं हो सकता। सिद्धत्वभाव मे अनन्त काल तक परिपूर्णता रहती है। सिद्ध भगवान अपने स्वरूप मे तन्मय होते हुये आनन्द अमृत का सदा पान करते रहते हैं। और परम निर्भय रहते हुए सर्व संसारी दुखों से छूटे रहते हैं। सिद्धत्वभाव प्राप्त करने का उपाय अपने ही शुद्ध आत्मा का अनुभव है। भव्यजीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके भेदविज्ञानपूर्वक जब आत्मा का अनुभव करते हैं तब स्वानुभव या आत्मध्यान प्राप्त कर लेते हैं। इसी स्वानुभव के अभ्यास से कर्मों के आवरण का नाश होता है और वह भव्यजीव गुणस्थानों की श्रेणी पर चढ़ता हुआ तेरहवें सयोगकेवली गुणस्थान से अरहन्त परमात्मा हो जाता है। फिर चौदहवें गुणस्थान को स्पर्श करके सर्व प्रकार शरीरों से रहित सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

आत्मा का अनुभव ही सिद्धपद का साधक है। इसका अभ्यास चिरकाल तक करना चाहिए। बड़े-बड़े योगी ऋषीश्वर इसी स्वानुभव के मार्ग से सिद्धपद को पहुंचे हैं और आगामी पहुंचेंगे। सिद्धों का आकार मूर्तिक नही है तो भी अन्तिम शरीर से कुछ कम आत्मा के प्रदेशों का आकार रहता है। एक सिद्ध जहाँ विराजमान हैं, अनन्त सिद्ध वहाँ अवकाश पा सकते हैं तो भी परस्पर नहीं मिलते। सिद्धों

में आठ गुण प्रसिद्ध हैं—सम्यग्दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-वीर्य, अगुरुलघु, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मभाव। सिद्ध भगवान इन्द्रियों से और मन से अगोचर हैं। जो स्वात्मानुभव करता है, उसको सिद्ध स्वरूप की झलक आ जाती है। असिद्धत्व का नाश का उपाय अपने स्वरूप का आचरण है। इसको प्राप्त करने का उपाय अपने स्वरूप का ज्ञान है। ज्ञान से ही ध्यान होता है। ध्यान ही स्वतन्त्रता पाने का मार्ग है।

---

२३६. लेश्याविचय–धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है। २१ प्रकार औदयिक भावो में छः लेश्याये भी हैं। यह लेश्याये ससारी जीवो के शुभ अशुभ उपयोगों के दृष्टान्त है। इसी से इनको भावलेश्या कहते हैं। शरीर के रंगों को द्रव्यलेश्या कहते हैं। यहाँ भावलेश्या मुख्य है। इन्हीं से कर्मों का आस्रव होता है। लेश्याये छह हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पोत, पद्म, शुक्ल। इनमे से पहिली तीन लेश्याये अशुभ हैं, शेष तीन शुभ हैं। कृष्ण लेश्या अशुभतम है। नीललेश्या अशुभतर है। कापोतलेश्या अशुभ है, पीतलेश्या शुभ है, पद्मलेश्या शुभतर है, शुक्ल-लेश्या शुभतम है। कृष्णलेश्या मे कषायो की बहुत तीव्रता होती है। नीललेश्या में उतनी तीव्रता नहीं होती। कापोतलेश्या में कषायो की तीव्रता पहिले की अपेक्षा कम होती है। पीतलेश्या में मंद कषाय होने से पर के साथ उपकारभाव होता है। पद्मलेश्या में अपनी हानि सहन करके भी पर के साथ उपकार करने का भाव होता है। शुक्ललेश्या में वैराग्यभाव होता है। कषाय और योगों की चचलता से लेश्याये होती हैं। छह लेश्याओं का एक दृष्टात है।

जंगल में छह आदमी छह लेश्या के धारी चले जा रहे हैं। दूर से एक आम्रवृक्ष देखकर प्रत्येक के भिन्न भाव हुए। कृष्णलेश्या वाला चाहता है कि इस वृक्ष को जड़मूल से काटकर आम लेकर तृष्णा पूरी

की जाय। नीललेश्या वाला विचारता है कि सिर्फ तना काट लिया जावे। कापोतलेश्याधारी यह विचारता है कि आम्रशाखायें केवल तोड़ ली जावे। पीतलेश्या वाला विचारता है कि वृक्षों के कच्चे-पक्के आम तोड़ लिये जावें। शुक्ललेश्या वाला परम सन्तोषधारी विचारता है कि जमीन पर पड़े हुए पक्के आम चुन लिए जावें। लेश्याओं के मध्यम अंशों से आयु कर्म का बंध होता है।

प्रत्येक लेश्या के उत्कृष्ट मध्यम जघन्य इस प्रकार तीन भेद से कुल १८ भेद होते हैं। लेश्याओं के अनुसार जीव चार गतियों मे जाता है। नरक में तीन अशुभ लेश्याये होती हैं। तिर्यंचों में चौइन्द्री तक भी तीन अशुभ लेश्याये होती हैं। असैनी पचेन्द्रिय के पीतलेश्या को लेकर चार तक हो सकती हैं। सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचो में और मनुष्यों मे छहो लेश्यायें होती है। देवों के और भोगभूमियों के तीन शुभ लेश्यायें होती हैं। भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिषी जाति के देवों में अपर्याप्त अवस्था मे अशुभ लेश्याये होती हैं। चौथे गुणस्थान तक छहो लेश्यायें होती है। ५वे से ७वे गुणस्थान तक पीत शुक्ल लेश्या होती है। ८वे से १३वे गुणस्थान तक शुक्ललेश्या होती है। ११वें १२वे गुणस्थान मे कषाय के न होने पर भी योग को चचलता से शुक्ललेश्या होती है। १४वें गुणस्थान मे लेश्या नही होती। तब अरहंत परमात्मा सिद्धगति को पाते है। पुण्य पाप का लेप लेश्याओं से होता है। लेश्या आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा लेश्या रहित परम शुद्ध निर्विकार ज्ञाता दृष्टा स्वतन्त्र पदार्थ है। पूर्ण सुख-शांति का सागर है। जो आत्मा को समझकर उसमें तल्लीन हो जाते हैं वही आत्मज्ञानी मोक्षमार्गी है। वे ही आत्मानुभव कर सकते हैं और वीत-रागभाव से कर्म की निर्जरा करते है। यही भावनिर्जरा है। इसी का साधन करना चाहिये, तब लेश्या रहित अवस्था प्राप्त हो सकेगी।

---

२४०. जीवत्वभावविचय–धर्मध्यान निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है। तीन प्रकार पारिणामिक भावों में प्रथम भाव जीवत्व है। ये भाव हरएक जीवका स्वभाव है! हरएक जोव में जीवत्व सामान्यभाव है। प्रत्येक जीव स्वभाव से समान है। चेतना ज्ञान दर्शन सुख वीर्य यह विशेष गुण हरएक जीव में पाये जाते हैं। चेतना से प्रयोजन ज्ञानचेतना से है। प्रत्येय जीव स्वभाव से अपने ज्ञान में स्वभाव का अनुभव करता है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का नही। रागद्वेषपूर्वक मन, वचन, काय से काम करना और उसका अनुभव करना कर्मचेतना है, जो कि संसारी जीवों में पाई जाती है, मुख्यता से त्रस जीवों में पाई जाती है। सुख दु:ख का अनुभव करना कर्मफल चेतना है। यह भी संसारी प्राणियो में पाई जाती है। मुख्यता से एकेन्द्री जीवो में होती है। ज्ञान-गुण से प्रयोजन सपूर्ण जानने योग्य पदार्थों का ज्ञान है। संसारी जीवों मे ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान कम व अधिक पाया जाता है। इसलिये ज्ञान के आठ भेद हो गए हैं। मति श्रुत अवधि मन:पर्यय और केवल, कुमति, कुश्रुत, कुअवधि। दर्शनगुण से जीव संपूर्ण पदार्थों को सामान्य ग्रहण करता है। ससारी जीवों में दर्शनगुण कम या अधिक पाया जाता है। इसलिये दर्शन के चार भेद हो गये हैं—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल। आत्मा में अनन्त वीर्य है, जिससे किसी प्रकार की स्वाभाविक निर्बलता नही है। संसारी जीवों में अन्तराय कर्म के क्षयोपशम होने के अनुसार वीर्य कम व अधिक पाया जाता है। आनन्द गुण भी आत्मा में स्वभाव से पाया जाता है। इससे स्वभाव में स्थिरता होने से सुख का अनुभव होता है। संसारी जीवों में सुख गुण का प्रकाश मोहनीय कर्म के उदय से इन्द्रिय सुख व दुख रुप कम व अधिक पाया जाता है। परन्तु सम्यग्दृष्टी जीवों में सम्यक्त्व के प्रभाव से सच्चे सुखका अनुभव होता है।

जीवत्वभाव जीवका निजधर्म है। यही वस्तु स्वभाव है। संसारी जीवों में जीवत्व भाव मे आवरण है। जब तक कर्मों का आवरण नहीं हटे तब तक शुद्ध जीवत्व प्रगट नहीं होता। इसके लिये जीवत्व भाव को लक्ष्य में लेकर उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करना चाहिये। जीवत्व को लक्ष्य में लेकर उसी का ध्यान मनन करना चाहिये। तब आत्मज्ञान के प्रताप से आत्मा का अनुभव प्रगट होगा। अनुभव ही ध्यान की अग्नि है, जो कर्म ईंधन जलाती है। आत्मानुभव मे सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों गर्भित हैं। ध्येय के-ध्याने से ध्यान की सिद्धि होती है। जो कोई आत्मतत्व को कर्म नोकर्म आदि से भिन्न जानता है और उसी का मनन करता है, उसके भीतर आत्मजाग्रति से सुख शांति का स्वाद आता है।

यही धर्म है, क्योंकि यही जीवको अपने जीवन में पहुंचा देता है। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी महात्मा इसी तत्व को मनन करते हैं। और अपना सच्चा हित संपादन करते है। व्यवहार-चारित्र निमित्त कारण है। निश्चय-चारित्र साक्षात् उपादान कारण है। आत्माका अनुभव ही निश्चयचारित्र है। तीर्थकरादि महापुरुष भी इसी तत्व का ध्यान करते हैं। जहाँ आत्मानुभव है, वहां सपूर्ण धर्म के अंग हैं, वही यथार्थ में वीतरागता प्रगट होती है, रागद्वेषादि कषायभाव का क्षय होता है।

चौथे गुणस्थान अविरतसम्यग्दर्शन में आत्मानुभव दोजके चंद्रमा के समान होता है। यही बढ़ते-बढ़ते तेरहवें गुणस्थान में पूर्णमासी के चन्द्रमा समान हो जाता है। यही परतन्त्रता का नाशक और स्वतन्त्रता का उपाय है। गृहस्थ या साधु हरएक को उचित है कि जीवत्व गुण को प्रगट करने के लिये हरएक धार्मिक आचरण में इस तत्व पर दृष्टि रक्खे।

---

२४१. भव्यत्वभावविचय–धर्मध्यान निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मोंके नाशका उपाय विचारता है। तीन प्रकार के पारिणामिक भावो में भव्यत्व भाव भी है। निश्चय से तो एक अकेला जीवत्व भाव ही है। व्यवहारनय से जिन जीवों के भीतर सम्यक्त्व भाव तथा मोक्ष प्राप्ति की योग्यता है उनके लिये भव्यत्व कहा गया है। भव्यत्व भाव के होते हुए योग्य निमित्तों के मिलने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। निकटभव्य जीव को आगम के अभ्यास से तथा पर के उपदेश से या स्वभाव से आत्मतत्व का यथार्थ बोध हो जाता है। तब संसार शरीर और भोगों से वैराग्य भाव हो जाते हैं। और निज स्वरूप की प्राप्ति की रुचि प्राप्त हो जाती है। तब वह भव्य जीव मोक्षमार्ग के लिये उद्योग करता है, स्वात्मानुभव के लिये प्रयत्नशील हो जाता है और अपनी शक्ति तथा समयानुसार भेदविज्ञान द्वारा आत्म चिन्तवन करता है और सम्यक्त्व के आठ लक्षणो को प्रकाशित करता है। सवेग भाव से आत्म धर्म में प्रेमभाव रखता है। और इसीलिये जो सच्चे आत्मज्ञानी हैं उनसे प्रेमभाव रखता है। निर्वेद भाव मे सर्व पर पदार्थों से वैराग्य भाव रखता है। निन्दा और गर्हा-भाव में अपने दोषो का विचार मनसे बचन से करता है। और उनके दूर करने की भावना करता है। उपशम भाव में अरहत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु इन पांच परमेष्ठियो की आराधना करता है। वात्सल्य भाव में धर्मात्माओं से अत्यन्त धर्मप्रेम रखता है और अनुकम्पा भाव में प्राणीमात्र की दया करके उनके दुःखों के निवारण का उद्यम करता है।

निश्चय से वह अपने आत्मा से परम प्रेमभाव रखता है। अपने आत्मा को सर्व प्रकार के कलुषित भाव से बचाता है। भव्यजीव सच्ची आत्मा के बल से आपत्तियों के आने पर भी अपने सिद्धांत से च्युत नही होता। भव्यत्वभाव का प्रकाश अविरत सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में प्रारम्भ होता है और सिद्ध होने तक अपना प्रकाश बढ़ाता जाता है।

भव्यत्व भाव जहां प्रगट होता है वहाँ भवजाल से छूटने की कुंजी हाथ में आ जाती है। निश्चयनय से भव्यत्व भाव का कोई कथन या विकल्प नहीं हो सकता। आत्मा अपने शुद्ध जीवत्व भाव में विराजमान रहता है और अपने अभेद स्वभाव से अपने को ऐसा दृढ़ रखता है कि कोई परका प्रवेश न हो सके। निश्चय से यह आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्षादि तत्वों से परे हैं। यह अपने स्वरूप के स्वाद में मगन रहता है। और स्वतन्त्रता से अपने में शोभायमान होता है। निश्चय के जो ज्ञाता हैं वे ही सम्यग्दृष्टो ज्ञानी और महात्मा हैं। वे ही निश्चय तत्व को जानकर तत्व का अनुभव करते हैं और परम संतोषित रहते हैं।

---

२४२. अभव्यत्वभावविचय–धर्मध्यान निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचार करता है। व्यवहारनय से तीन प्रकार पारिणामिक भावो मे अभव्यत्व भाव को भो लिया गया है। सर्वज्ञ के ज्ञान में झलका है कि इस लोक में कितने ही जीव ऐसे हैं कि जिनमें सम्यग्दर्शन की योग्यता नही है। ऐसे जोवों मे अभव्यत्व भाव पाया जाता है। अभव्य जोव यद्यपि यहा तक उन्नति करता है कि प्रायोग्यलब्धि को प्राप्त करले तथा नव ग्रैवेयिक तक चला जाय, परन्तु मिथ्यात्व कर्मका उपशम नहीं कर सकता, न अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय को मिटा सकता है। इसलिये उसको सत्यरूप में आत्मतत्व का बोध नहीं होता। ऐसा सूक्ष्म मिथ्यात्व भाव है कि उसके अन्तरङ्ग से नहीं जाता। वह बाह्य में साधु व श्रावक के आत्म-चारित्र को ठीक-ठीक पालता है, भव्यजीव जैसा आचरण करता है, परन्तु परिणामों में आत्मानुभव को नहीं प्राप्त कर सकता। अभव्यत्व भाव के कारण उसकी दृष्टि सूक्ष्म आत्म-तत्व पर नहीं जाती। अभव्य जोव मन्द कषाय से पुण्य कर्म को बांध लेता है। और उसके फल से

यथासम्भव सांसारिक साताकारी सम्बन्धों को पाता है, परन्तु संसार से पार होने का अवसर नहीं पाता है। निश्चयनय से अभव्यत्व भाव जीव में नहीं है। जीव जीवत्व भाव को रखनेवाला है। जीव का स्वभाव ज्ञाता दृष्टा परम वीतराग शुद्ध है।

इसमें कोई कर्म या नोकर्म का सम्बन्ध नहीं है। यह अपनी सत्ता भिन्न रखता है। इस जीव में कोई संकल्प विकल्प नहीं होता। यह जीव अनादिकाल से अपने स्वभाव में स्थित है। इसके भीतर मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान तथा गति इन्द्रिय आदि १४ मार्गणायें नहीं हैं। न इसमें एकेन्द्रिय द्विइन्द्रिय आदि १४ जीवसमास हैं, न इनमें क्रोधादि चार कषाय, न हास्यादि नोकषाय हैं। न इनमें कर्मों के बंध स्थान हैं, न उदयस्थान हैं। न स्थितिबन्ध अध्यवसाय स्थान हैं। तथा न कोई अनुभाग स्थान हैं। न योग स्थान हैं न कोई संयम लब्धि स्थान है। न कोई कर्म निर्जरा स्थान हैं। न कोई वर्ण हैं न वर्गणा हैं न स्पर्द्धक है। न रस है, न गन्ध है न वर्ण है न स्पर्श है। न इनमें कोई अन्य द्रव्य का सयोग है। न गुणों के भेद हैं। न भावों के भेद हैं। न इसमे चारित्र के भेद हैं। न ज्ञान के भेद हैं। न दर्शन के भेद हैं।

आत्मा स्वतंत्र पदार्थ है। जो कोई इस आत्मतत्व को अच्छी तरह समझता है वह सर्व चिन्ताओ को मेटकर एकांत में तिष्ठ कर अपनी श्रद्धापूर्वक आत्मा का मनन करता है। भेदविज्ञान से सब अनात्मीक भावों को दूर करता है और अपने शुद्ध स्वभाव में तन्मय होता है। वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता को प्राप्त करके आत्मानुभव को पाता है और परम सुख शाँति का लाभ करता है। सन्तोषित होकर मोक्षमार्ग को तय करता हुआ एक दिन स्वतन्त्र और मुक्त हो जाता है। आत्मानुभव ही भाव निर्जरा है, जो कर्मों को क्षय करती है।

---

२४३. ईर्यासमितिविचय-धर्मध्यान, निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है। मुनिगण तेरह प्रकार व्यवहार चारित्र में पाँच समिति को भी पालते हैं। अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिये ईर्यासमिति का साधन करते हैं। दिवस में प्रकाश होते हुए प्रासुक भूमि में चार हाथ जमीन आगे देखकर चलते हैं। जिससे जीवों को कोई बाधा न पहुंचे। हरएक जीव संसार में जीना चाहता है तब उनके प्राणों की रक्षा करना महाव्रती साधुओं का परम कर्तव्य है। अहिंसा मुख्य धर्म है। और धर्म इसी में गर्भित है। अहिंसा के लिए प्रमाद छोड़कर प्रयत्नशील होना जरूरी है। मन में हिंसात्मक विचार नहीं करना चाहिये। हिंसाकारी वचन नही बोलना चाहिये। कायसे हिंसारूप क्रिया नहीं करना चाहिये। जगत में ७ काय के प्राणी हैं पृथ्वीकायिक, जलकायिक अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक। त्रसकाय में दोइन्द्री, तिइन्द्री, चौइन्द्री, पंचेन्द्री प्राणी हैं। इन सब की रक्षा करना मोक्ष प्राप्ति का उपाय है। यह साधुओं का तो परमधर्म है। यह इसीलिये साधु विशेष करके मार्ग में चलते हुए ईर्यासमिति का पालन करते हैं। निश्चयनय से अपने आत्मा का आत्मा में कषाय रहित होकर बर्तन करना ईर्यासमिति है। आत्मा का स्वभाव निश्चय से परम शुद्ध है। ज्ञाता दृष्टा अमूर्तीक अविनाशी है। यह आत्मा अपनी सत्ता को सदा स्थिर रखता है। आत्मा के स्वभाव में कर्मों का सम्बन्ध और नो-कर्म का सम्बन्ध नहीं है। इसका स्वरूप ऐसा दृढ़ है कि इसमें कोई पर-वस्तु का प्रवेश नहीं हो सकता है। यह आत्मा परमानन्द और परम शांति का सागर है।

सम्यग्दृष्टी ज्ञानी जीव इसी शांतिसागर में डुबकी लगाते हैं और अपने कर्म-मैल को धोते हैं। आत्मा के सत्य स्वरूप का श्रद्धान

सम्यग्दर्शन है और इसी का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और उसी में लीन हो जाना सम्यक्चारित्र है। इन तीनों की एकता जहाँ होती है वहाँ आत्मानुभव प्रगट होता है। आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है। इसी पर चलकर तीर्थंकर आदि महापुरुष भवसागर के पार हो जाते हैं। सर्व-सिद्धांत का सार आत्मानुभव है। भेदविज्ञान के द्वारा विचार करने पर यह आत्मा सम्पूर्ण पर-पदार्थों से भिन्न अपने स्वरूप में निश्चल झलकता है। एकांत में तिष्ठ कर मन को निश्चल कर ज्ञान वैराग्य के साथ आत्मा को आत्मारूप ध्याना चाहिये। तब बारबार अभ्यास करने से आत्मानुभव प्रगट होगा। जैसे दूध के बिलोने से मक्खन निकल आता है। रागद्वेष मोह से कर्मबन्ध होता है तब वीतराग-भाव से कर्मों का क्षय होता है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति का उपाय एक आत्मानुभव है जो जिस तरह बने उसे करना चाहिये और सुखी होना चाहिये।

---

२४४. भाषासमितिविचय-धर्मध्यान निर्जरा भाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है। पांच समितियों में दूसरी भाषासमिति है। मुनिगण अपनी वाणी अमृत के समान परम मिष्ट, इष्ट उच्चारण करते हैं। जिससे श्रवण करनेवाले परम सुखी और तृप्त होते हैं। और धर्म रसायन को पाकर और उसको पीकर परम सन्तोषित होते हैं। उनकी वाणी से समभाव प्राप्त होता है। और अनादिकाल की अविद्या का नाश होता है। मिथ्यात्व-भाव दूर होता है मोक्षमार्ग का प्रकाश होता है। जिनवाणी का विस्तार से ज्ञान होता है और धर्मप्रभावना होती है। पशुपक्षी भी जिनवाणी को सुनकर शांत हो जाते हैं। अनेक मिथ्यात्वी जीव सम्य-

त्त्व को ग्रहण करते हैं उनको अमृतवाणी में कठोरता नहीं होती। भाषा को बहुत संभालकर बोलते हैं, जिससे किसी का मन पीड़ित नहीं होता। उनकी वाणी से आत्मतत्त्व का प्रकाश होता है। जिससे जीव अपने स्वरूप को पहचान कर आत्मलीन होते हैं। वाणी से जगत के जीवों का परम उपकार होता है। उनकी वाणी मे सार तत्वज्ञान भरा रहता है। भाषासमिति भाषा को समीचीन प्रवृत्ति को कहते हैं, जिस-से किसी प्रकार की दुविधा नही रहती, और उससे महान बोध होता है, साधु और श्रावक धर्म का प्रकाश होता है, वाणी चद्रमा के समान उज्वल होती है, अज्ञान मे सोते प्राणी जाग जाते है और अपने हित को पहिचान कर स्वहित के लिये उद्यमी होते है। अहिसा का भाव दिल में बैठाते है। जगत के प्राणी तृष्णा की दाह मे जलते हैं, उनकी दाह को मुनिगण-साधु शीतल वाणी से शमन करते है।

भाषा समिति सत्य महाव्रत की दृढ़ता करती है और परिणामों को सरल रखती है, परमकल्याणकारिणी है। इस समिति का पालन एकदेश श्रावको को भी करना चाहिये। इस समिति से वाणी की शोभा होती है। निश्चयनय से इस समिति का कोई कार्य नही है। आत्मा निश्चयनय से सव-प्रपच रहित ज्ञातादृष्टा अविनाशी परम शुद्ध है। इस आत्मा मे आठकर्म, शरीरादि नोकर्म व अन्य किसी द्रव्य का सम्बन्ध नही है। इसके आत्मप्रदेश परमशुद्ध हैं। निर्विकार परमवीतराग आत्मा का तत्व है। इसमे संकल्प विकल्प नही। इस आत्मतत्व को जो समझते हैं, वे ही आत्मज्ञानी हैं। उन्ही के अन्तरङ्ग मे आत्मानुभव प्रगट होता है जो साक्षात मोक्ष का मार्ग है। आत्मानु-भव से ही जीव का परमहित होता है। आत्मानुभव के बिना शास्त्रपाठ कार्यकारी नही है। आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्-चरित्र को प्रकाश करने वाला है। आत्मानुभव से वीतरागता प्रगट

होती है, जिससे कर्म की निर्जरा होती है। आत्मानुभव ही सार-तप है। यही सच्चा सुख प्रदान करता है। सर्व मंगल आत्मानुभव है। सर्व हो सम्यग्दृष्टी श्रावक और मुनि इसी के द्वारा अपनी आत्मउन्नति करते हैं। यही आत्मा का परम उपकारो है. सिद्ध भगवान भी उसी आत्मा अनुभव में परम आनन्द भोगते हैं। आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग स्वरूप है। इसी के प्रताप से जीव का परमहित होता है। और राग-द्वेष मोह का अभाव होता है। और सुख--शांति का लाभ होता है। आत्मानुभव ही सच्चा तीर्थ, गुरुदेव है। व्यवहारचारित्र का पालन आत्मनिमित्त किया जाता है। यहो स्वतन्त्रता का द्वार है।

---

२४५. एषणासमितिविचय-धर्मध्यान निर्जराभाव

ज्ञानी आत्मा कर्मों के नाश का उपाय विचारता है। पाँच समिति मे एषणा समिति तीसरी है। मुनिगण ४६ दोषरहित ३२ अन्तराय टालकर आहार करते है। दातार नवधाभक्ति से आहार दान करते हैं। मुनि को पड़गाहते हैं। पाद प्रक्षालन करते है। उच्चा-सन पर विराजमान करते है। नमस्कार करते हैं। पूजन करते हैं। मन वचन काय को शुद्ध रखते हैं। आहार की शुद्धि रखते हैं। इस तरह बहुत भक्तिपूर्वक देते हैं।

मुनिगण सरस नीरस का विचार न करके समभाव से आहार लेते हैं। अन्तरङ्ग शुद्धि का कारण बहिरङ्ग निमित्त है। इस कारण मुनिगण शुद्ध आहार लेकर शरीर को स्थिर रखते है। दातार भो द्रव्य-शुद्धियोग्य विधि से दान देकर महान पुण्यबंध करते हैं। यदि शुद्ध आहार नही मिलता तो आहार नहीं करते हैं। और मुनिगण वृत्तिपरिसंख्यान तप में आहार को जाते हुये कोई नियम धारण कर

लेते हैं, उसकी पूर्ति न होने पर आहार नहीं करते हैं। निश्चय से आत्मा को आत्मीक आनन्द का लाभ करना एषणा समिति है। आत्मा व्यवहार एषणासमिति के विकल्प से बाहर है। आत्मा का स्वभाव ही आत्मा का अविनाशी ज्ञायकभाव है। अपनी सत्ता स्वतंत्र रखने पर इस आत्मा का पर-पदार्थों से कोई सम्बन्ध नही है। न आठो कर्मों का न शरीरादि नोकर्मो का न रागादिभावकर्मों का सम्बन्ध है। पुद्गल धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश व काल इनसे निराला है। संसारी और सिद्ध का भेद आत्मा मे नही है।

यह आत्मा एकेन्द्रियादि १४ जीव समास, मिथ्यात्व आदि १४ गुणस्थान, गत्यादि १४ मार्गणा के विकल्प से परे है। यह आत्मा परम निर्मल है। इसके ज्ञान मे सब जाननेयोग्य पदार्थ साक्षात् झलकते हैं, तो भी कोई विकार नही होता है। आत्मा के तत्व को जो जानते है वे ही सम्यग्दृष्टी श्रावक तथा मुनि है। आत्मतत्व के ध्याने से आत्मानुभव प्रगट होता है।

भेदविज्ञान के द्वारा तत्व का गम्भीर विचार उत्पन्न होता है। जिसके मनन करने से आत्मानुभव प्रगट होता है। यह अनुभव ही सार वस्तु है। इसको पाकर सत पुरुष वीतरागभाव से आनन्द का लाभ करते है। ज्ञानियो का मूलमत्र आत्मानुभव है। इसके प्रभाव से कर्मों का आस्रव रुकता है और कर्मों की निर्जरा होती है। मोक्षमार्ग का यही खास तत्व है। आत्मा के रसिको का यही आत्मरस है। अनादिकाल की तृष्णा के मिटाने को यही शीतल जलधारा है। आत्मा-आनद के जो भूखे है उनके लिये यह परम अमृत भोजन है, ससार-राग के शमन के लिये अपूर्व औषधि है, वीतरागता रूपी पवन के लेने के लिये एक अपूर्व उपवन है, समता नारी से मिलाने के लिये परम मित्र बनकर रत्नों का भण्डार है, भव आताप के शमन के लिये अपूर्व चारित्र है।

आत्मानुभव आत्मा को पुष्ट करने के लिये दृढ़ रसायन है। परम मंगल स्वरूप है। आत्मा का अनुभव के करने वाले ही आत्मा का विकास करते हैं। यही एक कमल है जिसमे परमानन्द की सुगन्ध आती है। यही भावनिर्जरा है। इससे द्रव्यकर्मों की स्थिति घटती है और उनकी शीघ्र निर्जरा बनती है।

ऊपर के वर्णन की भाँति आदान-निक्षेपण-समिति-विचय और उत्सर्ग-समिति-विचय इन दोनो धर्म ध्यानो को समझ लेना चाहिए। आदान-निक्षेपण मे चीजों को यत्नाचारपूर्वक रखने उठाने का उत्सर्ग मे निर्जन्तु स्थान मे मलादिक के विसर्जन का विचार किया जाता है।

शुक्लध्यान के भी चार-भेद हैं। इसमे शुद्ध-आत्मतत्त्व का चिन्तन होता है। इसी ध्यान से मोक्ष प्राप्त होता है। और जीव पूर्ण स्वतंत्र हो जाता है। वह सदा के लिए शुद्ध हो जाता है। इस परम-शुद्धि को प्राप्त करने मे जीव स्वतंत्र है उसे अपने को स्वतंत्र मानकर सीढ़ियाँ चढ़नी चाहिए—इसी में कल्याण है। शुभमस्तु !